सर्वेश्वर का काव्य

डॉ॰ हरिचरण शर्मा

सर्वेश्वर का काव्य
संवेदना और संप्रेषण

डॉ० हरिचरण शर्मा
हिन्दी विभाग
राजस्थान विश्वविद्यालय
जयपुर

पंचशील प्रकाशन, जयपुर

तीन फरवरी के ठीक बाद वाले
दिन की फागुनी शाम के लिए

प्रतिश्रुति

अब तक तो यही मानता-समझता था कि कविता लिखी नहीं जाती; स्वय लिख-लिख जाती है, किन्तु यह भी लगता है कि वह कहीं भीतर रचती-बसती है, और बाहर से लकड़ियाँ इकट्ठी कर उन्हें भीतर की आग से दहकाती है। मतलब यह कि वह आत्मा का ऐसा प्रस्वेद है जो परिवेश और समाज में फैलती-बढ़ती आग की गर्मी से झलझलाता और बहता है। यों इस तरह लिखती चली जाने वाली कविताओं मे ऐसी भी होती हैं जो मन को बाँधती हुई; परिवेश के बिम्बों में सँवरती हुई पाठक को अपने से जोड़ती हुई समीक्षक बना देती हैं। उसके हाथ में कलम भी थमा देती है। इतना ही क्यों उस समय तो स्थिति बड़ी नाजुक हो जाती है जब पाठक कविताओं से यात्रित होते हुए एक ऐसे मुकाम पर जा पहुँचता है जहाँ न ठहर पाना संभव होता है और न दो चार कदम भी आगे जा पाना। ठहरना इसलिए असंभव लगता है कि ऐसी कविताएँ एक साथ पूरी ताकत से हमला करती हैं और एकदम आगे बढ़ना इसलिए नामुमकिन होता है कि उनमें आये अनुभूत को दरगुजर नहीं किया जा सकता है। मन उससे लिपटकर रह जाता है। 'न ययौ न तस्थौ' की यह स्थिति न केवल आकर्षक होती है, अपितु तनाव भी पैदा करती है और तनाव से ही कुछ लिखा जाता है, इसे कौन अस्वीकार करेगा? फिर कविता की जन्मस्थली भी यही है और उसकी परख का प्रस्थान-बिन्दु भी यही है। मैं तो यह भी मानता हूँ कि कविता की पहचान का यह निकष भी कम महत्वपूर्ण नहीं कि उसमें संकेतित को किस तरह कहा गया है और जो कहा गया है उसमें कितनी दूर की चीजें दिखलाई देती हैं। मतलब यह कि कविता कहीं शब्दों का संग्रह मात्र तो नहीं है? यदि ऐसा है तो वह कविता न होकर कवितानुमा कोई और चीज हो सकती है।

'सर्वेश्वर' की कविताएँ सच्चे अर्थ में कविताएँ हैं। उनमें बहुत दूर तक की चीजें दिखाई देती है और वे चीजें रखी भी इस ढंग से गई है कि लेखकीय संवेदना और पाठकीय सवेदना में एक सम्बन्ध कायम हो जाता है। पाठक को बराबर यही लगता है कि वह कोई कविता नहीं पढ़ रहा; अपितु किसी स्थिति; मनस्थिति और अनुभूति से गुजर रहा है। सच मानिये; यह पुस्तक मैंने नहीं लिखी; उन कविताओं ने लिखा ली है जिनमें 'सर्वेश्वर' के अनुभूत का संप्रेषण है। सर्वेश्वर की प्रतिश्रुति कविता के लिए है और कविता सकल्पित है पाठक के लिए वस्तुत नयी

कविता का अथ से अब तक का विकास-इतिहास 'सर्वेश्वर' से जुड़ा है। अतः उन्हें भुलाकर या कहूँ कि उन्हें झुठला कर न तो उसे समझा जा सकता है और न समझाया जा सकता है। जब ऐसा है तो इस कृति की उपयोगिता भी है ही और यह 'सर्वेश्वर' को समझने में—उनकी संवेदना के ग्रहण में; कवि और पाठक के बीच सेतु भी बनेगी, यह आशा करना ज्यादती नहीं होगी। हाँ; ज्यादती यह होगी कि कृति के प्रकाशक और साहित्यानुरागी श्री मूलचन्द जी को औपचारिक धन्यवाद दूँ। वे इतने निकट हैं कि धन्यवाद जैसे साढ़े चार अक्षर के मामूली शब्द में उनकी आत्मीयता को कैद नहीं किया जा सकता; उसे अनुभव किया जा सकता है।

बस ! अब और नहीं। आज चार फरवरी है और फरवरी की यह शाम मन में एक बिम्ब जगा रही है : डूबते सूरज का जो अपनी सारी किरणें समेट कर संध्या की गोद में सिर रखकर सब कुछ भूल जाना चाहता है। मैं देख रहा हूँ कि उसने अपनी बाँहें फैला दी हैं और पल भर के लिए जैसे सब जहाँ का तहाँ ठहर गया है। कोई गुनगुना रहा है : जीने की अवधि के पन्नों में/जितनी भी लिखावट है/उससे एक ही प्रतिश्रुति आती है/चलो अच्छा हुआ/यायावर सूरज को कोई तो पड़ाव मिला/मन की रजनीगंधा से महकते इन पलों मे/दुहराता हूँ/कोई रास्ता मुझे कहीं नहीं ले जाता/कोई सड़क कहीं नहीं मुड़ती/कोई अँगुली कोई और नम्बर 'डायल' नहीं करती/कोई इच्छा और कुछ पाने की नही होती/कोई और तपिश मुझे आहत नही करती/कोई और रास्ता, कोई और निर्झर, कोई और गुलमोहर/ अपनी छाँह तले नहीं बुलाता/क्योंकि संकल्पित हूँ तुम्हारे लिए/संध्या के लिए, कविता के लिए, जीवन के लिए/

4 फरवरी, 1980

हरिचरण

अनुक्रम

प्रथम अध्याय

सर्वेश्वर : नयी कविता के अपरिहार्य हस्ताक्षर

नयी कविता : समय का लेख

सर्वेश्वर : एक अपरिहार्य हस्ताक्षर

नयी कविता समय का साक्ष्य प्रस्तुत करती है। वह न तो परिवर्तन को टालती है; न किसी नये को उपेक्षा के गर्त में धकेलकर आगे बढ़ी है। उसकी आँख उस सब पर टिकी है जो हो रहा है, उस समय पर केन्द्रित है जो सामने है और उस संकट को देख रही है जिसे झेलते हुए हम यहाँ तक आये हैं। यही वजह है कि उसमें वर्तमान की लिखावट है; वे शब्द हैं जो जिनका अर्थ हमसे, हमारे परिवेश से जुड़ा है; वह जिन्दगी है जो हम सबकी है और वह संकट है जो हमारी धमनियों में खून के साथ बह रहा है। ऐसी नयी कविता को दिशा देने; युग-जीवन की गवाह बनाने, जर्जर रूढ़ियों से मुक्त कर संतुलित संवेदना और शिल्प में ढालने, सौंदर्य-बोध के नये प्रतिमानों से जोड़ने, जन-जीवन का सांस्कृतिक इतिहास और भूगोल प्रस्तुत करने, समसामयिक जीवन-मूल्यों की खोज करने और एक वाक्य में परिवेश और जीवन के प्रति सचेतन दृष्टि रखने वाले कवियों में 'सर्वेश्वर' की जगह काफी ऊँची है। इस बात में तो वे अज्ञेय से भी आगे हैं कि उन्होंने आम आदमी की जिन्दगी को; हमारे परिवेश के संकट को आत्मीय; सहज और विश्वसनीय शिल्प में ढालकर कहा है। उनका कहा हुआ हमारी चेतना मे समा जाता है और पाठक को लगता है कि इस सबमें उसकी बहुत बड़ी साझेदारी है।

सर्वेश्वर : नयी कविता के अपरिहार्य हस्ताक्षर

कविता एक ऐसा आईना है जिसमें न केवल इन्सानी शक्लें उभरती है, अपितु उसके आस-पास के बिम्ब भी प्रतिबिम्बित हो उठते है। हाँ; यह आईने के आकार पर निर्भर करता है कि वह कितनी छवियों, स्थितियों और मुद्राओं को एक साथ दिखा सकता है। आज जो कविता जिन्दगी के जितने अधिक हिस्से को अपने दर्पण में दिखा सकती है और जितनी परिवेश-संयुक्त हो सकती है, वह उतनी ही बडी कविता मानी जा सकती है। इसकी और जो भी वजह रही हो, यह साफ है कि कविता ने सैकडों वर्षों की दूरी तै करके जिस मुकाम को पाया है वह ऐसा हे जहा पूर्वापेक्षा अधिक समय तक ठहरा जा सकता है। और यह सौ फीसदी सही हे कि हम अधिक देर तक वही टिक पाते हैं जहाँ जीवन की विविधता हो, उसके पक्के रग हों और हो यह विश्वास कि यह मुकाम उधार माँगा हुआ नहीं है ; आरोपित नही है और वास्तविकताओं ने किनारा करने की सीख देने वाला नहीं है। आज कविता जिस मुकाम पर है वह अन्तिम नहीं है। कौन जाने यहाँ से कोई और पगडंडी किसी और दिशा में जा निकले ? किन्तु इतना साफ़ है कि आज कविता मे जिन्दगी की दैनन्दिनी कुछ इस ढंग से लिखी जा रही है कि हमें लगने लगा है कि इस लिखावट की कोई दूसरी शैली हो ही नहीं सकती थी जो हमारे इतने करीब होती ; जिसमें हमारी हर साँस की गंध और हर धड़कन का स्वर होता। ऐसा भी नहीं है कि कविता पहली बार आईना बनी हो। वह तो पहले भी थी, पर तबके और अबके आईने में फ़र्क है। यह तो समय-समय पर धुँधला-उजला, असली-नकली और छोटा-बड़ा होता रहा है। स्वातन्त्र्योत्तर वर्षों में इस आईने का आकार जल्दी-जल्दी बदला है। बदलते परिवेश में बनते-बिगड़ते, टूटते-जुड़ते और मिट-मिटकर फिर-फिर बनते सम्बन्धों, उनके वाहक मनुष्यों व आस-पड़ौस की जीवन-स्थितियों के प्रश्निल-स्वप्निल, प्रेमिल-वैचारिक, परिचित-अपरिचित और त्रासद-सुखद बिम्ब भी जिस सफ़ाई से कविता के आईने में होते रहे हैं वे

नुष्य की जिन्दगी का अहम हिस्सा है। आज कविता का मिजाज इसलिए इला हुआ है कि इन्सान का मिजाज भी वह नहीं रहा जो पहले था और वह सलिए नहीं रहा कि उसका परिवेश ऐसा हो गया है जिसमें आदमी सब कुछ हो था ; पर आदमी नहीं रहा है। स्वातंत्र्योत्तर वर्षों के दबाव-तनाव के कारण नुष्य न केवल जरूरतों का ढेर बनकर रह गया ; अपितु अपनी पहचान भी खो ठा है। फलतः अजनबी और आत्मनिर्वासित भी हो गया है।

इसी टूटे-लुटे, संतप्त-संत्रस्त, परम्परा से जुड़ते-अलग होते, छटपटाते-चीख-ाते, बतियाते-गरियाते, अजनबी और आत्मनिर्वासित पर लीक से हटकर अपनी ाह खुद बनाते आदमी की जिन्दगी का वृत्त-चित्र नयी कविता है। नयी कविता की मीन का रंग श्याम भी है और श्वेत भी है, उसमें सपाटता भी है और खुरदरापन ी है। कविता भले ही छोटी रही हो, पर उसकी परिधि इतनी विस्तृत रही है कि समें मनुष्य का मर्म और कर्म ईमानदारी से सिमट गया है। वस्तुतः नयी कविता वीन संदर्भों में आधुनिक भावबोध, नयी विचारणा और सौन्दर्य-संवेदना को मान-ीय परिवेश की विविधता के साथ नये शिल्प में प्रस्तुत करने वाली काव्यधारा है। सने प्रत्येक जीवन-क्षण, लघुमानव और समकालीन परिवेश-प्रेरित अनुभूतियों को ुक्तछंद की पीठ पर नयी टेकनीक में पाठकों तक सप्रेषित कर आस्वाद्य बनाया है। समें तुच्छ से तुच्छ, महान् से महान्, बाह्य और आंतरिक, चेतन और अचेतन ादि सभी क्षेत्रों से प्राप्त अनुभूतियों को यथार्थवाहिनी भाषा और शैली के खोल मे पेट कर अभिव्यक्ति के द्वार पर ला खड़ा किया है। उपेक्षित उसके यहाँ कुछ भी ही रहा; पर स्वीकृत भी सब नहीं हुआ। यों निषेध उसमें है, पर उसी का जो अपनी निवार्यता खो बैठा है ; स्वीकार भी उसमें है ; पर उसका जो तर्कसिद्ध और प्रमाण-ुष्ट हो। मूल्यानुसंधान उसमें जरूर है, पर अतीत के प्रति छायावाद का सा सम्मोहन ही। वह वर्तमान से संयुक्त कविता है। इसीलिए वह सर्जनात्मक स्तर पर संघर्ष ी कर लेती है। नयी कविता ने समकालीन दबावों और तनावों के बीच भी सही ीजों को पहचान कर अभिव्यक्त करने का साहस दिखलाया है।

नयी कविता : समय का लेख

नयी कविता के आईने में यदि सबसे अधिक साफ़ तस्वीर कोई उभरी हे ो वह हमारे अपने समय की है ; उस समय की है जो आजादी के बाद से हमारी आँखों के सामने रहा है। इसमें वह मानचित्र है जो 'अनकेलकुलेटेड' और 'अननोन' स्थितियों से खिंची आड़ी-तिरछी रेखाओं से बना है। यों आजादी कायम है, पर से एक दूसरे स्तर पर, चाहें तो उसे भीतरी कह लीजिए, हम पराधीन होते गये ं। अपनी शक्ल भूल गये हैं या स्थितियों के दबाव में आकर हम उसे भूलने के लिए विवश हो गये हैं नतीजा यह रहा है कि हम जीवित होकर भी लाश

हो कर भी पराधीन; परिचित होकर भी अपरिचित और अजनबी होकर जीते रहे है। हम सभ्य भी, असभ्य भी, मानव भी अमानव भी, शोषक भी शोषित भी और तमाम अन्तर्विरोधों के बावजूद आदमी कहलाते है या कम से कम वैसा दिखाने का प्रयत्न करते हैं। शिरायें तनती हैं, दबाव बढ़ता है और बढ़कर व्यक्तित्व का कचूमर निकाल देता है, पर हम उसे ढोते रहते हैं और सीतें रहते हैं उस उधड़े हुए को इस उम्मीद मे कि शायद कहीं कोई ऐसा किनारा मिल जाये जो हमें बदलते परिवेश मे उस मूल्य को पहचनवादे जिसकी जरूरत है। कैसी लाचारी है कि हम न तो पूरी तरह टूट पाते है, न जुड़ पाते हैं फिर भी हम हम बने रहते हैं। पर हम मे ऐसा कुछ भी नहीं जो पूरा हो। अधूरी जिन्दगी का यह अधूरा वृत्त कितनी ही विसंगतियो की बैसाखियों के सहारे बना हुआ है या बनकर चल रहा है। इस तरह कोई कब तक चल सकता है? नहीं चल सकता, इसीलिए टूट जाता है, बिखर जाता है और यदि चलने की कोशिश करता है तो उसे मजबूरन कितनी ही तंग और चक्करदार गलियों से गुजरना पड़ता है। विवशता, बैचेनी, ऊब और अकुलाहट, अजनबियत और अकेलापन, चाहे अनचाहे संदर्भों में जीना, दूसरों द्वारा जिया जाना यह सब कुछ कैसे होता है, क्यों होता है? हर आदमी दूसरे का दहेज क्यों बन जाता है चाहने पर भी वह व्यक्ति क्यों नहीं बना रह पाता, भीड़ क्यों हो जाता है आदि कितने ही सवालों से घिरी जिन्दगी और जिन्दगी को घेरते हुए सवालों के बीच भी अपने को बनाये रखने, पहचनवाने का मोह क्यों नही छूटता है? यह समझ मे आने वाली बात नहीं है। तभी तो इसे नयी कविता ने समझाया है और इस तरह नयी कविता समय का लेख है; अपनी सदी का साक्ष्य है और गवाह है उस परिवेश की जिसने उसे जन्म दिया है।

कलाकार आदमी होने के साथ-साथ संवेदनशील भी होता है। अत: वह साधारण आदमी की अपेक्षा इन विसंगतियों और त्रासद स्थितियों को खुलासा करने मे अधिक सफल होता है। आज का यह मानव अपने समस्त अन्तर्विरोधों, संकल्प-विकल्पों व निश्चय-अनिश्चयों के साथ नये कवियों द्वारा पहचान लिया गया है और यह पहचान पहले से कहीं अधिक साफ है। नतीजा यह कि कविता में एक जोरदार कशिश, एक छटपटाहट, असफलता, नैराश्य, स्वप्नभंग और परिवेश की सारी तल्खी तीव्रता के साथ बेलाग कलम से कागज पर उतरी है। यह दुहराने की जरूरत नही समझता कि यह शुरूआत नयी कविता ने की। उसने ही आदमी के सामने एक ऐसा दर्पण रख दिया जिसमें वह अपना असली चेहरा ही नहीं, अन्दरूनी तसवीर की हल्की-गहरी, अच्छी-बुरी और सगत-विसंगत सभी रेखाएँ पूरी रोयें-रेशों के साथ देख सका। उसके तलघर में छिपे कितने ही बिम्ब ऊपर तैर गये। विज्ञान ने बहुत कुछ किया, बहुत कुछ कर रहा है, पर वह भी मन की 'एक्सरे मशीन' ईजाद न कर सका किन्तु कविता ने यह कर दिखाया के खतरे उठाकर लिखी नयी

यह कविता इसी परिवेश की कविता है। इसमें कवियों ने दुनियाँ से रूबरू साक्षात्कार किया है। उन्होंने कितने ही तरीकों से दैनिक-जीवन को देखा-भाला है। पिछले वर्षों में जो ढोंग, स्वार्थलिप्सा, अहमियत, प्रपंच, पाखण्ड और झूठे आश्वासनों का दौर चला है, वह यहाँ मौजूद है। नये कवियों ने बिना किसी हीनता का अनुभव किये पूरी साहसिकता और निर्ममता के साथ जिन्दगी की इस तसवीर को कविताओं के चौखटे में जड़ दिया है। 'क्योंकि मैं उसे जानता हूँ,' (अज्ञेय) 'शिलापंख चमकीले' (गिरिजाकुमार माथुर) संक्रान्त, देहान्त से हटकर (कैलाश वाजपेयी), बाँस का पुल, कुआनोनदी, जगल का दर्द (सर्वेश्वरदयाल) माया दर्पण (श्रीकांत वर्मा) 'चाँद का मुँह टेढ़ा है (मुक्तिबोध) बुनी हुई रस्सी, त्रिकाल संध्या और 'चकित है दुख' (भवानीप्रसाद मिश्र) आत्महत्या के विरुद्ध (रघुवीर सहाय) और विजयदेवनारायण आदि की रचनाएँ इसी बिन्दु पर लिखी गई हैं। ये वे कविताएँ हैं जिनमें समय परिवेश और बाहरी-भीतरी दबावों से प्रेरित-प्रभावित हुए संदर्भ शब्दों का संसार रचते रहे हैं। ये कविताएँ समय का सही और पक्का लेख बनकर जिस रूप में आई है उससे लगता है कि यह कविता समय के शिलापट्ट पर लिखी गई वह कविता है जो वर्तमान परिवेश में जूझते, लडते-झगड़ते और बौखलाते पर किसी सही मूल्यानुसंधान में रत आदमी और उसकी जिन्दगी का साक्षात्कृत इतिहास और भुगोल प्रस्तुत करती है।

मैं यह कहना नहीं चाहता कि नयी कविता ही मानवीय उपस्थिति की कविता है। उससे पहले भी कविता आदमी के आस-पास थी ; किन्तु छायावादी कवि को उस आदमी की तलाश थी जो आदमी तो हो; पर अद्वितीय भी हो। छायावादियों का मानव वह मानव था जो 'वसुधैव कुटुम्बकम्' का हामी था ; अविस्मरणीय आदर्शों का पुंज था, अद्वितीय था और था दिव्य, किन्तु उसके जीवन मे कोई समस्याएँ शायद नहीं थीं और थीं भी तो वे इतनी 'प्राइवेट' थीं कि उनमे किसी को 'शेयर' करने के लिए गुंजाइश ही नहीं थी। वह रोता था तो भी अकेला होता था और हँसता था तो भी अपने एकांत कक्ष में बैठकर। उसे अपने विघटित व्यक्तित्व का अहसास तो था पर उस पर वह अफसोस जाहिर करके रह जाता था : "शैल निर्झर न बना हतभाग्य ; गल नहीं सका जो कि हिमखण्ड" में यही अफसोस है। नयी कविता में ऐसा नहीं है। इसमें आया मानव न तो विशिष्ट है, न अद्वितीय और न आदर्शों का प्रतीक, वह तो हूबहू वह है जो आज हमें दिखलाई देता है। उसका एकदम निजी कुछ नहीं है। जो है सब खुला-खुला और वास्तविक है। इतना ही नहीं उसे अपनी स्थिति का सही अन्दाज है ; अफसोस उसे नहीं है। उसके मन में घिरते सवाल वर्तमान परिवेश की देन है। अतः वह निर्भीक और निस्संकोच भाव से बिना किसी लाग लपेट के अपनी बात कह देता है। वह लड़ता भी है; लड़ाता भी है, पिटता भी है, पीटता भी है और व्यवस्था की खामियों के खिलाफ झंडा भी उठाता है और खुद भी खड़ा होता है। उसकी जिजीविषा इन्हीं संघर्षों की भूमिका पर निर्मित हुई

है। ऐसी स्थिति में यदि वह यह कहे कि "रात पर मैं जी रहा हूँ निडर / जैसे कमल, जैसे पंथ, जैसे सूर्य / क्योंकि कल भी हम खिलेंगे"/[1] तो उसकी ईमानदारी पर शक नहीं किया जा सकता है। विराटता और अद्वितीयता के बिना भी यह मनुष्य शक्तिहीन नहीं है। यह वह आदमी है जो दर्द और पराजय के आगे झुकता नहीं है; प्रत्युत उससे आगे जाने की सोचता है: "पर न हिम्मत हार/प्रज्ज्वलित है प्राण में अब भी व्यथा का दीप/ढाल उसमें शक्ति अपनी लौ उठा"/[2] कहने का तात्पर्य यह है कि नयी कविता में जो आदमी है, वह हमसे अलग नहीं है, हम जैसा ही है। उसमें अहंकार भी है; स्वाभिमान भी है; उसके अपने दर्द-स्तर हैं और अपनी समस्याएँ है, पर निश्चय ही वे आरोपित और कृत्रिम नही हैं। ऐसी स्थिति में नयी कविता एक आदमी की दूसरे से की गई बातचीत है। आज आदमी जो है; उसकी स्थिति जैसी है; वह सब नयी कविता में लिपिबद्ध हुआ है।

नयी कविता में आया आदमी किसी के प्रति समर्पित नहीं है; अपनी स्थिति के प्रति सतर्क जरूर है। वह किसी बात को यों ही स्वीकार नहीं कर लेता है। उसका स्वीकार बोध तर्क-सिद्ध है; उसका स्वाभिमान उसके भीतर की खोज का प्रयत्न है और उसका समाजीकरण उसकी सामाजिक स्थिति का गवाह है। इसमे कोई संदेह नहीं कि अपने अस्तित्व का उद्घोषक यह मनुष्य अहं को स्वीकारता है; किन्तु यह भी अविस्मरणीय है कि यह अहं कोरा अभिमान नहीं; मात्र उच्छृंखलता नहीं है। यह तो अपने और अपने परिवेश के प्रति सतर्कता है। 'हरबर्ट रीड़' ने कहा है कि 'अहं यथार्थ का प्रतिपादक होता है। जब यही अहं संशोधित होकर सामने आता है तो व्यक्तित्व के विकास में सहायक होता है।[3] नयी कविता में मानव के जिस अहं को शब्द मिले हैं वह समाज के प्रति विसर्जित होता गया है। व्यक्ति सत्ता को प्रतिष्ठित करने का प्रयास वैयक्तिक और सामाजिक दोनों स्तरों पर हुआ है। अज्ञेय की 'नदी के द्वीप' कविता में व्यक्तित्व की प्रतिष्ठा है, पर यह व्यक्तित्व ऐसा नहीं जिसे छोड़कर नदी आगे बढ़ गई हो। व्यक्तित्व के विघटन, व्यक्ति-स्वातन्त्र्य की ललक और परिवर्तित परिवेश में नये मूल्यों की तलाश ने आदमी के भीतर जो कशमकश पैदा की है उसे नयी कविता की सैंकड़ों कविताओं में देखा जा सकता है। अहं का समाजीकरण और हर रोज के संघर्षों का अभिव्यंजन न केवल इस कविता को यथार्थ से जोड़ता है, अपितु वर्तमान के पृष्ठ को खोलकर रख देता है। समाजीकरण की यही वह प्रक्रिया है जिसके सहारे मनुष्य भीतर से बाहर और बाहर से

1. धर्मवीर भारती : सात गीत वर्ष पृ० 78
1. भारतभूषण अग्रवाल : ओ प्रस्तुत मन पृ० 53
3 हरबर्ट रीड़ · सलेक्टेड ऐसेज आन लिटरेरी क्रिटिसिज्म पृ० 136

भीतर की ओर यात्रित हुआ है। नयी कविता में जो सामाजिक संदर्भ हैं वे त्रिमुखी होकर आये हैं 1. समाज की खोखली स्थितियों के निरूपण में 2. सामाजिक दायित्व के रूप में 3. समाज-कल्याण के प्रेरक तत्वों के रूप में।

भारतीय समाज ने युद्ध देखे हैं; उनमें हिस्सा भी लिया है। फलत: वह बाहर से स्वस्थ प्रतीत होता हुआ भी भीतर से रुग्ण होता गया है। सामाजिक और आर्थिक सम्बन्धों में हुए परिवर्तन से और नैतिक मान-मूल्यों में हुए फेर-बदल से समाज में रिक्ति बढ़ी है, विसंगतियाँ जन्मी हैं; आदमी की स्थिति खोखली हुई है, विवशताएँ बढ़ी हैं; जीवन-यापन के साधनों को जुटाने में प्रपंच, स्वार्थ और भ्रष्टता दुगनी हुई है और इस तरह जिन्दगी अपेक्षाकृत अधिक जटिल हुई है। इन सभी स्थितियों पर नये कवि की निगाह रही है और कविता अपने समय का लेख और भावी के लिये शिलालेख भी बनती गई है। सभ्यता और संस्कृति के बिखराव ने भी इस सकेतित रिक्तता की सूची में कुछ पहलू जोड़े हैं। यथार्थ का पक्षधर और अपने समय का गवाह कवि इस सबको अपनी आँखों के गोलक में भरता हुआ सृजनरत रहा है। हाँ; इस विद्रूपता की तस्वीर कहीं व्यंग्यों से रंजित; कहीं वैचारिकता से पोषित और कहीं भावना से अनुमोदित होकर नयी कविता में आई है। अज्ञेय और सर्वेश्वर में यह व्यंग्य से, भारती और गिरिजाकुमार में भावना से और मुक्तिबोध व कुँवरनारायण में वैचारिकता से जुड़कर अभिव्यक्त हुई है। 'सर्वेश्वर' की 'पोस्टर और आदमी', 'एक प्यासी आत्मा का गीत', 'बीसवीं सदी के कवि' और सौन्दर्य बोध' आदि कविताओं में सामाजिक खोखलेपन को देखा जा सकता है। मुक्तिबोध की 'अँधेरे में' कविता भी अनेक सामाजिक स्थितियों के गहरे बिम्ब प्रस्तुत करती हुई जिन्दगी के बृहत् से बृहत् और छोटे-से-छोटे आयामों को प्रकट करती है। इसमे यथार्थ के रंग चटख और तेज है। मानव-जीवन और समाज में व्याप्त इन विविध यथार्थ रूपों का चित्र नयी कविता के सामाजिक पक्ष को ही पुष्ट करता है। सामाजिक जीवन की विकृतियों मजबूरियों और असमर्थताओं के स्पष्ट और खुले चित्र नयी कविता में आये हैं। मध्यवर्गीय जिन्दगी का प्रामाणिक दस्तावेज बनी यह कविता सही अर्थों में अपने समय का सार्थक लेख है। मध्यवर्ग और उसमें भी निम्न-मध्यवर्ग—क्लर्क या कम वेतन पाने वाले व्यक्ति पर ही नये कवियों की दृष्टि अधिक गई है। ठीक ही है यह तो वह वर्ग है जो सर्वाधिक त्रस्त और संतप्त है। सुबह से शाम तक कारखानों, दफ्तरों और विद्यालयों में काम करने वाला व्यक्ति जब शाम को घर लौटता है तो 'विदेह' होता है। भारतभूषण की 'विदेह', अनंतकुमार पाषाण की 'बम्बई का क्लर्क', देवराज की 'क्लर्क', जगदीश गुप्त की 'पहेली', लक्ष्मीकांत वर्मा की 'मृतात्मा की वसीयत', अज्ञेय की 'महानगर रात' और सर्वेश्वर की 'कैसी विचित्र है यह जिन्दगी' आदि कविताओं में इसी जिन्दगी के मुँह बोलते चित्र है। केवल एक उदाहरण देखिए

भर दो
इस त्वचा की, मृतात्मा की सूखी ठठर में
यह घास-पात, कूड़ा-कबाड़ सब कुछ भर दो
लगादो इन नकली कौड़ियों की आँखें
कानों में सीपियाँ
पैरों में खपचियाँ
मेरी इस हृदयहीन, धमनीहीन स्नायुहीन काया में
सभी कुछ भरदो
ताकि मैं इस स्निग्ध, पयमती माता के निकट
अपनी चेतनाहीन पूँछ को एक स्थिति में उठा
उसके वात्सल्य को, हृदय को, आकर्षण को, चेतना को
सबको उभार दूँ
और तुम इस मुर्दे के उपजाये स्नेह को निचोड़ कर
जीवित रहो
जिन्दा रहो ।[1]

व्यंग्य की भूमिका पर लिखी गई यह कविता सभ्य बनाम स्वार्थी समाज की नीयत का पर्दाफाश करती है । इसमें स्वार्थ-पूर्ति के लिये किये गये शोषण और अमानवीय पक्ष का उद्घाटन हुआ है । निश्चय ही यह आरोपित स्थिति नहीं है । इसमें हमारे समय की मनोवृत्ति पर करारी चोट की गई है । असल में नयी कविता मे घर, परिवार, शहर, नगर, गलियाँ, चौराहे, रेस्तरां, विश्रामालय, फुटपाथ, प्लेट-फार्म और क्लब आदि की सच्ची और यथार्थ तसवीर मिलती है। सही मायने मे यह हमारे परिवेश का चित्र ही नहीं 'एक्सरे' भी हैं । इसी प्रकार सर्वेश्वर जब लिखते है कि 'मेले में दुकान की/माचिस बीड़ी पान की/कुछ तो खा गये हाकिम हुक्काम/कुछ खागये सिपाही, बाकी बचा टैक्स भर पाई ऐसी हुई तबाही"[2] तो वर्तमान परिवेश की विगलित–पतित और व्यवस्था की शिथिल और अस्त-व्यस्त अव्यवस्था का बिम्ब हमें भीतर तक छू जाता है और लगता है कि सीधी-सपाट और अकाव्यात्मक शैली में भी कवि कितनी ईमानदार बात कह गया है ।

'सर्वेश्वर' के साथ ही 'गिरिजाकुमार माथुर' की कविता भी अपने समय का साक्ष्य प्रस्तुत करती है; पर कभी-कभी । यों 'गिरिजाकुमार' रंग, रहस्य और रोमान

---

1. लक्ष्मीकांत वर्मा : नयी कविता अंक 3 पृ० 91
2. सर्वेश्वर : तीसरा सप्तक पृ० 369

इन दोनों रूपों
ने भोग को अपना
पाण्डे, शांता सिन्हा
सुनते हैं कि "
तुम/रात के '
मुझ पर"/1
लिखते हैं कि—

तो वह
है। यही स्थिति
के कायल भार
मे बारंबार
किया' कहकर
साफ है "और
मतलब यह है
की पूर्णता के
प्रेम का आलंब
आते-आते नारी
नारी न तो पू
सजी-धजी बैठी
है। अतः वह
के प्रति आस
आजाद तो वह
वह अपने मन
कैद होने को र

की बात भुला भी दी जाय तो 1975 में प्रकाशित' भीतरी
ए' मन से मन तक की पहुँच की कविताएँ हैं। इनमें
और जिस जमीन पर ये लिखी गई हैं वह ममता, मोह,
ा, आसक्ति, जीवन के भरपूर आस्वाद और जीने की
में अंतरंग अनुभूतियों की अन्तर्यात्रा के आकर्षक पड़ाव
'हाँ भी है। अंधकार बरस रहा है, एक विक्षिप्त सदी
की अनुभूति व्यापक भूमिका पर समूचे परिवेश को अपनी
ारा फेंकती दिखलाई देती है। नयी वैज्ञानिक और
नक्षि पर ऐंठती है, वही दुनियाँ कवि के सामने है, पर
एक अधनंगा आदमी' कविता में है। उनके सद्यप्रकाशित
ंमान' की यह पहली और सशक्त कविता है। यों तो
ाँ समकालीन यथार्थ की परतें खोलती हैं; आंतरिक
को दिखाती हैं और समय के तेज बहाव में पड़े ऊभ-
को प्रस्तुत करती हुई संघर्ष के तेवर दिखलाती है, पर
यह सब बड़ी तीखी और चुटीली शैली में व्यक्त हुआ
उभारने वाली एक सशक्त, तेज और साहसिक कविता
केन्द्र में रखकर परिवेश की विसंगतियों, पाखंडी स्थितियों
उजागर किया है। डॉ० विश्वम्भर उपाध्याय ने इस
: "एक अधनंगा आदमी में आज की स्थिति का ठेठ
के हाथों द्वारा बनाया गया है। उसमें प्रारम्भ से अंत
। प्रत्येक शब्द और वाक्य का सचेत और चुना हुआ
की संवेदना पर चोट नहीं करता, वह उसे सिर्फ हिला-
देता है। काव्यात्मक संरचना के कारण 'अधनंगा आदमी'
इसमें कवि की अनुभूतियाँ उसकी निजी न होकर,
तरह कविता सबकी हो गई है— अपने समय की गवाह
वक्त एक अधनंगा आदमी घिसटता हुआ सड़कों की
अब नहीं है………मेरे भीतर तमाम सारा/मलबा
का/सड़े, अधमरे, जिंदा, मुर्दा जहान का/……भोंदुओं
ियों में कहती है/यह आदमी है खतरनाक, यह आदमी
ाने में— हर किसी खुशामद में-कैश और काइंड में/
……आदमी और खच्चर हैं/एक ही चेहरे पर दाने में—

1. शांतासिन्हा
2. कमप्रिया पृ   समकालीन कविता की भूमिका पृ० 59

धुन में/बूरे में गली हड्डी में/पिसा हुआ काँच करोगे अलग ? है कोई बारीक छलनी तुम्हारे पास/वह जिस्म जो होंगे कपड़छन के लिए तैयार/"[1] कहना गैर जरूरी है कि गिरिजाकुमार ने इस कविता में अपने समय का गवाह बनकर सारी स्थिति को खुल्लमखुल्ला कर दिया है। यहाँ व्यक्ति के माध्यम से व्यवस्था और उसमें भ्रष्ट गलीज़ता का हिम्मतवर शैली में पर्दाफाश किया गया है। उदाहरण और भी हे, कवि और भी हैं जो अपने समय और परिवेश के सही लेख प्रस्तुत करते हैं, किन्तु इतने विवेचन से यह प्रमाणित हो जाता है कि नयी कविता अपने वक्त की सही गवाः है, एक ऐसा साक्ष्य है जिसके तहत जिन्दगी की रग-रग पहचानी जा सकती है।

जब हम यह मानते हैं कि नयी कविता समय का साक्ष्य प्रस्तुत करती है तो यह भी सहज ही मान लेना पड़ता है कि इसमें निरूपित प्रेम, सौन्दर्य, ईश्वर, धर्म और मानवीय संकल्प-विकल्प भी ठीक उस रूप में नहीं आये हैं जैसे कि इससे पहले की कविता में थे। उनका रूप-स्वरूप भी बदले हुए समय की गवाही देता है। प्रेम जीवन की नैसर्गिक आवश्यकता है। प्रत्येक काल में उसे किसी न किसी रूप में मान्यता मिली है। यहाँ प्रेम न तो निरा काम का पर्याय है और न कामरहित ही है। नये कवियों ने परम्परा और प्रगति की भूमिका पर खड़े होकर उसे तन से न तो अलग माना है और न मात्र मन का व्यापार माना है। यहाँ प्रेम का जो रूप है वह 'सैक्स' विषयक नये नैतिक मूल्यों के संदर्भ से व्यक्त हुआ है। यही कारण है कि इस कविता में प्रेम की मुक्त व्यंजना हुई है। उल्लेखनीय बात यह है कि नया कवि नर-नारी के वार्तालाप, एकांत कक्ष की हरकतों और अन्तरंग सम्बन्धों को सहज भाव से व्यंजित करता है। अभिव्यक्ति का यह खुलापन ही प्रेम और नारी के सम्बन्धों का नया धरातल है। प्रेम का प्रमुख तत्व आकर्षण है। आकर्षण से प्रारम्भ होने वाला प्रेम समर्पण की वेदी पर जाकर पवित्रता का वरण करता है। धारा का प्यासा तट अपने स्थान पर अडिग रहता है, किन्तु धारा चलकर उसे पा ही लेती है। इस तरह समर्पण ही सिद्धि है। जिस प्रेम में समर्पण नहीं वह जीवन को गति-मय नहीं बना सकता है और तब प्रणय गीत प्रणयी के हृदय में सूनापन भर देते है। प्रेम के क्षेत्र में अहं नहीं चल सकता है। कहना यह है कि प्रेम का यह रूप जो आकर्षण, समर्पण और अहं के विसर्जन के बाद उदात्तीकृत हो जाता है; नया नहीं है। नये कवि यदि यही मानते हैं तो इस क्षेत्र में उनकी कोई देन स्वीकार नहीं की जा सकती है। यह सब तो छायावाद में भी था। पर बात इससे आगे की है। नयी कविता में प्रेम का जो रूप है वह पारम्परिक भी है और नवीन भी है और यह वह स्थिति है जो सन् 1950 और 1965 के वर्षों तक चलती रही है। अतः

---

1 गिरिजाकुमार माथुर साक्षी रहे वर्तमान पृ० 14

इन दोनों रूपों में प्रस्तुत प्रेम भी समय का गवाह ही हुआ। हाँ; इन वर्षों में प्रेम ने भोग को अपनाया और यह मांसल प्रेम भारती, माथुर, अज्ञेय, देवराज, विनोदचन्द पाण्डे, शांता सिन्हा आदि अनेक कवियों में मिलता है। जब हम शांता सिन्हा से सुनते है कि "बढ रही है परिधि स्तनों की/हसरतें अब जवान हैं/आज मुख्य मेहमान तुम/रात के 'फ्लोर शो' में/एक बार बस एक बार/अपने तन की छाप छोड़ जाओ मुझ पर"/[1] तो स्थिति साफ हो जाती है। इसी तरह धर्मवीर भारती जब लिखते हैं कि—

> "मैंने तुम्हें कसकर जकड़ लिया है
> और जकड़ती जा रही हूँ
> और निकट और निकट
> और तुम्हारे कंधों पर, बाँहों पर होंठों पर
> नागवधू की शुभ्रदत-पक्तियों के नीले-नीले
> चिह्न उभर आये हैं"[2]

तो बदलते परिवेश में विकसित खुली 'सैक्स अपील' का संदर्भ साफ हो जाता है। यही स्थिति उनकी 'सात गीत वर्ष' सग्रह की कविताओं में भी है। 'तन के रिश्ते' के कायल भारती 'चैत के एक दिन' में अपनी प्रिया की रूखी मुक्त वेणी को अँगुली मे बारंबार प्यार से लिपटाते हुए अनबाँधी ही छोड़ देते हैं और "मैंने कुछ नही किया' कहकर बहुत कुछ कर देने का संकेत भी दे देते है। यों उनका स्वीकार भी साफ है "बौर लदी नाजुक टहनी सी देह की हलकी गरमाई को केवल अनुभव किया"। मतलब यह है कि नये कवियों ने प्रेम में शरीर को वर्ज्य नहीं माना है; अपितु प्रेम की पूर्णता के लिए अपरिहार्य माना है। जब प्रेम की यह स्थिति है तो नारी जो प्रेम का आलंबन है; इस भूमिका से अलग कैसे रह सकती है ? नयी कविता तक आते-आते नारी चेतना का इतिहास अनेक मोड़ों से गुजर चुका था। अतः यहाँ भी नारी न तो पूरी तरह आधुनिका है; न आदर्श है और न किसी कल्पना कक्ष मे सजी-धजी बैठी दिखलाई गई है। वह पुरुष की हमसाया बनते-बनते पूरी जग चुकी है। अतः वह लूटना भी चाहती है और लुटना भी। उसमें आदर्श भी है; सौन्दर्य के प्रति आसक्ति भी है और वह आधुनिका भी है। पूरी तरह आधुनिका और आजाद तो वह आज भी नहीं है। आज भी वह सुरक्षा चाहती है, पर उसे पाकर वह अपने मन मुताबिक जीना भी चाहती है। आज वह घर की चहार दीवारी मे कैद होने को राजी नहीं है। उसे वक्त चाहिये अपने लिए, अपने ढग से जीने के

1. शांतासिन्हा : समानांतर सुनें पृ० 53, 58 और 59
2. कनुप्रिया पृ० 54

लिए। जब पुरुष उसे वक्त नहीं दे पाता या उसमें कोताही करता है तो उसका मन बुद्धि के शिखरों पर चढ़कर यह प्रश्न भी कर बैठता है :

"रोज रोज के प्रशासकीय पचड़ों को वक्त देना
क्या जिन्दगी की बरबादी नहीं है ?[1]

'देवराज' की 'नूरजहाँ कविता' आधुनिका का प्रतिनिधित्व करती प्रतीत होती है। अत. उसका प्रेमी यदि उसके रूप-यौवन से प्यार करता रहा तो वह भी प्रेमी की आड़ से इतिहास से खेलती रही। 'क्लिओपेट्रा' का रूप भी यही है। कहना यही है कि यह आधुनिका ही आज समाज में अधिक जागरूक है, किन्तु सभी नारियाँ ऐसी नहीं हो सकती हैं। कुछ ऐसी सुहागिनें भी हैं जो प्रिय को अपने बाहुपाश मे बाधती हुई भी आदर्श से जुड़ी हुई हैं। 'सर्वेश्वर' की 'सुहागिन का गीत' एक ऐसी ही नारी का गीत है। यों सर्वेश्वर मध्यवर्गीय चेतना के कवि है। अत: उनकी नारी श्रमशिथिला है। उसे प्यार का नाम ही अच्छा नहीं लगता। विवाह और प्रेम को अलग मूल्य मानने की जो प्रवृत्ति स्वातंत्र्योत्तर वर्षों में पनपी उसके चित्र भी नयी कविता ने दिये हैं। आम तौर पर विवाह के बाद अपने पूर्व प्रेमी की बात ही हवा हो जाती थी; पर आजादी के बाद प्रेम और विवाह दोनों को निभाने की जो स्थिति विकसित हुई है, वह एक सहज स्थिति है। यों स्त्री और पुरुष की दोस्ती को आज भी हम सही नजर से नहीं देखते हैं। शायद भारतीय पुरुष और नारी दोनों की यही स्थिति है। विवाहोपरांत मिले दो प्रेमियो की विवश मन स्थिति का यह बिम्ब देखिये जो स्वतंत्र्योत्तर वर्षों की सही और सहज तसवीर है :

"आज हम दोनों जाने की जल्दी में हैं
तुम्हारा बच्चा भूखा होगा
और मेरी सिगरेटें खत्म हो चुकी हैं।"[2]

नयी कविता के सौन्दर्य बोध में जो नयापन आया है, वह यथार्थ की बगल मे खडा है। यह नयापन यथार्थ की कटुता, उसकी तिक्तता, जीवन की विद्रूपता, कठोरता और दुविधात्मक स्थितियों से दामन बचाकर नहीं लाया गया है। वस्तुत: नया कवि सुन्दर और असुन्दर दोनों में आकर्षण देखता है और इस तरह सौन्दर्य को नये ढंग से परिभाषित करता है। यह वह सौन्दर्य बोध है जो छायावादी सौन्दर्य-चेतना से अलग है। नया कवि अपने समय का गवाह होने के कारण भदेस और खुरदरेपन में भी सौन्दर्य देख लेता है। उसकी सौन्दर्याभिरुचि जड़ीभूत और प्रस्तरीकृत नही है, उसमें मानव-जीवन की विविधता समाई हुई है। 'मुक्तिबोध' ने इस

1. डा० देवराज : इतिहास पुरुष पृ० 77
2. म ... भी अप्रस्तुत मन पृ० 99

सम्बन्ध में ठीक टिप्पणी की है। वे लिख गये हैं : "ये सौन्दर्यवादी लोग यह बात भूल गये कि बंजर काले स्याह पहाड़ में भी एक अजीब वीरान भव्यता होती है, गली के अँधेरे में उगे छोटे से जंगली पौधे में भी एक विचित्र संकेत होता है। विशाल व्यापक जीवन में पाये जाने वाले भयानक संघर्ष के रौद्र रूप तो उनकी सौन्दर्याभिरुचि के फ्रेम के बाहर थे। आप मुझे क्षमा करेंगे यदि मैं कहूँ कि नयी कविता में आवेश के पंख काट दिये गये; कल्पना को अपने पिंजरे में पालकर रखा गया—उसे मानव-जीवन को मूर्त और साक्षात् करने वाली रचनात्मक शक्ति के रूप में उपस्थित नहीं किया गया क्योंकि यह एक विशेष प्रकार की, भद्रजनोचित सौंदर्याभिरुचि के खिलाफ जाती थी।"[1] यह ठीक भी है। कोई असुन्दर या कुरूप या अभद्र मात्र इसलिए उपेक्षित नहीं किया जा सकता है कि वह तथाकथित सौन्दर्य के प्रतिमानों की तुला पर नहीं तुल सकता है। विरूपता और असुन्दरता भी सौन्दर्य बोध के नये आयाम प्रस्तुत कर सकती है। अतः असुन्दर न तो सुन्दर का परिशिष्ट है और न 'अपोजिट' ही है। 'कॉडवेल' ने ठीक लिखा है : "Ugliness is an aesthatic value.........All live in the same world. Nowhere can be drew a distinct line to say on this side lives the beautiful and on that the ugly.........beauty and ugliness, the noble and the pretty, the sublime and the rediculous all these opposite terms, when used in an aesthatic way, involve each other and must be determined by other diffrent qualities from which they spring." नयी कविता में सुन्दर और असुन्दर, आकर्षक और अनाकर्षक सभी का अन्तर्भाव है। वह पुरानी प्रदर्शनी रीति पर मुग्ध नहीं होती है। यही वजह है कि कवि पुरानी पद्धति पर व्यंग्य करता है और परिवर्तित परिस्थितियों में समय की आवाज को सुनता हुआ यही कहता है :

> "आज की दुनियाँ में
> विवशता
> भूख
> मृत्यु
> सब सजाने के बाद ही
> पहचानी जा सकती है
> बिना आकर्षण के दुकानें टूट जाती हैं
> शायद उनकी समाधियाँ नहीं बनेंगी
> जो मरने के पूर्व

---

1. मुक्तिबोध : नयी कविता का आत्मसंघर्ष तथा अन्य निबन्ध पृ० 15

कफन और फूलों का प्रबन्ध नहीं कर लेंगे
ओछी नहीं है दुनियाँ
मैं फिर कहता हूँ
महज उसका सौन्दर्य-बोध बढ़ गया है।"[1]

नयी कविता में विकसित सौन्दर्य-बोध अपनी अनुभूति और अभिव्यक्ति में मनुष्य के छोटेपन को तिरस्कार की दृष्टि से नहीं देखता है। इतना ही क्यों वह तो जीवन के यथार्थ से भी असंपृक्त नहीं है। इस सौन्दर्य-बोध में उस तिक्तता को भी विस्मृत नहीं किया जा सकता है जो व्यंग्य और अवसाद को सही रूप में अभिव्यक्ति देने के लिए प्रेरित करती है। वास्तव में नयी कविता पर्याप्त मात्रा में पूर्वाग्रहों से मुक्त है। इसी कारण उसमें तीखापन और व्यंग्य अधिक है। मैं समझता हूँ कि व्यंग्य और तीखेपन में ईमानदार अभिव्यक्ति अधिक होती है। मुक्तिबोध और सर्वेश्वर में इस व्यंग्यगत ईमानदारी को देखा जा सकता है। नयी कविता के सौन्दर्य-बोध का एक यथार्थ पक्ष और है और वह भी युगीन संवेदनाओं का ही प्रतिफल है। यह प्रकृति-छवियों का रूपांकन है। नया कवि प्रकृति की अनाघ्रात छवियों का रूपांकन नयी शब्दावली में करता है। 'प्रातनभ' में शमशेर जब लिखते हैं कि "प्रातनभ था बहुत नीला शंख जैसे/भोर का नभ/राख से लीपा हुआ चौका/ अभी गीला पड़ा है'/तो अनुभूति की ताजगी के साथ-साथ अभिव्यक्ति की नवीनता भी स्पष्ट होने लगती है। इसके साथ ही प्रकृति-वर्णन के नये धरातल भी हैं जहाँ कवि शहर की भीड़-भाड़ से बाहर आ मुक्ति की साँस लेता है। नया कवि व्यापक प्रकृति के अभाव में लॉन पर या आँगन में लगी फूल पत्तियों या गमलों में खिली हुई सुषमा या दो चार गज जमीन के टुकड़े में बिखरी प्रकृति श्री के खण्ड चित्र प्रस्तुत करता है। शमशेर को इस क्षेत्र में कमाल हासिल है और जगदीश गुप्त तो हैं ही प्रकृति की सूक्ष्म छवियों के चित्रकार। कतिपय अन्य कवियों में प्रकृति के प्रति रागात्मक लगाव कम दिखलाई देता है। लगता है प्रकृति नये कवियों को आकृष्ट कम; सोचने को अधिक बाध्य करती है। वस्तुतः औद्योगिक प्रसार, वैज्ञानिक अन्वेषणों और जीवन की आपा-धापी व समस्याकुलता ने कवियों की राग-संवेदना को आहत कर दिया है। अतः प्रकृति छवियों को देखता हुआ भी कवि उनसे जुड़ नहीं पाता है। जगदीश गुप्त का 'हिमबिद्ध' अपवाद है उसमें प्रकृति रमणीक है', 'ज्योति की मछलियाँ' जैसी कविताएँ कवि की संवेदना का निचोड़ हैं।

नयी कविता में सर्वाधिक नयापन युगीन यथार्थ से जुड़ा हुआ है। आज का अर्थहीन और खोखला जीवन मनुष्य को निरर्थकता की अनुभूति से भर देता है।

---

1. सर्वेश्वरदयाल : काठ की घंटियाँ पृ० 409

निरर्थकता की यही प्रतीति उसे रिक्तता, अकेलेपन की पीड़ा, अस्तित्वहीनता और जीवनगत निस्सारता के बोध से भर देती है। एक ओर व्यक्ति में आत्मक्षोभ, निरर्थक आक्रोश और ऊब भरी झुँझलाहट है तो दूसरी ओर भाग की उद्दामता है। आज की व्यस्त दुनियाँ की भागदौड़; किसी की बात तक सुनने की फुर्सत का न होना, भीड़ में रहते हुए भी अकेलेपन के बोझ से जन्मी विकृतियाँ, उद्विग्नता; पल-पल पर उपलब्ध वैज्ञानिक साधनों से उत्पन्न थकान, हताशा और असुरक्षा का भाव, अपने व्यक्तित्व के विनष्ट होने की शंका और आत्मघाती स्थितियों का प्रसार इतना बढ़ गया है कि मनुष्य एक बेचैनी भी महसूस करता है और इस सबके खिलाफ आक्रमण करने की तैयारी भी। विश्वास उसे मिलता नहीं; शक्ति उसके पास है नहीं; रास्ता उसे मालूम नहीं; धर्म को वह खो बैठा है और ईश्वर की मौत देख चुका है। फिर क्या करे? कहाँ जाये क्योंकि सहयोग का बिरवा किसी आँगन में उगता नहीं फिर सहानुभूति का फल मिले तो कैसे? "प्रेम मनोरंजन और गर्भ-निरोधक गोलियों की छत्रछाया में समाधानहीन बोरियत का क्षणिक रेचन बन गया है तो दांपत्य-जीवन दो तलाकों के बीच का व्यवधान है। ईश्वर एक अविश्वसनीय कल्पना है जिसके अस्तित्व की प्रत्येक संभावना ही ज्ञान के सूक्ष्म-जटिल आलोक में क्रमशः मिटती चली गई है। मानवता: एक समान रुचि, विलास, आचार और जीवन-स्तर वाली भीड़ है जिसका आकृतिहीन नाम मानवता है।"[1] नयी कविता का यथार्थ अपने समय में विकसित इन सभी तत्वों और तथ्यों को कविता के हवाले करता रहा है। वह अपने समय का लेखा तैयार करते हुए विवशता, पीड़ा, रिक्तता और अनिश्चय की अनुभूतियों को वाणी देता है तो निश्चय ही वह अपने परिवेश का पैरोकार और यथार्थ स्थितियों का गवाह बनकर आता है। नये कवि ने जिन्दगी के वैविध्य; सभ्यता की नकाब ओढ़े समाज, डरावने जीवन, जीवन व्यापी शून्यता और संत्रस्त जिन्दगी को जिस कोण से देखा है, उससे उसका सारा नक्शा ही उतर आया है। मुक्तिबोध, सर्वेश्वर, रघुवीर सहाय, भवानीप्रसाद मिश्र और कहीं-कहीं गिरिजा कुमार की कविताओं में देश का यह मानचित्र बखूबी देखा जा सकता है। अतः यदि आत्म-साक्षात्कार के क्षणों में अधूरी सतही जिन्दगी के गर्म रास्तों पर चलते हुए मुक्तिबोध को 'गरीबी के उपेक्षित श्याम चेहरे दिखाई देते हैं; टूटी गाड़ियों के साँवले चक्कों में आज के धक्के महसूस होते हैं और भूखे बालकों के चेहरे को देख धुंध में डूबे हुए दुख दिखाई देते हैं तो ठीक ही है। परिवेश व्यापी भयावहता और नश्तर चुभाती स्थितियों को झेलते हुए कवि कह उठता है:

> व्रणाहत पैर को लेकर
> भयानक नाचता हूँ शून्य

---

1 मामुर अस्वीकृति का नवोन्मेष समभूम में प्रकाशित

मन के टीन-छत पर गर्म
हर पल चीखता हूँ, शोर करता हूँ
कि वैसी चीखती कविता बनाने में लजाता हूँ।[1]

जाहिर है कि आजादी के बाद जो परिवेश हमें मिला; जिस समय से हम गुजरे है, उसका सही साक्ष्य नयी कविता ने प्रस्तुत किया है। इस साक्ष्य में न कहीं नकल है; न आरोपण है और न मिथ्या प्रलाप है। यह गवाही कविताएँ बखूबी देती हैं। इनमें विलायती संदर्भों का जोड़ नहीं है। वह तो तब होता जब हम और हमारा जीवन ऐसा न होकर गुड़ीगुड़ी होता। ऐसी स्थिति में यह कहना भी कोई मानी नहीं रखता है कि नयी कविता विलायती संदर्भ लेकर जी रही है और वह एक ऐसा पौधा है जो विदेश से लाकर भारत में लगाया गया है। हमारी समझ में इस पौधे के बीज हमारी परिस्थितियों ने बोये थे और हमारे ही देश के खाद-पानी से इसका पोषण और विकास हुआ है। यों कवि की संवेदनाएँ सृजन के दौरान जिस कक्ष में घूमती हैं उसमें प्रकाश चारों ओर से आता है। अतः इस आने में ही यदि कुछ प्रभाव आ गये हों तो मात्र उनके ही आधार पर नयी कविता का अस्तित्व खतरे में नहीं पड़ जाता है।

हाँ, एक बात और! आज कुछ समीक्षक यह सिफारिश करने लगे हैं कि नयी कविता में विद्रोह नहीं है; उसका मिजाज नरम है। ऐसा मानने का कारण शायद यह है कि ये लोग कविता को युद्ध मानते हैं और वक्तव्यबाजी व निरर्थक चीख-चिल्लाहट को कविता के लिए जरूरी समझते हैं। इस संदर्भ में डॉ० विश्वम्भर उपाध्याय की यह टिप्पणी गौरतलब है (यह उन्हीं का प्रयोग है) : 'कवि कोई विशेषज्ञ या चोर नहीं है जो 'चयन' में लगा रहे। उसे ध्यान अपनी प्रतिक्रिया की उग्रता और दावानल सी फैलती-फलाँगती घृणा पर रखना होगा कि वह यथावत् कविता में आ जाये और जिधर नजर पड़े, उस पर बाज की तरह टूट पड़े। अब यह जिस भाषा से भी हो जाय किया जाए। मुख्य वस्तु युद्ध है। हथियार सभी को मनचाहे रूप में नहीं मिलते, पर युद्ध सभी करते हैं। कविता युद्ध है 'सम्मोहन नहीं।"[2] मैं समझता हूँ डॉ० उपाध्याय कविता को कविता नहीं रहने देना चाहते है। वे आक्रोश को कविता का पर्याय मानते हैं और झपट्टामार शैली—कनपटीमार शैली को ही असली शैली मानते हैं तभी तो कविता को युद्ध बतलाते हैं। कविता कुरुक्षेत्र का मैदान नहीं है जहाँ कवि व्यवस्था के खिलाफ लड़ाई लड़ने के लिए कविता को हथियार बनाकर इस्तेमाल करे और डॉ० उपाध्याय वे कृष्ण नहीं है

---

1. मुक्तिबोध : चाँद का मुँह टेढ़ा है
2 डॉ० विश्वंभरनाथ उपाध्याय : समकालीन कविता की भूमिका पृ० 61

जो कवि को सब कुछ छोड़कर 'मामेकंशरणं ब्रज और 'मामनुस्मर युध्यच' का संदेश देकर लड़ाई के लिए प्रोत्साहित करें और कहें कि "हतो वा प्राप्यसिस्वर्गम् जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्" । कविता युद्ध नहीं हो सकती है. अधिक से अधिक वह युद्ध की कविता हो सकती है। उसे सम्मोहन न मानना तो समझ में आता है पर युद्ध बतलाना कविता को कवितापन से दूर ले जाना है। विरोध ठीक है; विद्रोह भी जँचता है क्योंकि अनेक बार उससे बचा नहीं जा सकता है, पर वह भी रचनात्मक स्तर पर होना चाहिए। यह माना कि व्यवस्था खराब है और जिन्दगी सीधी और समतल नहीं रही है। उसमें जगह-जगह दाग-धब्बे तो हैं ही; खाई खदक भी नजर आने लगे हैं। पर यह क्या कि कवि व्यवस्था के लिए गाली-गलौज करे ? कवि के पास दो नहीं तीन आँखें होती हैं। वह उनका सही इस्तेमाल करता रहे तभी तक ठीक रहता है; अन्यथा भड़भड़िया कविताएँ लिखकर राजनैतिक पैंतरेबाजी दिखाकर और बाज की तरह टूट पड़ने की शैली को अपनाकर तो कोई भी कवि बन सकता है पर वह कविता नहीं होगी; युद्ध हो सकता है; व्यर्थ की चीख चिल्लाहट हो सकती है। मैं यह नहीं कहना चाहता हूँ कि विद्रोह के लिए तीखी शैली और तेज-तर्रार शब्दावली अपेक्षित नहीं होती है। वह तो होती है। पर डॉ० उपाध्याय जिस शैली की बात करते है वह तो गाली है और गाली कविता नहीं होती। ठीक है लडो, लड़ाई की कविता लिखो; पर कविता को लड़ाई मत बनने दो। उससे उसका कवितापन मत छीनो। खैर ! इतना सच है कि नयी कविता अपने परिवेश की है, उसमें हमारी साझेदारी है। वह अपने समय की सही गवाह बनकर आई है। उसने व्यवस्था तन्त्र के खिलाफ गवाही दी है और उसके सही-गलत; पुष्ट-अपुष्ट, स्वीकृत-अस्वीकृत तथा परिवेश व्यापी सभी स्थितियों की ईमानदार व्यंजनाएँ दी है। अत नयी कविता यदि समय का साक्ष्य प्रस्तुत करती है तो उसके अच्छे कवि उसके सही सार्थवाह हैं।

अपने आपको समय का लेख साबित करने के लिये नयी कविता ने जो परिवेश चुना है वह भी बड़ा व्यापक है। कोई कह सकता है कि परिवेश के प्रति सचेतन दृष्टि तो प्रगतिवादियों के पास भी थी फिर नयी कविता में ऐसी क्या खास बात है ? मैं सोचता हूँ कि प्रगतिवादियों का परिवेश व्यापक नहीं था। उसकी सीमा मार्क्सवाद थी और शैली प्रचारवादी थी। यही वजह है कि उसमें वह व्यापकता नही आ सकी। नये कवि की निगाह तो उस सब पर है जो उसके आस-पास और राष्ट्रीय-अन्तर्राष्ट्रीय क्षितिज पर घट रहा है। 'अज्ञेय' ने लेखक और परिवेश के सम्बन्ध में जो लिखा है वह नयी कविता पर लागू होता है। उनके शब्द हैं : "मैंने कहा कि मेरा परिवेश बहुत बड़ा है। यह बात आपेक्षिक रूप से भी सच है आत्यंतिक रूप से भी मेरा परिवेश प्राचीन लेखक के परिवेश की तुलना म भी बहुत बड़ा है

और अपने आप में भी बहुत बड़ा है। उसमें एटम बम है और भूदान है; ई. ई. सी है और नाटो है, पी. एल. 480 है और वियतनाम है, 'हिन्दी चीनी भाई-भाई' है और नाथूला है, कांचिका चेकला और तिम्मा रेड्डी हैं, भारत का स्वाधीन राष्ट्र है और पीलू मोदी हैं, हाइपोथालामस ग्रंथि है और शतदल पद्म है—सभी कुछ है।"[1] कहना यही है कि नयी कविता ने अपने आपको समय का सही गवाह बनाने के लिये अपने, पराये और जिन्दगी का अहम हिस्सा बने उस पूरे परिवेश के प्रति अपना 'कन्सर्न' बनाये रखा है जो किसी भी तरह या तो हमसे जुड़ा है या किसी न किसी मोड पर हमारे साथ हो लिया है। यही वजह है कि नया कवि यह सब महसूस करता है और इसे आज की वैविध्यमय जिन्दगी का हिस्सा मानकर अभिव्यक्ति देता है।

कतिपय समीक्षकों की धारणा है कि आज की तनाव भरी जिन्दगी मे प्रेम के लिये गुंजाइश नहीं है, मैं पूछता हूँ कि क्या प्रेम भी कोई ऐसी चीज है जिसके लिए गुंजाइश निकालनी पड़े। हाँ; यह हो सकता है कि जीवन की भागमभाग म, सम्बन्धों की रस्साकसी में और जीने के साधन जुटाने की खींचतान में प्रेम सहज न रह पाये। ऐसी हालत में संभव है प्रेम तनाव पैदा करे या जीवन की कटुनाओं के बीच अन्त सलिल होकर बहे या संभव है कि उसका आधार मात्र मनोवैज्ञानिक आवश्यकता न रहकर शारीरिक तुष्टि हो जाये तो ठीक ही है। इसे असहज कैसे कहा जा सकता है? उपेक्षित किस आधार पर किया जा सकता है; यह तो समय की सच्चाई है। हाँ आज की आपाधापी में भी यदि कोई मात्र प्रेम के मधुर तराने छेड़े और उन तनावों को कविता में जगह न दे जो या तो प्रेम से उत्पन्न हुए है या किन्हीं सामाजिक न्यूनताओं के कारण तो कह सकते हैं कि वह बहक गया है; पागल हैं और समय की नाड़ी की पहचान नहीं रखता है। नयी कविता ने तो ऐसा कुछ नही किया है। उसने तो जो है; जिस रूप में है और जितना हमारा सच है, उसे उसी रूप में या उतना ही कहा है।

पिछले दशकों में हमने कितना कुछ झेला है; कितने द्वन्द्वों-अन्तर्द्वन्द्वों की डगर से गुजरे हैं और हमने कितनी ही त्रासद स्थितियों के घूंट पिये हैं, यह किसी से छिपा नही है। हम इन हालातों से गुजरते हुए यदि खिन्न, निराश, शंकित और अनास्थायुक्त हुए हैं तो यह भी एक सच्चाई है, किन्तु अंतिम सच्चाई नहीं हो सकती है। नयी कविता में इस सबको आकार मिला है। इसे वे समीक्षक ही आरोपित स्थिति मान सकते हैं जिन्होंने बाहर-भीतर के इस बदलाव के होते हुये भी अपने चश्मे का नम्बर नहीं बदला है। बदलना जरूरी होता है और जो जरूरी है उसे न

---

1 अज्ञेय पृ० 26

तो टाला जा सकता है और न उससे बचा जा सकता है। पुराने नजरिये से नये को परखने में गलतियों की गुंजाइश रहती ही है। नयी कविता न तो परिवर्तन को टालती है; न किसी नये को उपेक्षा की गर्त में धकेलकर आगे बढ़ी है। उसकी आँख उस सब पर टिकी है जो हो रहा है;' उस समय पर केन्द्रित है जो सामने है और उस संकट को देख रही है जिसे झेलते हुये हम यहाँ तक आये हैं। यही वजह है कि उसमें वर्तमान की लिखावट है; वे शब्द हैं जिनका अर्थ हमसे, हमारे परिवेश से जुडा है, वह जिन्दगी है जो हम सबकी है और वह संकट है जो हमारी धमनियो मे खून के साथ बह रहा है।

सर्वेश्वर : एक अपरिहार्य हस्ताक्षर

हवा को मुट्ठी में बंद नही किया जा सकता; उसकी छुअन महसूस की जा सकती है और उससे हवा की गति, स्थिति व दिशा को पहचाना जा सकता हे। कविता भी इसी नियम की चोट सहती है। वह कवि की स्थिति, मनस्थिति, गति और दिशा का ज्ञान करा सकती है बशर्ते वह कविता हो; चार-छह उल्टी-सीधी, छोटी-बड़ी और तरतीब-बेतरतीब पंक्तियाँ भर न हो। आजादी के बाद जो कविता लिखी गई और जिसे हमने 1950 के आस-पास नयी कविता' कहा; वह कविता है; कुछ मनचले, सिरफिरे और शगूफा छोड़ने के शौकीन कविनामधारियों का कल्पना-विलास या शब्द-कौतुक मात्र नहीं। जो ऐसा समझते थे या कुछ वर्षों तक ऐसा समझते रहे वे या तो दकियानूसी थे या पुराने को शाश्वत व स्थायी मानने वाले हठधर्मी थे या फिर वे जो थे तो नये; पर अपने देश की मिट्टी से जन्मी उन प्रतिभाओं को पश्चिम की नकल कहकर दबा देना चाहते थे। यह एक संकट था और इसे हमारे नये कवियों को झेलना पड़ा। ठीक भी है हर नयी शुरुआत अपने नयेपन के साथ कुछ संकट लेकर आती है। नयी कविता भी बदलते परिवेश से जो बदलाव लेकर आई उसे भी इस संकट बोध से गुजरना पड़ा। जब संकट सामने हो तो दो ही रास्ते सामने रहते हैं। एक तो यह कि उससे आतंकित और त्रस्त होकर अपनी दिशा बदली जाय और वह काम किया जाय जो संकट पैदा न करे। जाहिर है कि यह रास्ता स्थिति से कतराने का है और इसी कतराने में कहीं यह भाव भी छिपा है कि जिन्दगी यानी कि कोई भी सृजन सीधे-सीधे सफल हो जाये तो ठीक और न हो तो उससे किनारा करते हुए भगोड़ों में अपना नाम लिखाया जाय या फिर लोगो को यह कहने का अवसर दिया जाये कि इस सर्जक में अन्दर की आग नहीं थी, वह तपन नहीं थी जिसकी आवश्यकता हर सृजन के मूल में रहती है। दूसरा रास्ता इससे अलग है और निश्चय ही वह संकट से जूझने का रास्ता है। आये हुए संघर्ष की गंभीरता और भयावहता को मानते हुए भी चुनौती के रूप में उसे ग्रहण करना और सतत अपनी सफलता के लिए हो जाना अपने विश्वास के टुकड़ न

होने देना, उस संघर्ष को जीना; उसका हिस्सा हो जाना और अपने लक्ष्य को पहचानते हुए जूझते रहना ही एक सर्जक का काम है। मैं यहाँ यह बताने की जरूरत नहीं समझता कि एक ईमानदार सर्जक के लिए कौनसा रास्ता ठीक रहता है, पर यह कहे बिना भी नहीं रह सकता कि नयी कविता को दिशा देने; युग जीवन की गवाह बनाने, जर्जर रूढ़ियों से मुक्त कर संतुलित संवेदना और शिल्प में ढालने, सौन्दर्य-बोध के नये प्रतिमानों से जोड़ने, जनजीवन का सांस्कृतिक इतिहास और भूगोल प्रस्तुत करने, समसामयिक जीवन मूल्यों की खोज करने और एक वाक्य मे परिवेश और जीवन के प्रति सचेतन दृष्टि रखने वाले कवियों में सर्वेश्वर की जगह काफी ऊँची है। भले ही वे 'अज्ञेय' न हों; किन्तु उनसे किसी तरह कम भी नहीं है। इस बात में तो वे 'अज्ञेय' से भी आगे है कि उन्होंने आम आदमी की जिन्दगी को, हमारे आपके परिवेश के संकट को आत्मीय, सहज और विश्वसनीय शिल्प मे ढालकर कहा है। उनका कहा हुआ हमारी चेतना में समा जाता है। हमें हमसे जोडता हुआ, हमें हो हमारा परिचय देता हुआ वह हमसे अपना करीबी रिश्ता कायम करता है और पाठक को लगता है कि इस सबमें उसकी बहुत बडी साझेदारी है।

'अज्ञेय' भी परिवेश के गवाह बने रहते है, पर एक आभिजात्य के साथ। सीधी भाषा में कहूँ कि एक दूरी के साथ—एक निस्संगता के साथ जो उनके कवि-व्यक्तित्व को महिमामय बना देती है। सर्वेश्वर परिवेश को जीते हैं; उसे अपनी अनुभूतियो मे कैद कर लेते हैं और फिर विश्वस्त भाषा में ढ़ालकर उसी परिवेश के सामने फैला देते हैं। जाहिर है कि एक का व्यक्तित्व कविता में भी दिव्य, महिम और 'पॉलिश होकर आता है जबकि दूसरे का सहज, आत्मीय और अनारोपित रूप लेकर आता है। एक परिवेश को बिम्बों में बाँधते हुये भी चिन्तक बन जाता है जबकि दूसरा कवि बना रहता है और आम पाठक की संवेदना कवि के ज्यादा नजदीक होती है बजाय चिन्तक के। कारण; पाठक चिनगारी को आग और आग को लपट बनते देखकर उसकी तपन महसूस करना अधिक चाहता है और चिनगारी से लपट बनने तक की प्रक्रिया का दर्शन जानने में उसकी रूचि कम होती है। खैर! यहाँ अज्ञेय सर्वेश्वर की तुलना करना मेरा लक्ष्य नहीं है और न यह निष्कर्ष निकालना ही अभिप्रेत है कि सर्वेश्वर अज्ञेय से श्रेष्ठ हैं। दो कवियों में कौन श्रेष्ठ है यह बहस रीतिकालीन बोध की याद दिलाती है, न कि आधुनिक बोध की। अत: जो कहा गया है उसका अभिप्राय इतना ही है कि अज्ञेय जटिल होने से पाठक की सवेदना को कम छूते हैं और सर्वेश्वर सहज होने के कारण जल्दी छू लेते हैं। अज्ञेय को समझते-समझाते समय हमें अपनी ओर से अधिक कहना पडता है और सर्वेश्वर कविता को कविता बनाये भी खुद ही सब कुछ देते हैं या उनकी

कविता की गाँठें यदि वे कहीं है तो, स्वतः ही पाठक के भीतर खुलती चली जाती है। यह अकारण नहीं है। 'अज्ञेय' चिन्तक से कवि बने हैं और 'सर्वेश्वर' कवि से चिन्तक और उल्लेख्य तथ्य यह है कि अधिकांश स्थलों पर तो चिन्तक होते हुए भी वे कवि ही लगते है। मैं समझता हूं कि कोई चिन्तक होकर भी कवि ही लगे यह बहुत बड़ी बात है।

'सर्वेश्वर' उन नये कवियों में से हैं जिन्होंने न केवल नयी, रोचक और विश्वसनीय कविता लिखी है; वरन् उनमें से भी हैं जिनका सृजन उस संघर्ष को भी साफ कर देता है जो नये सर्जक को अपनी कवि-निष्ठा बनाए रखने के लिए और नये कविता-प्रतिमानों की प्रतिष्ठा के लिए करना पड़ा। सर्वेश्वर का सृजन पहले कहानियों के रूप में सामने आया और 1950 से वे कविता की ओर उन्मुख हुए। यों कहानी से कविता में आना कोई नयी बात नहीं है, परन्तु सर्वेश्वर इसलिए आये कि उनकी प्रकृति कविता के अधिक नजदीक पड़ती है। इसमें उन्हें सफलता भी मिली। आज भी वे एक कवि के रूप में ही अधिक सफ़ल हैं और चाहें तो यह भी कह सकते है कि 1950 से अब तक के उनके कवित्व ने नयी कविता को एक सही दिशा दी है। यही वह वर्ष है (1950) जब नयी कविता अपने असली और विश्वसनीय रूप मे सामने आई थी। ऐसी स्थिति मे सर्वेश्वर के काव्य-सृजन और नयी कविता दोनों की यात्रा साथ-साथ शुरू हुई मानना संगत प्रतीत हाता है। वे नयी कविता के जन्म, विकास और उत्कर्ष तीनों रूपों से जुड़े हैं और उनकी कविताएँ नयी कविता के समस्त संसार को प्रस्तुत करने वाली कविताएँ हैं। अतः वे न केवल नयी कविता के प्रमुख कवि हैं; बल्कि अपरिहार्य हस्ताक्षर भी हैं।

जब हम सर्वेश्वर को नयी कविता के अपरिहार्य हस्ताक्षर कहते हैं तो ऐसा कहने का कोई यही एक कारण नहीं है। कारण और भी हैं और कई हैं। मसलन उन्होंने नयी कविता को सही दिशा दी है ; उसकी संवेदना और शैल्पिक सज्जा मे सतुलन कायम किया है ; उसे समय और परिवेश का साक्ष्य बनाकर प्रस्तुत किया है ; प्रतिष्ठित और जर्जर रूढ़ियों से मुक्ति दी है ; नवीन मूल्यों से जोडा है, कविता को जिन्दगी से सीधे तौर पर मिलाया है ; नई जीवन-दृष्टि को शब्दबद्ध किया है , पहले से चली आती रोमांटिकता को आकाश से उतार कर धरती पर खड़ा किया है ; जिन्दगी के शापित-अभिशापित और संतप्त हिस्से को कविता का विषय बनाया है ; समसामयिक समस्याओं के प्रति जागरूकता और साहसिकता का दृष्टिकोण अपनाते हुए कविता को ईमानदार बनाया है ; सौन्दर्य-बोध के नये आयामों के अन्वेषण का माध्यम बनाया है और कविता को लोक-संपृक्ति प्रदान की है। एक तरह से सर्वेश्वर ने नयी कविता को जिन्दगी की दैनंदिनी ; परिवेश का दर्पण और आधुनिक बोध का प्रतीकत्व प्रदान किया है जिन्दगी के असगतियाँ

विकृतियाँ और इनसे जुड़े अनेक प्रश्न, अनेक संदर्भ जो नयी कविता की विषय-परिधि में आते है ; सर्वेश्वर के काव्य-सृजन के अहम और ईमानदार पक्ष है। उन्होंने प्रारम्भ से ही अपने समय के सामाजिक यथार्थ को पकड़ना अपना लक्ष्य बनाया था और वह धीरे-धीरे उनके प्रत्येक कविता-संग्रह- में खुलता-फैलता गया ! वह उनकी चेतना में आता गया और वे उत्तरोत्तर उसे नापते-तौलते हुए सृजनरत रहे। यही कारण है कि उनकी कविताएँ नयी कविता में न केवल उल्लेख्य है, अपितु स्थायित्व का गुण भी लिये हुए है—ऐसा गुण जो निरन्तर रेखाँकित-परिष्कृत होकर कविता में आता रहता है।

नयी कविता की पहचान सर्वेश्वर की पहचान है और यदि मेरे कथन को अत्युक्ति न माना जाय तो यह कहने को भी तैयार हूँ कि सर्वेश्वर से नयी कविता को और नयी कविता से सर्वेश्वर को अलगाना नामुमकिन है। यों ऐसे और कवि भी हैं जो इसी तरह हैं ; पर ऐसे भी हैं जो नयी कविता से शुरू करके छायावाद मे लौट गये हैं या फिर अपने प्रस्थान-बिन्दु से एक इंच भी आगे जमीन नहीं नाप सके हैं। भारती ऐसे ही हैं, जगदीश गुप्त ऐसे ही हैं। ये दोनों कमोवेशरूप में नयी चेतना से जुड़ते हुए भी छायावादी जमीन पर लौट-लौट गये हैं। एक रोमांस के बहाने, दूसरा 'हिमबिद्ध' की 'रेलिंग' पकड़कर। इनके अलावा कुछ ऐसे भी है जिनका कवि रूप केवल सप्तकों की शोभा बनकर रह गया है। कीर्ति चौधरी, मदन वात्स्यायन, प्रयागनारायण त्रिपाठी ऐसे ही है। हाँ; विजयदेवनारायण साही ने स्वतन्त्रत: भी सामने आने का प्रयास किया; किन्तु उनका कदम 'मछली घर' बनकर रह गया। 'सर्वेश्वर' ऐसे नहीं रहे; निरन्तर एक कशमकश करते हुए आगे आते रहे हैं; अपनी पहचान बनाते हुए छाप छोड़ते रहे हैं। उनके काव्य-संग्रहों का नैरन्तर्य इस कथन का गवाह है। नयी कविता की दिशा को; उसके तलाशे हुए मूल्यो को, उसके अंतस् में छिपे सामाजिक यथार्थ को, जीवन-सपृक्ति को और सौन्दर्य-बोध के नये उद्‌घाटित पथ को नई शैल्पिक संरचना के साथ हम सर्वेश्वर की कविताओ मे पा सकते हैं। "सर्वेश्वर समसामयिक होकर भी युग जीवन की संपृक्ति को गहन अनुभव के स्तर पर ग्रहण कर सके हैं। उनके अनुभव में व्यक्ति और युग-जीवन इस प्रकार संपृक्त है कि चरम संवेदन में भी युग का यथार्थ व्यंजित हुआ है। (ताँबे के फूल, नीला अजगर और काठ की घंटियाँ) कवि अपनी आत्मचेतना में व्यक्तित्व की समष्टि की व्यापक चेतना का माध्यम स्वीकार करता है।"[1]

सर्वेश्वर नयी कविता के संदर्भ में इसलिए भी अपरिहार्य है कि वे न तो चौंकाते है, न विज्ञापनी वृत्ति को अपनाते हैं और न संवेदना और शिल्प के बीच कोई दरार

---

1 डा समसामयिकता और आधुनिक हिन्दी साहित्य पृ० 262

छोड़ते हैं। उनकी संवेदना भाषिक शक्तियों से बल पाती है और भाषा संवेदना के मिज़ाज को पहचानती हुई तदनुरूप आकार धारण कर लेती है। अनुभव के अनुभूति बनने और अनुभूति के अभिव्यक्ति में बदलने के जो सोपान हैं उनमें कहीं भी यह नहीं लगता कि कोई हल्का अनुभव अनुभूति बन गया है और कोई अपरिपक्व व 'अनडाइजेस्टेड़' अनुभूति अभिव्यक्ति के हवाले कर दी गई है। सुलझी हुई संवेदनाएँ आत्मीय भाषा पाकर पाठक की चेतना में उतर जाती हैं। यों ऐसा होने में कवि की अनुभूति को जिस जटिल प्रक्रिया और उधेड़बुन से गुजरना पड़ा होगा; इसका अनुमान लगाना भी न कठिन है, न अप्रीतिकर। संवेदना और शिल्प का संतुलन ही सर्वेश्वर की कविताओं में प्राण भरता है; उनकी अनुभूतियों को तीव्रता और घनता प्रदान करता है। अनेक बार यह होता है कि कवि दो स्थितियों को एक साथ कविता में जीना चाहता है या दो भाव-स्थितियों को आमने-सामने रखकर उनके तनाव से अपना मंतव्य संप्रेषित करना चाहता है। ऐसी स्थितियों के अंकन मे प्रायः असंतुलन आ जाता है, पर सर्वेश्वर में बराबर सतुलन बना रहता है। 'लिपटा रजाई में' कविता को लीजिए। उसमें कविता और जीवन को अलग-अलग बताकर भी कवि दोनों के बीच के तनाव क्षण को सूचित करता है; पर संतुलन हवा नहीं होता। कवि अपनी अनुभूति को शब्द देता हुआ कहता है :

> "लिपटा रजाई में
> मोटे तकिये पर धर कविता की कापी
> ठंडक से अकड़ी अँगुलियों से कलम पकड़
> मैंने इस जीवन की गली-गली नापी;
> हाथ कुछ लगा नहीं,
> कोई भाव कम्बख्त जगा नहीं।"[1]

नयी कविता यदि अपने समय और परिवेश की गवाह है तो यह गवाही सर्वेश्वर के यहाँ काफी साफ़ और सुलझी हुई है। सर्वेश्वर की नजर अपने आस-पास फैले परिवेश पर भी गई है और उस ओर भी गई है जिसने हमारा परिवेश बदला है। उन्होंने राष्ट्रीय सीमाओं से मिली अन्तर्राष्ट्रीय सीमाओं को भी देखा है। वे नेहरू, गांधी, इन्दिरा, लोहिया, विनोबा के देश को भी देखते हैं तो विश्व के बड़े राष्ट्रों की कारगुजारियों पर भी नजर रखते हैं। उन्होंने लोकतन्त्र का अर्थ समझा है तो संसद की दृश्यावली को भी समझा है। वे मँहगाई के भूत-पिशाच को भी भोगते रहे हैं और व्यवस्था में फैली भ्रष्ट स्थितियों और अकर्मण्यता के तहत कर्मण्यता का विकास भी अनुभव करते रहे हैं। उन्होने भूखा आदमी भी देखा है

---

1 काठ की घंटियाँ : पृ० 328

और भूखा भेड़ियानुमा सत्तालोलुप भी। यही वजह है कि उनकी कविताएँ परिवेश की गवाही देती हैं। आज के व्यस्त, तनावभरे वैज्ञानिक युग मे वे प्रेम की सहजता को भी महसूस करते हैं और उसकी विकृतियों को भी, विश्वास की छाँह भी तलाश करते हैं और अविश्वास के पुतले सत्ताधिशों को भी देखते हैं। वे नगरों के बसने, गावों के उजड़ने को महसूस करते हुए नगर-संस्कृति और ग्राम्य-संस्कृति के अन्तर को भी समझते हैं। 'यहीं कहीं कच्ची सड़क थी' और कई एक कविताएँ इसका प्रमाण हैं। प्रेमिल जीवन के तनाव ; आधुनिक विसगतियाँ, कवि के संघर्ष और अनुभूति की अभिव्यक्ति का संकट जो हमारे समय का उल्लेख्य संकट है, सर्वेश्वर के काव्य मे देखा जा सकता है। 'सब कुछ कह लेने के बाद' कविता में इसे देखा जा सकता है—

"वह पीड़ा जो हमको, तुमको, सब को अपनाती है,
सच्चाई है—अनजानों का भी हाथ पकड़ चलना सिखलाती है,
वह यति है—हर गति को नया जन्म देती है,
आस्था है—रेती में भी नौका खेती है,
वह टूटे मन का सामर्थ्य है,
वह भटकी आत्मा का अर्थ है,
तुम उसको वाणी मत देना,
सब कुछ कहलेने के बाद
कुछ ऐसा है जो रह जाता है
तुम उसको वाणी मत देना।"[1]

आज स्थिति यह है कि भाषा की अपरिमित शक्तियाँ विकसित हो रही ह तो अनुभूतियाँ भी सीमाहीन विस्तृति पाती जा रही हैं फिर भी संकट यह है कि शब्द और अनुभूति में तालमेल नहीं बैठ पारहा है। एक ओर अनुभव आक्रमण करते हैं तो दूसरी ओर शब्द ओछे महसूस करते हुए हमले को झेल नहीं पाते हैं। कवि का संकट कैसे दूर हो? वह दोनों से एक साथ कैसे जूझे ? नहीं जूझ पाता है इसलिए उसकी रचना हल्की पड़ जाती है और कविता की धारा रुकने लगती है। 'सर्वेश्वर' और 'अज्ञेय' दोनों ही इस दिशा में प्रयत्नशील रहे हैं। दोनों ही काफी कामयाब रहे हैं पर सर्वेश्वर की कामयाबी इसलिए उल्लेख्य है कि वे शब्दों को अनुभूतियों के साथ ईमानदारी से वहीं तक ले गये हैं जहाँ तक सहजता बनी रही है ; अन्यथा तो 'तुम उसको वाणी मत देना' की स्थिति ही उन्हें प्रिय रही है।

'सर्वेश्वर' अपने समसामयिक संदर्भो, युगीन समस्याओं और देश के बदलते मानचित्र को भी कभी नहीं भूल पाये हैं। प्रायः देखने में आता है कि अनेक कवि

---

1 काठ की घंटियाँ पृ० 423

समकालीन संदर्भों की जाँच-पड़ताल करते हुए या तो अतिरिक्त विवरणात्मक हो जाते हैं या वक्तव्यपरक। फलतः कविता गायब होने लगती है और संदर्भों, समस्याओं और स्थितियों के थोथे बिम्ब मात्र रह जाते हैं। सर्वेश्वर इसके अपवाद हैं, यह बात जोर देकर कही जा सकती है। उन्होंने युद्ध, राजनीति, लोकतन्त्र, संसद, व्यवस्था और गरीबी व बेरोजगारी सभी को अपनी कविता का विषय बनाया है। युद्ध हो या राजनीति, लोकतन्त्र हो या व्यवस्थाकर्त्ताओं का ढोंग, गरीबी हटाने का नारा हो या कंबोडिया पर हुए अत्याचार ; वैज्ञानिकों के करिश्मे हों या अखबारों की स्वायत्तता और स्वतन्त्रता का सवाल हो, सर्वेश्वर सर्वत्र सजग हैं। उनकी दृष्टि में सब कुछ समा जाता है। फलतः वे कभी घुटन और बेचैनी महसूस करते हैं ; कभी आवेश में आकर खरी बात कह देते हैं और कभी रचनात्मक शैली में उसकी बखिया उधेड़ने लगते हैं। ऐसे स्थलों पर भी सर्वेश्वर की कविता से न तो कहीं भावों का चूना झड़ने पाया है और न शब्दों का पलस्तर टूटा है और इसका सबसे बड़ा कारण उनकी व्यंग्यधर्मी प्रवृत्ति है जो वक्तव्यों को पीछे धकेल कर कविता को रचना के आसन से गिरने से बचा ले गई है। 'कुआनो नदी' संग्रह की 'गरीबी हटाओ' कविता और इससे पहले के संग्रह में आई 'लोहिया के न रहने पर' कविता इसका प्रमाण है। दो उदाहरण देखिये :

(क) "गरीबी हटाओ सुनते ही
वे कब्रिस्तानों की ओर लपके
और मुर्दों पर पड़ी चादरें उतारने लगे
जो गंदी और पुरानी थीं
फिर वे नयी चादरें लेने चले गये।
जब लौटकर आये तो मुर्दों की जगह
गिद्ध बैठे थे।"[1]

(ख) "इस गरीब धरती के
निहत्थे आदमियों की ओर से
कह दो ;
जब सारे अस्त्र जवाब दे जाएँ
तब उस पत्थर से
वे इन्सानियत का सिर फोड़ें
जिसे वे चाँद से लाये हैं"।[2]

यही नहीं सर्वेश्वर ने कविता के नाम पर चलाये गये बेमतलब आंदोलनों को पीछे धकेलकर ; उन्हें अहमियत न देते हुए अपनी कविता जारी रखी है। उन्होंने

1 कुआनो नदी · गरीबी हटाओ पृ॰ 43
2 वही कम्बोदिया पृ॰ 78

कविता का जिया है; उसे कहीं चमत्कार, वैभव और समय-समय पर कुकुरमुत्ते की तरह उगे नये-नये नामों के पीछे दौड़ लगाते हुए हल्की नहीं होने दिया है। यही कारण है कि उनकी कविता भाव से विचार और विचार से तपन की ओर बढती गई हैं और उनके शब्द क्रमशः बर्फ से आग और आग से गोले बनते गये हैं, पर यह सब एक सहज-प्रक्रिया के रूप में हुआ है। इसी प्रयत्न में उन्होंने उन रूढियो को तोडा है; उन मूल्यों को राख के ढेर में बदल दिया है जो समय की कसौटी पर कचन प्रमाणित नहीं हो सके या अपनी प्रासंगिकता की गवाही नहीं दे सके हैं। यह सब इसलिए किया गया है कि उनकी जीवन-दृष्टि आधुनिक है; समसामयिक है और है सघर्ष को संघर्ष मानकर जूझने वाली। उनकी कविताओं में युगीन समस्याओ के प्रति साहसिक जागरूकता मिलती है; उनमें जीवन के प्रति एक हिस्सेदारी व्यक्त हुई है।

'सर्वेश्वर' मध्यवर्गीय चेतना के कवि हैं। उन्होंने जिन्दगी को उलट-पुलट कर देखा है और अनुभव किया है कि 'रोमांटिक' भावावेग और कल्पना की विवृत्ति से काम चलने वाला नहीं है। जो अनुपयुक्त है उसे छोड़ना आधुनिकता का लक्षण है और कहना गैर जरूरी है कि सर्वेश्वर पूरी तरह आधुनिक हैं। हाँ भावुकता को छोडकर एकदम बौद्धिकता के परिवेश में उन्होंने छलांग नहीं लगाई है। वे इन दोनो के मेल से उत्पन्न या कहूँ कि भावावेग के त्याग और बौद्धिकता के ग्रहण के मध्य-बिन्दु पर जो तनाव का क्षण है; उस पर भी हाजिर रहे है। यही वजह है कि 'एक सूनी नाव' की कविताओं में उनकी भावुक मनःस्थिति के बिम्ब भी आ गये हैं, पर ध्यान रहे यह भावातिरेक छायावाद से भिन्न है। इसमें भावावेग तो है, पर भाव विलास नहीं; रोमांटिक स्पर्श तो है; पर कवि के पैर जमीन से टिके रहे है। वे अतीत के प्रति आसक्ति रखते हुए भी वर्तमान के अनुभव-जगत को कहीं नहीं भूले है। फलतः एक तनाव बिन्दु बराबर रहा है जो कवि को समसामयिक बनाये रख सका है। 'यहीं कहीं एक कच्ची सड़क थी' कविता को ही लें तो बात साफ हो सकती है। इसमें एक ओर तो कवि ग्रामीण जीवन के प्रति आसक्त दिखलाई देता है और दूसरी ओर पश्चिम के सतही अनुकरण से क्षुब्ध भी है। इस तरह कविता भावावेग से शुरू होकर भी पूर्व और पश्चिम की टकराहट की समस्या बन गई है। फिर यह समस्या तो सभी आधुनिकों को—विशेपकर साहित्य-सर्जकों को मथती रही है और हरेक कवि भारतीय व्यक्तित्व की खोज में रत रहा है। सर्वेश्वर की समस्या यह तो है ही, यह भी है कि हमारा परिवेश बाहर से बदला जा रहा है, पर भीतर से बदलने का कोई ठोस चिह्न कहीं नजर नहीं आ रहा है। फलतः दो परिवेश कविता में साथ-साथ रख दिये गये हैं और संकेत किया गया है कि यदि इस मिलन से-इस संघर्षण से; यदि कोई नयी चेतना, नयी शक्ति फूट सके तो बेहतर है। कवि का सकेत यही है

"सुनो ! सुनो !
यहीं कहीं एक कच्ची सड़क थी
जो मेरे गाँव जाती थी :

×× ××

अब वह कहाँ गई ?
किसने कहा उसे पक्की सड़क में बदल दो
उसकी छाती बैलौस कर दो
स्याह कर दो यह नैसर्गिक छटा
विदेशी तारकोल से
×× ××
किसने कहा झूँठी उद्दाम वासना के
प्रखर सूर्य में अग्नि सी तपे
किसने कहा वह चटकीले साइनबोर्ड—
गले में लटकाकर, निस्तेज चुहल से भरी
सिनेमा, क्लब, थियेटर, फैशन की दुकानों पर घूमे ··।[1]

नयी कविता उपेक्षित, गर्हित और छोटे से छोटे आदमी की कविता है। उसमें लघुमानव के लघुतम क्षणों और उसकी क्षण-प्रतिक्षण की स्थितियों का अंकन हुआ है। वह न केवल वर्तमान को अपना कथ्य बनाती है; अपितु वर्तमान के भी उस क्षण या क्षणांश को अपनाकर चली है जो कभी भी कविता का विषय नहीं रहा। सर्वेश्वर की कविता भी इसका अपवाद नहीं है। उसमें महिमा को छोड़कर लघिमा को विषय बनाया गया है; 'वृत्त' को महत्व न देकर अनुभव-खण्डों को महत्व दिया गया है। अतः सर्वेश्वर समय से, समाज से, जीवन से और परिवेश से जुड़े रहे हैं। लोक-संपृक्ति की भावना उनकी कविताओं का प्राणद तत्व है। वे लोक की हर साँस; हर धड़कन, हर शब्दावली और हर उस स्थिति को अनुभव के दायरे में ले आये हैं जो कवि को जीवन का कवि बना सके। जिन कविताओं में लोक-संसिक्ति मिलती है, "उनके माध्यम से यह अच्छी तरह समझा जा सकता है कि सर्वेश्वर ने नयी कविता के लिए वह किया जो आधुनिक खड़ी बोली काव्य के आरम्भिक युग में मैथिलीशरण ने किया था। तद्भवता, सार्वजनीनता और व्यापकता उनके कृतित्व के मूल गुण हैं।"[2] नये कवि की इस कारगुजारी को "मैंने कब कहा" कविता में

---

1. बाँस का पुल : यहीं कहीं कच्ची सड़क थी पृ० 44
2 डॉ० चतुर्वेदी नयी कविताएं एक साक्ष्य पृ० 19

देखा जा सकता है। 'काठ की घंटियाँ' की कई कविताओं में लोक-सम्पृक्ति की भावना गहरी भी है और स्पष्ट भी है :

> "धरती डोलूँ अम्बर डोलूँ हाथ न उनके आऊँ रे।
> हरी चूड़ियाँ, हरी चुनरिया
> हरी नीम की डाल रे।
> मोर पिया बदराबन हेरे झाँकू फिर छिप जाऊँ रे।
> धरती डोलूँ, अंबर डोलूँ हाथ न उनके आऊँ रे।"[3]

इसी क्रम में सर्वेश्वर की 'चरवाहों का युगलगान,' आए वसंत महंत, 'हेमंत की संध्या' और 'मेघ आये' जैसी कविताओं को भी पढ़ा जा सकता है। इनमें लोक-सपृक्ति सहज, आत्मीय और गहरी है।

नयी कविता का इतिहास साक्षी है कि नये कवियों ने जो सृजन प्रस्तुत किया है; उसमें समय, परिवेश और समसामयिक जिन्दगी के वैविध्यमय चित्र मिलते हैं। ये चित्र आत्मचेतस् और समय की नाड़ी को पहचानने वाले कवियों ने प्रस्तुत किये हैं। इन कवियों की दृष्टि के गोलक में वह सब सिमटता रहा है जो हमसे, हमारे परिवेश और जीवन से जुड़ा है। कथ्य और शिल्प दोनों ही क्षेत्रों में नयी कविता का प्रदेय विशिष्ट रहा है। उसने यह प्रमाणित कर दिया है कि आज कविता अपने समय से आँख मूँदकर नहीं लिखी जा सकती है। सच्ची कविता अपने समय का लेख होती है और सच्चा कवि ही उसका ईमानदार सर्जक होता है। यह सच्चाई; यह परिवेशबद्ध दृष्टि और इस सबको निरूपित करने वाले कवि कम होते हैं। नयी कविता मे भी ऐसे सही सर्जक कम ही रहे हैं। जो भी रहे है उनमें सर्वेश्वर का कृतित्व रेखांकित करने योग्य है। उन्होंने युग की कातर आँख में अधिक सौन्दर्य देखा है; उस जीवन में अधिक झाँका है जो मध्यवर्गीय है और जिसकी वर्णमाला का हरेक अक्षर कविता का विषय बन सकता है। ऐसे सजग; अनुभवों के दबाव से घिस पिटकर सालिगराम बने, जिजीविषायुक्त, समय के सार्थवाह और ईमानदार कवियों मे 'सर्वेश्वर' का काव्य जिन्दगी की तहों से निकलकर कभी व्यंग्य से, कभी सपाटता से और कभी यथार्थवाही शैली में ढ़लकर सामने आता रहा है। उनके कृतित्व के विकास की दिशा एकरस नहीं है। वह हर बार एक नये ढग से शुरू हुई है और बराबर ताजगी; समसामयिकता को अभिव्यक्ति देती रही है। 'सर्वेश्वर' की

---

1 काठ की घटियाँ पृ० 350

काव्य-यात्रा विद्रोह और सामाजिक यथार्थ से शुरू हुई है; बीच में रोमानी रही है; पर उसमें भी संतुलन है; कोरा भावातिरेक नहीं है। अपने तीसरे चरण में पहुँचकर वह अनुभूति से विचार; विचार से विचारानुभूति की ओर बढ़ी है। उनकी भाषा में आये शब्द जो कभी वर्फ की सिल्लियों पर बेखटके दौड़ते थे, वे ही वैचारिक संदर्भों की अधिकता के कारण आग हो गये हैं। उनमें ताप आ गया है। सर्वेश्वर की काव्य-यात्रा में जीवन के सतही यथार्थ का अभिव्यंजन न होकर आंतरिक तत्वों की प्रस्तुति है। उनका काव्य परिवेश का साक्ष्य प्रस्तुत करता हुआ उन्हें अपरिहार्य नये कवि प्रमाणित करता है। अतः नयी कविता यदि समय की शिला पर लिखी गई कविता है तो उसमें सर्वेश्वर की लिखावट न केवल साफ समझ मे आती हैं; अपितु आत्मीय भी लगती है। 'कुआनो नदी' और 'जंगल का दर्द' की कविताओं में तो यह आत्मीयता समय की सच्चाइयों से जुड़कर और भी अधिक प्रभावी रूप लेकर आई है। इन संग्रहों में सर्वेश्वर का कवि भावात्मक सवेगों की जकड़ से निकल कर विचार, संघर्ष और तर्क की ओर तेजी से कदम बढ़ाता लगता है

द्वितीय अध्याय

सृजन के सोपान

काठ की घंटियाँ

बाँस का पुल

एक सूनी नाव

गर्म हवाएँ

कुआनो नदी

जंगल का दर्द

'सर्वेश्वर' की संवेदना के दायरे में जो आयाम संग्रथित हैं, वे उन्हें जीवन का सर्जक प्रमाणित करते हैं। उसकी संवेदना की विविधता यह प्रमाणित करती है कि वे रोमांस के पलों को बटोरते हैं; उनकी स्मृतियों के दंश सहते है और अकेलेपन के बोझ से दबते हुए भी आंतरिक शक्ति संचित कर समसामयिक परिवेश के गवाह बनकर जीवन से गहरी संसिक्ति प्रकट करते हैं। उनकी समस्त काव्य-यात्रा इसकी गवाह है। उनकी कविताएँ एक भोक्ता-सर्जक की ईमानदार प्रस्तुतियाँ हैं और तभी उनके रंग गहरे, स्थायी और विश्वसनीय लगते हैं। सर्वेश्वर के समस्त काव्य-विकास के लिये कोई सूत्र तलाशा जाय तो वह यही होगा कि वे अनुभूति से विचारानभूति और विचारानुभूति से विचार तक आये हैं। कभी उनकी कवितागत अनुभूतियाँ सागर पर लहर की तरह थिरकती थीं और अब सागर में छिपे ज्वार के दृश्य दिखलाती हैं। ठीक हैं सूरज की पहली किरण अपेक्षाकृत अलसित और शीतल होती ही है। धीरे-धीरे ताप बढ़ता जाता है और मध्याह्न पर वही ताप अधिक गरमाहट देने लगता है।

सृजन के सोपान

सर्वेश्वर का काव्य संवेदना के धरातल पर विशिष्ट है। उनकी संवेदना के वृत्त में जीवन के विविध संघर्ष और अनेकानेक संदर्भ आकर मिल गये हैं। उसमे उनके आस-पास के तिक्त-मधुर; संगत-असंगत, राजनैतिक-सामाजिक और निजी सदर्भों का एक सही मानचित्र मिलता है। 'सर्वेश्वर' की संवेदना के दायरे में जो भी आयाम संग्रथित हैं, वे उन्हें जीवन का सर्जक प्रमाणित करते हैं। नयी कविता की विकास-यात्रा में जिन कवियों का योगदान है, उनमें सर्वेश्वर के निशान गहरे है, उनकी पहचान साफ और अलग है। मध्यवर्गीय जिन्दगी को निकट से देखकर उसमें घटित सब कुछ को गहरी नजर से पकड़कर जिस सहज और ईमानदार शिल्प मे सर्वेश्वर ने ढ़ाला है वैसी स्थिति न तो अज्ञेय की है; न गिरिजाकुमार की, न भारती की और न भवानीप्रसाद मिश्र की। अज्ञेय सहज से प्रारम्भ करके आभिजात्य पर पहुँच जाते हैं - अपनी अनुभूतियों को निष्कर्षो तक ले जाते हैं तो भारती रोमानी भावों में डूबते-उतरते रहते हैं। गिरिजाकुमार रंग, रहस्य और रोमास की जमीन से इस कदर चिपके हैं कि 'भीतरी नदी की यात्रा' करते हैं। हाँ; उनकी तुलना में भवानीप्रसाद मिश्र की कविताएँ अधिक निकटता महसूस कराती हैं, किन्तु सूत्रों के सहारे निष्कर्षों तक पहुँचने की प्रवृत्ति और गम्भीर के बीच अगभीर व अगभीर के दौरान गम्भीर को मिलाकर प्रस्तुत करने की आदत उनकी सीमा भी निर्धारित कर देती है। सर्वेश्वर ऐसे नहीं हैं। वे अपने अनुभवों को अनुभूतियों का रूप देकर जिस रूप में प्रस्तुत करते हैं, वह उनकी संतुलित संवेदना-क्षमता को उजागर करता है। फिर उनकी संवेदना की विविधता यह प्रमाणित करती है कि वे रोमांस के पलों को बटोरते हैं; उनकी स्मृतियों के दंश सहते हैं; अकेलेपन के बोझ से दबते हुए भी आन्तरिक शक्ति संचित कर समसामयिक परिवेश के गवाह बन कर जीवन के प्रति गहरी संसिक्ति प्रकट करते हैं। उनकी समस्त काव्य-यात्रा इसकी गवाह है। उनकी कविताएँ एक भोक्ता-सर्जक की प्रस्तुतियाँ हैं, तभी उनके रंग गहरे, स्थायी और विश्वसनीय लगते हैं।

सर्वेश्वर के सृजन के पीछे कुछ कारण रहे हैं। उन्होंने शौकिया नहीं लिखा है। यों तो हर-सृजन किसी न किसी दबाव का परिणाम होता है; पर सर्वेश्वर का सृजन अनेक कारणों का प्रतिफल है। इस सम्बन्ध में उनका कहना है कि मैंने स्वयं कविता लिखने की लाचारी न महसूस की होती यदि :

"अधिकांश पुराने कवि छन्द और तुक की बाजीगरी के नशे में काव्य-विषय की एक संकीर्ण परिधि में घिरकर व्यापक जीवन के संघर्षों को भूल न गये होते और उन्हें कविता के विषयों में से निकाल न देते; यह माना गया होता कि संसार का कोई भी विषय कविता का विषय है और कवि की दृष्टि इतनी व्यापक होनी चाहिए कि वह उस कोण से भी देख सके जहाँ से वह संवेदना को छूता हो; यह सत्य स्वीकार कर लिया जाता कि भावनाओं की नयी परतें खोलने और संवेदना के गहनतम स्तरों को छूने के लिए कविता ने सदैव नये रूपविधान धारण किये हैं ········· ··· वर्तमान मठाधीश कवि अपनी औकात घटने के डर से नये प्रयोगों के खिलाफ़ उछल-उछलकर चिल्लाते नहीं, उन्हें गलत कहने के लिए दलबन्दी न करते, रिश्वतें न देते, बल्कि सद्भाव से उन्हें अपनाते, अपनी प्रतिभा का (यदि वह है तो) उपयोग रचनात्मक स्तर पर करते, बदलते युग और मूल्यों को अपनाने के लिये अपने सीने चौड़े करते और अपनी दृष्टि प्रखर करते।"[1]

जाहिर है कि सर्वेश्वर ने व्यापक जीवन संघर्ष, वर्ण्य-विषय की विविधता-विस्तृति, कवि-दृष्टि की व्यापकता, नयी संवेदनाओं की अभिव्यंजना तदनुकूल शिल्प के औचित्य प्रतिपादन के लिए लिखा है। वे अपने सृजन के दौरान बराबर यह महसूस करते रहे हैं कि नये सर्जक को अनेक संघर्ष झेलने पड़ते हैं। ये संघर्ष न केवल बाह्य होते हैं; अपितु आंतरिक भी होते हैं। सर्जक वही है जो बदलते परिवेश में नये उभरते मूल्य-मानों को अपनाता हुआ अपनी दृष्टि को माँजता है और रचनात्मक स्तर पर अपनी प्रतिभा का उपयोग करता है। कहने की आवश्यकता नही कि सर्वेश्वर ऐसे ही कवि हैं। उनकी काव्यगत संवेदनाओं में वैविध्य है, नवीनता है और उनकी अभिव्यजना नये रूप विधान द्वारा की गई है। इतने पर भी यह अविस्मरणीय है कि सर्वेश्वर ने रूप विधान की तुलना में विषय-वस्तु को अधिक महत्व दिया है। विषयवस्तु जितनी तीव्र, सघन और प्रभावी होगी; कविता उतनी ही सच्ची होगी। रूप-विधान का अनुशासन स्वीकार कर लेने पर वर्ण्य-विषय का प्रभाव न केवल कम हो जाता है; अपितु मूल वस्तु ही दब जाती है और उसका दबना कविता की मौत है। हमे सर्वेश्वर की कविताओं को भी इसी भूमिका पर रखकर परखना चाहिए। 'काठ की घंटियाँ' से लेकर 'जंगल का दर्द' तक की कविता-यात्रा इसी तथ्य की स्वीकृति है।

---

1 तीसरा सप्तक सर्वेश्वर का पृष्ठ 208 209

आज का निम्नमध्यवर्ग जिस दर्द को भोग रहा है, जिस अधूरी और सतही जिन्दगी को जी रहा है, वह कम तीखी और कड़वी नहीं है। फिर सर्वेश्वर तो मध्यवर्ग के प्रतिनिधि कवि हैं। अतः उसे शब्दबद्ध करना उनके लिए सहज भी है और अनिवार्य भी। इस अर्थ में वे मुक्तिबोध के समीपी हैं, पर 'एप्रोच' का अन्तर, रचना प्रक्रिया का अन्तर, दोनों में आकाश और धरती का अन्तर बना देता है। जिन्दगी के संघर्ष, दर्द, रिक्तताएँ और कृत्रिमताएँ उन्हें कचोटती हैं और वे अजनबीयत व अकेलेपन की स्थितियों से गुजरते दिखाई देते हैं। टकराहट, नैतिक वर्जनाएँ, सामाजिक जर्जर रूढ़ियाँ, राजनैतिक अव्यवस्था, रोजमर्रा की धकापेल, आर्थिक वैषम्य आतरिक-बाह्य संघर्ष, व्यवस्थाजनित अव्यवस्था; सत्ताधीशों की पदलोलुपता, प्रशासनिक अक्षमता और अकर्मण्यता, जीवनव्यापी असन्तोष, अवसाद और मोहभंग आदि की स्थितियाँ सभी कुछ सर्वेश्वर के काव्य-वृत्त में आकर सिमट गया है। ऐसा नहीं है कि सर्वेश्वर ने प्रेमिल संदर्भों से अपने को काट लिया है। वे कट कैसे सकते हैं? वे भी तो जीवन का अहम हिस्सा है। हाँ; आज इन संदर्भों के सम्बन्ध-रूप बदल गये हैं। अतः सर्वेश्वर ने इनके बदले रूप को बदले हुए रूपविधान के द्वारा प्रस्तुत किया है। सामाजिक, राजनैतिक और वैयक्तिक परिवेश में आये परिवर्तन की चोट सहकर जो टूटन-घुटन, व्यक्तित्व की निरुद्देश्यता, सामाजिक रिक्तियां उभरी हैं; वे सबकी सब सर्वेश्वर की कविताओं में आकार पा सकी हैं। यही कारण है कि वे हमें प्रभावित करती हैं और बहुत अपनी लगती हैं। सर्वेश्वर 'तीसरे सप्तक' के कवि होने के साथ-साथ 'काठ की घंटियाँ', 'बाँस का पुल; 'गर्म हवाएँ', 'कुआनो नदी' और 'जंगल का दर्द' के भी कवि है। इन सभी में कवि अनेक बिन्दुओं पर अपनी उपस्थिति बतलाता है।

'सर्वेश्वर' की काव्य-साधना निरन्तर गतिमान रही है। वह एकरस और आद्यंत एक जैसी नहीं है। अतिरंजित भावावेग से मुक्ति का प्रयास, जर्जर रूढ़ियों के ध्वंस पर कुछ नया कर पाने की लालसा, परिवेशव्यापी विसंगतियों और साहित्य-जगत में फैली अराजकता और मनमानी से उत्पन्न अनिश्चय, अवसाद के भाव, युग की विभीषिकाओं के कटुतम घूँटों को पीकर निरन्तर आगे बढ़ने की उदग्र उदीषा तथा रोमांटिक मनोभूमि से चिपके रहने के अनिवार्य परिणाम के रूप में विकसित निराशा, वेदना और अकेलेपन का बोध सर्वेश्वर के प्रारम्भिक सृजन का प्रस्थान बिन्दु है। 'बाँस का पुल' में दर्द कुछ गहरा हो गया है। कवि प्रेम और तज्जनित मनोभावों जैसे निराशा, टूटन, अवसाद आदि को झेलता हुआ प्रकृति की छाँह टटोलता है। यों उसका दर्द प्रेमजन्य और वैयक्तिक संघर्ष जनित अधिक है, पर सामाजिक विभीषिकाओं से उत्पन्न तड़प, और टीस का स्वर तथा विवशताओं का एक जंगल भी उसके सामने खड़ा है। 'एक सूनी नाव' में अकेलापन अधिक है दर्द फैल गया है।

यही कारण है कि कवि सब ओर से कटकर एक कोने में जा बैठने की मुद्रा लिए हुए है। वह अपने एकांत को ही अपना विजय-स्थल मानता है, किन्तु इस एकाकीपन की मुद्रा में ही वह समाज की विविध छवियों के 'स्नैप्स' लेता रहा है। 'एक सूनी नाव का अकेलापन 'गर्म हवाएँ' में टूट गया है। चारों ओर से चलती गर्म हवाएँ उसके तेवर बदल देती हैं। अतः उसका मूड ही नहीं; भाषा भी बदल जाती है। चिकने, वर्फीले और मोहक शब्दों मे तपन, उष्णता और आग का स्पर्श आ जाता है। यों वह अपने पहले के सन्दर्भों को छोड़ता नहीं है; किन्तु फिर भी यह तय है कि कवि यहाँ संघर्ष में जीता है। वह जो भोगता है, जो-जो देखता और महसूस करता है, उसी सहने और जीने, सोचने और समझने से आंतरिक रिश्ता कायम करता हुआ विद्रोही लगता है। 'कुआनो नदी' में यह विद्रोह भी है पर कवि जनजीवन का सामाजिक इतिहास भी लिखता चला गया है। उसने अब तक जो पीडा जो विद्रोह और जो तपन इकट्ठी की थी, वही 'कुआनो नदी' में शब्दों का सागर उँडेलती चली गई है। इसमें जनक्रांति का स्वर प्रबल है, कवि दर्द की नीलिमा को, संघर्ष की कालिमा को और जीवन-व्यापी कत्थई अँधेरे को क्रान्ति के रंग में बदलने को आतुर दिखलाई देता है। 'कुआनो नदी' का यही रूप 'जंगल का दर्द' में पर्यवसित होकर अधिक व्यापक हो गया है। 'जंगल का दर्द' में वर्तमान भारतीय जीवन का बहुआयामी दर्द प्रतिध्वनित हुआ है। परिवेश की कडी मार, स्थितियों का अनमापा दबाव और विसंगतियों का 'स्लोपोड्जन' कवि को धधकती आग में कूदने की प्रेरणा देता है। वह बर्फ की चिकनी और ठंडी सतहों को छोड़कर काटती-तपाती आग का विश्वासी हो गया है। उसके शब्द भी निरे शब्द नहीं रहे है, तोप-गोले हो गये हैं। वे अंगारों से धधकने लगे हैं। इस तरह यदि सर्वेश्वर के समस्त काव्य-विकास के लिए कोई सूत्र तलाशा जाय तो वह यही होगा कि वे अनुभूति से विचारानुभूति और विचारानुभूति से विचार और तर्क तक आये हैं। कभी उनकी कविताएँ अनुभूतियों के सागर पर लहर की तरह थिरकती थीं और अब सागर में छिरे ज्वार के दृश्य दिखलाती हैं। ठीक है सूरज की पहली किरण अपेक्षाकृत अलसित और शीतल होती ही है। धीरे-धीरे ताप बढ़ता जाता है और मध्याह्न पर वही ताप अधिक गरमाहट देने लगता है। मेरे इस निष्कर्ष को सर्वेश्वर की काव्य-कृतियों के क्रमिक विश्लेषण से समझा-समझाया जा सकता है।

काठ की घण्टियाँ

'सर्वेश्वर' का काव्य-सृजन 'तीसरा सप्तक' से प्रारम्भ हुआ है। इसी के साथ 1959 में ही उनका 'काठ की घंटियाँ' संग्रह प्रकाशित हुआ। 'तीसरा सप्तक' की प्रायः सभी कविताएँ इसमें आ गई हैं। अतः उन सभी का विवेचन काठ की घंटियों के साथ ही किया जा रहा है यह है कि की दृष्टि

से 'तीसरा सप्तक' की कविताएँ कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नही रखती हैं। 'काठ की घंटियाँ' में सर्वेश्वरजी की 71 कविताओं को स्थान मिला है। शेष पृष्ठों में 20 कहानियाँ और एक लघु उपन्यास 'सोया हुआ जल' को स्थान दिया गया है। कवि और कथाकार दोनों ही रूपों में यह कृति सर्वेश्वर के विश्वसनीय सृजन को प्रस्तुत करती है। उनकी कहानियों और कविताओं में गहरे उतरने का प्रयत्न दिखलाई देता है। कारण; उन्होंने कहीं भी बाहरी वास्तविकताओं से किनारा नहीं किया है, किन्तु फिर भी लगता है कि सर्वेश्वर और आगे जाना चाहते हैं। अज्ञेयजी ने लिखा है कि "उनकी गद्य रचनाओं मे भी एक प्रकार की काव्यमयता है। गद्य मे भी यथार्थ को मूर्त करने के उनके साधन कवि के साधन हैं। रूपाकारों का वर्णन वहाँ प्रधान नहीं है और बिम्ब अथवा संकेत ही यथार्थ को दर्शाते नहीं, अवगत कराते हे। निस्सन्देह इसका एक कारण यह भी है कि कहानियों में भी कविता की भाँति सर्वेश्वर 'जो दिखता है' उसके पीछे 'जो है' उससे व्यस्त हैं और उसे उभारकर सामने लाना चाहते हैं। यह नहीं कि जो दीखता है, जो खत्म ही है, उसे वे मिथ्या या अयथार्थ मानते हैं. बल्कि स्वय मिथ्या भी अयथार्थ नहीं है। फिर भी आकारों की झिल्ली में जो अभिप्राय रुँधा हुआ है और घुट रहा है वह मुक्त होकर सामने आवे, यही उनका आग्रह है। इसीलिए जहाँ उनकी रचनाओं में परिस्थितियों के प्रति विद्रोह का भाव और परिवर्तन की आकांक्षा है, वहाँ यह स्पष्ट है कि वे बाहर को बदल देने से ही संतुष्ट नहीं है। उसकी व्यर्थता समझते हुये वे 'भीतर से बदलने-पर' बल देते हैं।"[1] कहना यह है कि सर्वेश्वर अपने गद्य में भी काव्य के साधन लिये हुए हैं। उनके बिम्ब और प्रतीक, उनकी वर्णना और विश्लेषण-पद्धति सभी का का रूप कविता का है। ऐसी स्थिति आज भी है। वे मूलतः कवि हैं बावजूद अपने कथा-सृजन और नाट्य सृजन के। आलोच्य सग्रह की कविताओं में सर्वेश्वर उस यथार्थ को सामने लाने के लिए प्रयत्नरत रहे है जो परिस्थितियों के नेपथ्य से झाँकता है। उनका स्वर मिठास का भी है और विद्रोह का भी है। तिक्त और मधुर का यह योग अस्वाभाविक नही; अनिवार्य बनकर अभिव्यक्त हुआ है। अधिकतर कविताओं की आत्मा से उनकी परिवर्तन-कामना झाँकती प्रतीत होती है। वे बाहर के देखे हुये को अन्दर अनुभव करते है और अन्तर्बाह्य दोनों स्तरों पर परिवर्तन को प्रोत्साहित करना चाहते हैं।

'काठ की घंटियाँ' मे जो कविताएँ स्थान पाये हुए हैं वे तीन प्रकार की है। पहले वर्ग में वे कविताएँ आती है जिनमें दर्द, प्रेम, निराशा और अवसाद के घने स्वर है। दूसरे वर्ग में वे कविताएँ हैं जो कवि की सौन्दर्यानुभूति को व्यक्त करती हुई भी उनके मानस की व्यथा; अकेलेपन और तत्सम्बन्धित भावों को वाणी देती

---

1 काठ की घंटियाँ भूमिका पृ० ८

हैं। तीसरा वर्ग उन कविताओं का है जिनमे कवि निजी वेदना को समाज की वेदना से मिलाकर प्रस्तुत करता है। इसी सामाजिक चैतन्य की भूमिका पर कवि जन-जीवन की व्यथा; विसंगत स्थितियों और समाज में निरन्तर बढती कृत्रिम स्थितियों को व्यंग्य के सहारे प्रकट करता है। असल में सर्वेश्वर यहाँ आतरिक संवेदनों के कवि बनकर ही सामने आये है। उनकी आंतरिकता जब बाहर के परिवेश से मिलती है या जब वे अपने आंतरिक संसार में परिवर्तन लाना चाहते है तो उन्हें बाहर भी देखना पड़ता है क्योंकि वे जानते हैं कि परिवर्तन अन्तर्बाह्य दोनों स्तरों पर अपेक्षित है। वे आंतरिक शक्तियों-करुणा, इन्सानियत और मानवीय सवेदना के अधिक विश्वासी हैं और उनका सारा प्रयत्न इसी केन्द्रवर्ती विचार पर अवलंबित है। जब युग विकृतियों की ओट से चोट कर रहा हो और जब आतरिकता विनष्ट हो रही हो तो उसी की सुरक्षा के लिए संघर्ष जरूरी है। सर्वेश्वर ने बराबर यह प्रयत्न किया है कि अन्तर्बाह्य में एकाकारता हो पर हमेशा ऐसा हो नही पाया है। कहीं-कहीं आंतरिक और बाह्य को मिलाने की कोशिश में दो संसार अलग-अलग रचते गये हैं। आंतरिकता का दबाव और परिवेश का अपरिहार्य सघर्ष जब उन्हें चोट पहुँचाता है तो तनाव पैदा होता है और इसी तनाव के कारण वे व्यग्यकार हो जाते है। 'काठ की घंटियाँ' की कई कविताएँ इसी जमीन की उपज है। वर्तमान जीवन की बिडम्बना यही है कि आंतरिक और वाह्य दोनों एक दूसरे की सीमाओं में प्रवेश करते हैं और कवि अनिर्णय के दौर से गुजरता है। इसी भूमिका पर जब दोनों सहचरण करते है; सहअस्तित्व कायम करते हैं तो बेचैनी और तनाव कविता का विषय बन जाते हैं। यह तनाव उस स्थिति में और बढ जाता है जब कवि जटिल युगबोध के भीतर आंतरिक जीवन-मूल्यों की खोज करता है—आत्मसाक्षात्कार करता है : 'सुनो अब जिया जाता नहीं/नित्य के इस स्वाँग से मैं थक गया हूँ/हो सके तो बस करो/साँस मेरी घुट रही है/कहो तो चेहरे लगाना छोड़ दूँ/अभी कब तक चलेगा अभिनय तुम्हारा ? .... लगा चिल्लाऊँ जोर से शक्तिभर/इस बुझी वीरानवादी में/सभ्य हूँ मैं/जमाना जैसा बनायेगा बनूँगा/......... कहाँ जाऊँ/पर न जाने क्यों/बोल मैं पाया नहीं।"[1]

काठ की घंटियाँ' में दर्द, निराशा और अवसाद के घने स्वर हैं। 'दर्द' इस सग्रह का 'की नोट' है। यह अनेक कविताओं में अनेक भंगिमाएँ लेकर उभरा है। कहीं यह अनुभूत की अनभिव्यक्ति के कारण; कहीं सामाजिक विकृतियों के फैलाव के कारण और कहीं प्रेम के कारण। एक बन्द समाज का दर्द स्मृति के कब्जों से कसा हुआ होने से अभावों और कुंठाओं को विस्तार देता है। वह अपने

---

1 काठ की घंटियाँ - पृ 412-416

दर्द को लेकर जी रहा है : "एक मैं ही हूँ—कि मेरी साँझ चुप है/एक मेरे दीप मे ही बल नहीं/एक मेरी खाट का विस्तार नभ सा/क्योंकि मेरे सीस पर आँचल नही है"[1] /कुछ कविताओं में रोमांटिक मनोभाव के घने अवसाद में मृत्यु जैसा ठण्डापन है तो कही यह अवसाद मात्र अतृप्ति और निराशा को व्यक्त करता है। 'मैंने आवाज दी', 'यह तो परछाँई है और 'यह साँझ' में जो दर्द है—अवसाद की जो घनता है वह न केवल ठण्डापन लिये हुए है; बल्कि निर्ममता भी लिए हुए है। कवि जब कहता है कि—

"बोलना चाहता है, अपनी ही पगध्वनि से बोल,
दर्द की गाँठ तू अपने ही छालों पर खोल
अपनी उखड़ी हुई साँसों पे ही रूमाल हिला
अपने थकते हुए कदमों से ही तू हाथ मिला"[2]

\+ + + +

छाँह की मुझको जरूरत नहीं है रहने दो—
इस बची राख को अब कोई क्या जलायेगा !
चूस डाली हो जमाने ने रोशनी जिसकी
वह बुझा दीप उजाले में कौन लायेगा ![3]

'दर्द थिरता नहीं' में दर्द गहरा होकर आया है तो 'शांतिमय तुम हो' मे कवि दर्द के महासागर से घिरकर अकेलेपन के बोझ से दबकर कह उठा है : 'दर्द के इस महासागर से कहो/सामने मेरे न चीखे/मैं अकेला हूँ"[4] सर्वेश्वर की इन कविताओं में 'दर्द' का जो रूप है वह एक ऐसी स्थिति को व्यक्त करता है जिसमे पीडा दृष्टि देती है; नया मार्ग अपनाने को प्रेरित करती है। ऐसा इसलिए कि कवि अपने निजी दर्द को सामाजिक परिप्रेक्ष्य में देखता है। ऐसा कब हुआ है कि 'दर्द' जीवन को दिशा देता रहा हो, परन्तु सर्वेश्वर का दर्द उनके अकेले के दर्द का गवाह नहीं है, वह तो इसी सामाजिक व्यवस्था में समाया हुआ है। अमानवीय स्थितियों के प्रसार; कृत्रिम और पाशविक वृत्तियों के विस्तार तथा सामाजिक—आर्थिक व्यवस्था के परिवर्तित स्वरूप ने कवि की पीड़ा को युग की त्रासदी बना दिया है। सर्वेश्वर ने अपने जिस दर्द को व्यंजित किया है वह उनकी अभिव्यक्तिगत ईमानदारी का सबूत तो है ही; उन्हें निराशा और ठंडी स्थितियों से निकल नयी

---

1. काठ की घंटियाँ पृ. 278
2. वही, पृ. 259
3. वही, पृ. 261
4. वही पृ 292

राह अपनाने की शक्ति भी देता है। 'दर्द थिरता नहीं' में उसके दर्द का विस्तार यदि उसे पत्थरों पर सिर पटकने में शांति का अहसास कराता है तो शक्ति का स्रोत भी बन जाता है : "किन्तु फिर भी/नयी आकृति ग्रहण करने को/टूटती काया सँवरती है।"[1] सर्वेश्वर की वेदना प्रेम जनित भी है और सामाजिक व्यवस्था में निरन्तर जमा होती जाती सड़ाँध के कारण भी। तभी तो मानवीय धरातल पर जब उसका विवेक जगता है तो दर्द के दबे हुए पृष्ठ एक-एक कर बिखरने लगते हैं। इससे ऐसा आभासित होता है कि कवि का दर्द उन सभी मामूली आदमियो के दर्द का भी साक्षी है जो वर्तमान व्यवस्था में कुछ भी कर नहीं पाता है।

'काठ की घंटियाँ' मे जो कविताएँ रोमानी भावबोध को व्यक्त करती है उनमें प्रेम का उल्लास तो है; पर उससे भी ज्यादा अवसाद, निराशा और स्मृतियो का दंश है। 'यह भी क्या रात', 'सुहागिन का गीत', 'विवशता' और बीसवीं शताब्दी के एक कवि की समाधि पर' कविताओं में प्रेम और उससे जुड़ी हुई विविध अनुभूतियों के बिम्ब हैं, 'प्यासी आत्मा का गीत' और 'फुलझरियाँ छूटीं' कविताओ मे प्रेमजनित वेदना और निराशा का स्वर है। ये वे कविताएँ हैं जिनमे कवि के अवचेतन मे दबी—घुटी इच्छाएँ आकार पा सकी है और कवि अपने लुटे–पिटे विश्वासों को फेंटता हुआ अपने रंगीन प्यार के कोमल क्षणों की समाप्ति पर एक थकी हुई निगाह से देखता रह जाता है—

"लुटे विश्वासों को दोहराता बार–बार
एक चिनगारी में;
ऊपर की लिपटी बारूद खतम हो गई
प्यार के रंगे हुए क्षणों की मौत पर
थकी हुई आँखों की जलपरियाँ टूटीं"।[2]

इसी क्रम में कवि यह भी स्वीकार करता है कि "मैं इस युग के एक कवि का गीत हूँ/जिस पर हर आँधी ने थकावट की पर्त जमाई/जिसके घावों को हर झोंके ने गहरा ही किया/और जिसके अन्तिम घड़ी के अन्तिम प्रयत्न को भी/प्यार करना तो दूर रहा किसी ने दुआ तक नहीं दी।"[3] विगत प्रेम की कसक की व्यंजना को 'एक नयी प्यास', 'चाँदनी से कहो' तथा 'प्रेम नदी के तीरा' जैसी कविताओं में भी देखा जा सकता है, किन्तु स्मरणीय तथ्य यह है कि कवि की इस

---

1. काठ की घंटियां पृ. 290
2. वही, पृ. 289
3 वही पृ 288

कसक का भी एक मानवीय संदर्भ है जिसे कवि ने 'एक प्यासी आत्मा के गीत' में ही स्पष्ट कर दिया है। कवि की कामना यह है कि वह प्रेम की हर स्थिति को स्वीकार कर सकता है बशर्ते "यदि तुम थक कर गिरे हुए/किसी चरण के घाव चूमो/और हर दर्द को सपनों की जयमाल पहना दो"/सर्वेश्वर की प्रेम-भाव-वलयित कविताओं में प्रकृति के सौन्दर्य का योगदान भी कम नहीं है। प्राय: सभी प्रेम कविताओं में प्रकृति का वातावरण है। 'संध्या का श्रम' 'भोर' और 'कलरात' कविताएँ इसका प्रमाण है। इनमें कहीं नारी है; कहीं उसका मानवीकृत रूप है और कहीं भावबोध और प्रतीक योजना की नव्यता है।

आलोच्य संग्रह में कुछ कविताएँ ऐसी भी हैं जिनमें लोक-जीवन की छायाएँ भरी-पूरी आकृति के साथ उपस्थित हुई हैं। 'बनजारे का गीत', 'चरवाहे का युगल गीत', 'झूले का गीत,' सुहागिन का गीत', 'चुपाई मारो', 'आँधी पानी आया' और 'सिपाहियों का गीत' लोक-लय, लोक-भाषा और लोक-जीवन के आकर्षक रंगो से निखरी हुई कविताएँ हैं। नयी कविता में लोक-जीवन के प्रति जो संसिक्ति मिलती है, उसका एक बड़ा भाग 'काठ की घंटियाँ' की कविताओं में सुरक्षित है। 'सावन का गीत' में कवि ने नीम की निबौली के पकने; बयार के सर-सर कर बहने, बदरिया के घिरने और दादुर, मोर, पपीहो के बोल को ही कविताओं में नही बाँधा है; धानी आँचल की सर-सर-फर-फर, चूड़ियो की खनखनाहट वर्षा की अधिकता के कारण नदी नालों के भरने के परिणामस्वरूप प्रिय के आने की आशा की धूमिलता के कारण कलेजे से उठी हूक को भी सुना है। 'झूले के गीत' में लोक-जीवन की मस्ती छलकी पड़ती है तो 'चरवाहों के युगल गान' में नारी और पुरुष स्वर के सहारे लोक-जीवन के उस पक्ष को भी उजागर किया गया है जिसमे पुरुष अपनी प्रिया को अपने पार्श्व में बैठाने को आतुर है। नारी इस अवसर का लाभ उठाकर प्रिय से अपनी इच्छाएँ भी कह देती है तथा पुरुष की सामीप्य-कामना को कई गुना बढा भी देती है। स्पष्टीकरण के लिए एक उदाहरण काफी है :

पुरुष स्वर—"नदिया किनारे, हरी हरी घास, जाओ मत, जाओ मत/
यहाँ आओ पास, दया घोंसला, मोर घरौंदा, बैठो चित्र उरेहो/"

नारी स्वर—"नदियाँ किनारे/सोने कीखान/छुओ मत, छुओ मत/बड़ी बुरी बान/
बिछिया झूमर, मुँदरी तरकी लाओ कहाँ धरे हो/"[1]

'आँधी पानी आया' में भी लोक जीवन की सरस अनुभूतियों को; परिवेश को, पावसकालीन मौसम और लोक-लय, लोक शैली को पूरी ईमानदारी से प्रस्तुत

1 काठ की घंटियाँ पृ० 35

किया गया है। कवि की लोक-संपृक्ति इतनी सहज है कि लगता है जैसे उसकी संवेदना हरेक चित्र व स्थिति में पूरी तरह खुलकर उसकी कविता को नव जीवन दे गयी हो। कहने का तात्पर्य यह है कि 'काठ की घंटियाँ' में कोई एक स्वर नहीं है, अनेक स्वर हैं और सबके सब कवि की ईमानदारी के सबूत हैं। प्रेम, दर्द, निराशा और अवसाद का कवि सर्वेश्वर जब लोक-जीवन की ओर बढ़ा तो उसे उल्लास, हास परिहास; अकृत्रिम-जीवन और प्राकृतिक सौन्दर्य तो मिला ही; सामाजिक परिवेश भी मिल गया। यही कारण है कि 'काठ की घंटियाँ' की कविताओं का एक स्वर लोक-सम्पृक्ति से युग-संपृक्ति की ओर भी जाता दिखलाई देता है। यों तो जैसा मैने लिखा है; सर्वेश्वर व्यक्ति के माध्यम से युग की त्रासदी को व्यंजित करते रहे है, किन्तु कतिपय कविताओं में यह अभिव्यंजना काफी साफ है। ऐसी कविताओं मे 'कलाकार और सिपाही', 'पोस्टर और आदमी', काठ की घंटियाँ, आत्मसाक्षात्कार, और 'सौन्दर्य-बोध' को लिया जा सकता है। इनमें कवि ने अपने समसामयिक अनुभवों को नये मुहावरे में — कहीं व्यंग्य से; कहीं सीधे और कहीं परिवेश से जोड़कर साफ जुबान में कहा है। कवि युग-यथार्थ को ग्रहण करना ही कवि-कर्म मानता है। तभी वह मुस्कानें कम और चोटें ज्यादा बाँटता है। वस्तुतः 'सर्वेश्वर मे न केवल समसामयिकता के भावबोध के गहनतम स्तर उद्‌घाटित हुए हैं, वरन् उसमें इस युग की समस्याओं के प्रति साहसिक जागरूकता है और क्योंकि इन समस्याओं, स्थितियों और प्रश्नों को कवि ने कवि-कर्म के अन्तर्गत संवेदन और अनुभव के स्तर पर ही ग्रहण किया है, अतः इसमे निहित असंगतियो, विकृतियो तथा विरोधाभासों का विसंगतिजन्य व्यंग्य ही प्रधानतः उभरा है। इसी स्तर पर वह समसामयिकता को व्यापक काव्यानुभव बनाने मे समर्थ हुआ है।"[1] इस संग्रह मे आई 'ताँबे का फूल', 'घास काटने की मशीन', 'नीला अजगर', 'सरकंडे की गाडी' जैसी कविताओं में सीधे-सादे ढंग से बड़ी गंभीर बातें कही गई हैं। 'कमल आत्म-निष्ठ' कविता में कवि ने अहंकार और स्वार्थ की शलाखों में जकड़े इन्सानों को काई की तरह फैलने का मंत्र देकर भी सामाजिक चेतना का पथ ही प्रशस्त किया है। हाँ, 'थरमस' में सत्यान्वेषी प्रतीकत्व भर कर चमत्कार तो उत्पन्न हो गया है, पर प्रभाव नहीं पड़ता है। 'कल रात' में भी चमत्कृति के कारण प्रभाव बहुत हल्का हो गया है। 'प्लेटफार्म', 'काठ की घंटियाँ' 'घास काटने की मशीन', 'एक नयी प्यास', 'गाँव की शाम का सफर', 'युग-जागरण', 'सौन्दर्य बोध', 'काफी हाउस में मेलो ड्रामा', और 'सरकंडे की गाड़ी' संग्रह की प्रभावी; समर्थ और उल्लेख्य कविताएँ है। कुल मिलाकर यह कवि की प्रेमिल-भावुक; निराश-उदास, किन्तु दर्द में भी राह पाने की व्याकुलता-लालसा से युक्त कविताओं का संग्रह है। लोक जीवन के प्रति

---

1 डॉ० रघुवंश : साहित्य का नया परिप्रेक्ष्य पृ० 265–266

ससिक्ति और समसामयिक के प्रति सचेतन दृष्टि का स्पर्श इन कविताओं को विश्वसनीयता प्रदान करता है। व्यंग्य तीखा, धारदार और सटीक है। इस प्रारंभिक काव्य संग्रह में निहित संभावनाओं को आगामी संग्रहों में खुलकर विस्तार पाने का अवसर प्राप्त हुआ है। वेदना; व्यंग्य और अन्तर्बाह्य का समीकरण क्रमश. अधिक वास्तविक; अधिक चुटीला और अधिक संतुलित होता गया है। जो समसामयिक परिवेश यहाँ कवि की बंद मुट्ठी था; अपेक्षाकृत कम अभिव्यक्त था, वही आगे के संग्रहों में खुलता और फैलता चला गया है।

'बाँस का पुल'

'सर्वेश्वर' के सृजन के दूसरे सोपान पर 'बाँस का पुल' है। 'काठ की घटियों' से 'बाँस के पुल तक की यात्रा में अंतर तो आया है, पर उतना नहीं जितना कवि से अपेक्षित था। फिर भी इतना माने बिना नहीं चल सकता है कि यहाँ तक आते-आते कवि अपेक्षाकृत अधिक निडर, अधिक स्पष्ट और अधिक जागरूक हो गया है। उसका व्यक्तित्व 'बाँस का पुल' तो है, पर ऐसा जो व्यक्ति की निजता को सामाजिकता की ओर; अपनी पूरी लचक और चरमराहट के बावजूद; ले जाने मे सक्षम है। चालीस कविताओं के इस संग्रह में भी प्रेम, दर्द, निराशा, अकेलेपन की व्यथा तो बरकरार है, पर इस सबकी पृष्ठभूमि साफ़ हो गई है, कारण जगजाहिर हो गया है। यह बात भी यहाँ कुछ अधिक खुलासा हो गई है कि वेदना और अकेलापन कवि की अपनी पूँजी नहीं है; वह तो मध्यवर्गीय आदमी को विरासत में मिली संपत्ति है जिसे छोड़ना सरल नहीं है और जिसका ग्रहण उसकी विवशता है। व्यक्ति मे समाज कुछ इस तरह आकर मिल गया है कि तीव्र अनुभूति और संवेदना के चरम आवेग मे भी युगीन त्रासदियाँ और विसंगतियाँ स्पष्ट दिखलाई देती हैं। यह अकारण नहीं हुआ है। असल में सर्वेश्वर, जैसा पीछे कहा गया है; अपनी आंतरिकता को बाहरी परिवेश से जोड़ते हैं। उनकी आंतरिक अर्थवत्ता इतनी प्रबल है कि बाहर के यथार्थ अनुभव भी उसी के अंग हो जाते हैं। यों कहीं-कहीं यह अन्तर्बाह्य का समीकरण ठीक नहीं बैठ पाया है। जहाँ ऐसा नहीं हो पाया है वहाँ कवि दोनों स्तरों पर हाजिरी देता हुआ तनाव और संत्रास झेलता दिखलाई देता है। इस झेलने में जो चोटें उभरती हैं; जो संघर्ष सामने आते है, वे कवि की ईमानदारी के सबूत तो हैं, पर शैल्पिक बिखराव के जनक भी हो गये हैं। दूसरे रंग की जिन कविताओं को इस संग्रह में स्थान मिला है वे प्रकृति बोध की कविताएँ हैं; ऋतुओं के संसार की कविताएँ; हैं पर इनमें भी मनःस्थितियों के बिम्ब खासे स्पष्ट हैं। तीसरे रंग की कविताओं में उन्हें लिया जा सकता है जिनमें मध्यवर्गीय जिन्दगी के त्रासद संदर्भों अनिश्चय आशका पूरित मानस और परिवेश जनित विसगतियों व

प्रश्नों को उठाया गया है। अधूरी-सतही और खोखली जिन्दगी के कितने ही संदर्भ इन कविताओं मे व्यंजित हुए है।

'बाँस का पुल' एक ऐसे व्यक्ति का प्रतीक है जो संघर्षों को सहने की अनूठी शक्ति रखता है। भले ही वह लचकता हो, चरमराता हो और टूटने-टूटने को हो जाता हो, पर निडर होकर आगे बढ़ने की शक्ति वलयित प्रेरणा भी देता है। वह इस पार से उस पार—आंतरिकता के घेरे से निकल कर परिवेश में जाने का साधन भी है। यही कारण है कि संग्रह की अधिसंख्य कविताओं में व्यक्ति द्वारा चयनित साधनों, कांक्षित लक्ष्यों की असंगतियों और विडम्बनाओ को व्यंग्यपरक शैली मे वाणी दी गई है। अनेक कविताओं में भीतर-बाहर की मजबूरियों, व उनसे उत्पन्न तनाव की अभिव्यक्ति हुई है। सर्वेश्वर का असली स्वर इन्हीं कविताओं में है। वे जिस मध्यवर्गीय चेतना के कवि हैं, उसकी समस्त पीड़ा, समस्त प्रश्निल स्थितियो के बिम्ब 'बाँस का पुल' की कविताओं में हैं। प्यार, दर्द और निराशा की कविताएँ तो इस स्वर तक पहुँचने की पीठिका मात्र हैं। असल मे कवि तो बराबर यह अनुभव करता रहा है कि व्यक्ति समाज मे रहकर भी अकेला हो गया है, भीड के साथ रहकर भी अकेला और अजनबी है या फिर अपने अस्तित्व को ही गँवा बैठा है। वह अनुभव करता है कि जीवनगत विसंगतियों ने उसे धकेलकर उस चौराहे पर खडा कर दिया है जहाँ सवाल ही सवाल हैं, मजबूरियाँ ही मजबूरियाँ हैं। न तो कोई उत्तर है, न कहीं कोई राह। कवि ने लिखा है : "भीड़ मे अकेला यदि खडा रहा/सब अपनी राह गये/कोई मेरे लिए रुका नहीं/ किसी ने हाथ नहीं गहा/ ... टूटे वायलिन-सा एक कोने में पड़ा/बजता साज सुनता रहा/अपने मन के अथाह सूनेपन में/मकड़ी सा जाल बुनता रहा"/[1] इतना ही नहीं कवि ने आत्मनिर्वासन की स्थिति को भी भोगा है और साफ़ स्वीकारा है :

> "कभी-कभी ऐसा लगता है, कि मुझे मेरे शरीर से अलग कहीं
>
> प्रतिष्ठित कर दिया गया है/मैं अपने ही तन से निर्वासित हूँ।"[2]

संग्रह की पहली कविता 'राह पर' भी इसी मिज़ाज की कविता है। आज के आदमी की निरुद्देश्य और अंतहीन यात्रा—ऐसी यात्रा जो संशय और भयग्रस्त हे कविता का विषय बनी है। अनिश्चय और संशयग्रस्त इस यात्रा की विवशता का चरम क्षण तब आता है जब "आकाश की डाल से संध्या के रंगीन साँप झूलते हैं/

---

1 बाँस का पुल- पृ० 62

2. वही प० 66

राह सीढ़ी सी खड़ी हो जाती है"/ वस्तुतः समाज का बदलता रूप कवि की अनुभूतियों मे जल्दी सिमट जाता है। मनुष्य जिस विलक्षण स्थिति में जी रहा है उसमे सतुलित और तटस्थ बने रहना उसके लिए संभव नहीं रहा है। पलछिन बदलती दुनिया मे कितनी ही अनुभूतियाँ कवि की आत्मा को मथती है, मथती चली जाती हैं। यह छीलन अनिवार्य है क्योंकि एक ओर तो मनुष्य अणुयुग के अभिशापों को झेल रहा है और दूसरी ओर उसे रबर-प्लास्टिक युग की विसंगतियों को भोगना पड़ रहा है। उसकी विषमताओं का कोई ओर-छोर नहीं है। मध्यवर्गीय जीवन की अन्दरूनी तसवीर में उसकी विवशता, अपाहिज-स्थिति, जिज्ञासाओं का कच्ची उम्र में मर जाना, हर बार इच्छित को नये और नये रूप में पाने का मोह और न पा सकने का दुख और उससे जुड़ी अर्थहीनता बाँस का पुल' की कविताओं में कहीं सीधी-सपाट, और कहीं आड़ी-तिरछी रेखाओं में उभरती गई है। संग्रह की 'आधे रास्ते' कविता मे व्यक्ति की अधूरी इच्छाओं व अधूरे सपनों की कैफ़ियत दर्शाई गई है तो 'नया वर्ष फिर आया' में मध्यवर्गीय व्यक्ति की छटपटाहट का सांकेतिक हवाला है। आज के युग में आदमी जिन्दगी जीता नहीं, बल्कि जिन्दगी उसे जीती है। वह मरता नही तो भी मृत्युदंश उसे डसने को तत्पर रहता है जो मृत्यु से कहीं अधिक भयावह है। यही वह स्थिति है जो यह सोचने को विवश करती है कि "मुझे मेरे ही तन से अलग कर दिया गया है।" 'कभी-कभी लगता है' कविता इसी जमीन पर लिखी गई है।

'कैसी विचित्र है यह जिन्दगी' कविता में जीवन-व्यापी विसंगतियों, हर क्षण मिलने वाले अविश्वास, आशंका, भय और कितनी ही थका देने वाली स्थितियों का यथार्थ अंकन हुआ है। इस लम्बी कविता में अनेक बिम्बों के माध्यम से जिन्दगी की अव्यवस्था, अयाचित और असंभावित आत्मीयता तथा इस आत्मीयता से उत्पन्न त्रासद-स्थितियों को देखा जा सकता है :

"कैसी विचित्र है यह जिन्दगी
जिसे मैं जीता हूँ
एक सड़ा कपड़ा जो फटता जाता है
ज्यों-ज्यों सींता हूँ
जब भी काढ़ने चलता हूँ
कोई सुन्दर फूल
एक पैबंद लगाता हूँ
और इस तरह आता हूँ

एक लबादा, जिसे हर बार ओढ़ने पर
थर्राता हूँ, फिर भी ओढ़ता हूँ।"[1]

'एक लबादा' कहकर कवि ने अस्तव्यस्त और अव्यवस्थित जीवन का बिम्ब दिया है तो 'ओढ़ने पर थर्राता हूँ' कहकर जीवन-व्यापी त्रास को अभिव्यक्त किया है। 'सड़े-कपड़े' का प्रतीक जीवन की खस्ता हालत और विषमताओं से उत्पन्न टूटन को व्यक्त करता है। यह प्रतीक इतना प्रभावी बन पड़ा है कि पाठकीय संवेदना मे तत्काल प्रवेश कर जाता है। 'सुन्दर फूल' और 'पैबंद' जैसे प्रयोग भी आत्मीय हे जो कवि के अभिप्रेत को तत्काल स्पष्ट कर देते हैं किन्तु समग्र अंश में प्रयुक्त संश्लिष्ट बिम्ब क्रमिक रूप से ही अर्थोद्घाटन करता है। आम तौर पर आत्मीयता भय नही जगाती है, पर कवि ने विरोधाभास को अपनाते हुए जिस मतव्य को संप्रेपित किया है, वह साफ है। आज अचानक मिली सदाशयता और आत्मीयता हमें मृत्यु से कम त्रासद नहीं लगती है :

"सुनो जब मैं किसी को आवाज देता हूँ
वह चीखकर भाग जाता है
और जब कोई स्वयं मेरी ओर बढ़ता हे
मैं आँखें बंद कर लेता हूँ।
हर ओर जड़ता/नही नहीं एक मृत्यु है
जिसके सामने मैं अपने को खड़ा पाता हूँ"[2]

कविता के अन्तिम अश में उपलब्धियों का झोला दिखलाया गया है जो कुछ खंडित मूर्तियों से भरा है। ये खण्डित मूर्तियाँ मानवीय प्रेम, शक्ति, करुणा और ईश्वर यानी कि आस्था की हैं। कवि का अभिप्रेत यह बतलाना है कि वर्तमान जीवन की यही उपलब्धि है कि मनुष्य ने अपनी शक्ति खो दी है; प्रेम विस्मृत कर दिया है; करुणा स्वार्थ से पराजित हो गई है और मनुष्य आस्थाहीन हो गया है। फलत: टूट रहा है। उसका टूटना किसी जीर्ण शिवालय की तरह ढ़हना है। शिवालय का ध्वंस उसके नवनिर्माण का भी संकेत देता है क्योंकि शिव में ध्वंस की जितनी क्षमता है; उतनी ही सृजन की भी है। इस तरह कवितांत तक पहुँचकर कवि खण्डित मूर्तियों का भार ढोता हुआ भी एक आस्था की ओर कदम बढ़ाता प्रतीत होता है। यह आस्था का बिन्दु संग्रह की अगली कविता 'फिर भी मैं' के अन्तर्गत न केवल साफ़ है, अपितु टूटने के बाद निर्माण का संकेत भी देता है; "अब भी मैं जिन्दगी का/एक गीत गाना चाहता हूँ/……होंठों पर उँगली की तरह कोई एक

---

1 बाँस का पुल पृ० 72
2 वही पृ० 74

वाक्य रख जाता है/—जिसमें जितना ही रस होता है/वह उतना ही निःशब्द टूटता है/फिर भी मैं साहस का/जिन्दगी का एक गीत/गाना चाहता हूँ"[2]/असल में यह जिजीविषा की कविता है। आज की सभ्यता ने दुनियाँ को एक ऐसे किनारे पर ला पटका है जहाँ वह बुद्धिवादी तो हो ही गई है अपने मे सिमट कर अर्थहीन भी हो गई है। कवि उस जिन्दगी का कायल नहीं है जो सड़े फलों की पेटियो की तरह बाजार की भीड़ में रोज-रोज झाड़-पोंछ कर एक खरीददार से दूसरे खरीददार की प्रतिक्षा में दूकान पर सजा दी जाती है। आज की सभ्यता का तकाजा ही यह है कि आदमी अपने स्वाद के लिए, अपनी इच्छाओ की पूर्ति के लिए दूसरो की जिन्दगी से खेले ; उन्हें अधिक से अधिक यातना दे सके और दूसरों की वगैर परवाह किये अपनी इच्छाओं के महल में रंग-रास मनाता रहे। 'इन समझदार लोगों के बीच' कविता में इसी विद्रूपता, इसी विवशता और इसी स्वार्थान्धता के बिम्ब हैं। कवि तथाकथित बुद्धिजीवियों की स्वार्थयुक्त और विद्रूपतायुक्त दुनियाँ मे भटकता हुआ जो अनुभव करता है वह यह है ; "आदमी के प्यार पर विश्वास कर, एक लावारिस कुत्ता, एक घर की देहरी से बँधा रहा/और कल शीत में ठिठुर-कर मर गया/आदमी की उदारता पर आस्था रख कर एक तीतर मालिक के नाम पर लड़ता घायल होता, अशक्त हो गया, और कल तलकर खा लिया गया एक गाय अपने बच्चे की भूसे से भरी ठठरी चाटती, खूँटे से बँधी उसका पेट पालती/कल चल बसी/इन तमाम समझदार लोगों की दुनियाँ में/किसी नाम पर मैं भी भटक रहा हूँ"/[2] वास्तव में कवि के अन्तस में मानवीय करुणा, प्रेम और इन्सानियत के भाव भरे पड़े हैं और वह इन्हें ही जीवन के लिए अपरिहार्य मानता है, किन्तु बाहर की दुनियाँ इसके विपरीत है। उसकी कोशिश यह है कि वह अपनी आंतरिकता से बाहर को भर दे। उसकी यह कोशिश मात्र कोशिश रह जाती है क्योंकि वह तमाम समझदारों की इस दुनियाँ में अकेला ही ऐसा है जो इस जमीन पर खड़ा है। उसे बाहर जो दुनियाँ दिखलाई देती है वह मुखौटा लगाये लोगों की दुनियाँ है ; रिक्त और खोखली दुनियाँ है और है आधुनिक सभ्यता के अमानवीय प्रहरियो की दुनियाँ जहाँ कदम कदम पर आन्तरिक मूल्यों को दफना दिया जाता है। मलयज ने सर्वेश्वर की इन कविताओं के माध्यम से भी यही बात कही हैं : "सर्वेश्वर की खोज उस जटिलयुगबोध के भीतर ही सहज जीवन-रूपों की खोज है। उनकी सर्जनात्मक कल्पना उस जटिलता को अपने आंतरिक सहज रागबोध की उन्मुक्त पावन तरलता मे घुलाकर रिक्तशेष नहीं करना चाहती, वरन् उस जटिलता के परिप्रेक्ष्य मे ही सहजता की मूल्यवत्ता सिद्ध करना चाहती है।"[3]

---

1 बाँस का पुल पृ० 77–78

2 बाँस का पुल पृ० 64

3 कविता से साक्षात्कार पृ० 52

'दिवंगत पिता के लिए' कविता में भी अन्तर्बाह्य के मूल्यों का संकट अभिव्यक्त हुआ है। दिवंगत पिता का प्रतीकार्थ आंतरिक मूल्यों से जुड़ा है। हमारे आंतरिक मूल्य जो इन्सानियत, करुणा और प्रेम पर आधारित थे, वे वर्तमान आपाधापी की दुनियाँ में झूठे और नकली प्रमाणित हो रहे हैं। इस स्थिति से कवि दुखी है ; पर यह दुख निष्क्रियता पैदा करने वाला नहीं है। हाँ ; इन मूल्यों के ध्वंस पर कवि अफसोस के साथ मोहर लगाता हुआ कहता है : "तुमने जितना ही अपने को अर्थ दिया/दूसरों ने उतना ही तुम्हें अर्थहीन समझा/कैसी विडम्बना है कि इस झूठे मेले में/सच्चे थे तुम/अत: बैरागी से पड़े रहे"/यह अफसोस कविता के चौथे बंद में जाकर तो और खुल गया है : "तुम्हारी अन्तिम यात्रा में वे नहीं आये/जो तुम्हारी सेवाओं की सीढ़ियाँ लगाकर/शहर की ऊँची इमारतों में बैठ गये थे।"[1] हाँ ; इस अफसोस में यह ध्वनि भी है कि ये मूल्य वर्तमान परिस्थितियों में मनुष्य को न केवल अनाथ और विपन्न बनाते है ; अपितु निराश्रित भी बना देते हैं। कवि ने इन मूल्यों के ध्वंस पर या इनकी निष्प्रयोज्यता पर अफसोस तो प्रगट किया है ; परन्तु किन्हीं नये मूल्यों की ओर स्पष्ट संकेत नहीं किया है। मैं समझता हूँ यह आवश्यक भी नहीं था क्योंकि संकलन की कतिपय अन्य कविताओं में यह संकेतित है। इस तरह स्पष्ट हो जाता है कि 'बाँस का पुल' की कविताओं में मध्यवर्गीय व्यक्ति की विसंगतियों, विवशताओं और आपाधापी के चित्र बड़े साफ हैं। ये चित्र कवि की आंतरिकता से उपजे हैं ; पर सामाजिक परिवेश की देन हैं। इनमें युग-संदर्भ व्यक्ति में प्रविष्ट हो कर आये हैं।

संकलन की 'स्मृति', 'पूर्णिमा प्यार', 'बसंत स्मृति', 'बाढ़', 'सूरज', हेमत की संध्या, साँझ एक चित्र और 'वसंत की शाम' आदि कविताओं में प्रकृति की छवियों का रूपांकन हुआ है। इनमें कुछ चित्र मोहक हैं और कुछ ऐसे हैं जो एक विशेष मनस्थिति लिए हैं। 'वसंत की स्मृति' ऐसी ही कविता है। 'बाढ़' कविता भी ऐसी ही है जिसमें कवि प्रकृति-छवियों को उतारना छोड़कर काफी आगे बढ़ गया है। सूरज, हेमंत, संध्या और वसंत पर सर्वेश्वर ने अनेक कविताएँ लिखी हैं। 'सूर्योदय' और 'सूर्यास्त' एक नयी मनःस्थिति लिये हुए हैं। सूरज तो एक नट है जो रात दिन की बाँस की खपचियों पर झूलता है। 'अपनी बिटिया के लिए', 'बसंत की एक शाम', 'मेघ आये' और 'आये महन्त वसंत' अच्छी कविताएँ हैं। 'काठ की घटियाँ' में जो स्वर निनादित थे; वे निराश, दर्द, अहं. विवशता और अवसाद के थे। वे यहाँ भी हैं, पर निराश दर्द बन गई है। दर्द का कारण भी यहाँ आकर स्पष्ट हो गया है। 'दर्द यह किससे कहूँ' रचना पहले काव्य-संग्रह के संदर्भ में ही समझी

---

1 बाँस का पुल पृ० 71

जा सकती है। अनुभूति की गहराई और परिवेश का गहन संदर्भ इस कविता को महत्ता प्रदान करता है। सर्वेश्वर की अनुभूति 'ट्रेजिक' है ठीक उस आदमी की तरह जो अपनी लाश को स्वयं लिए घूम रहा है। यही कारण है कि संग्रह की कई कविताओं में यह त्रासदी और विवशता शब्दबद्ध हुई है :

"मैं देना चाहता हूँ
वह ही नहीं जो मेरे पास होगा
बल्कि वह भी जो आने वाली
शताब्दियों में मेरे पास होगा,
लेकिन होंठ काटकर रह जाता हूँ।"[1]

'ट्रेजिक फीलिंग' के क्रम में एक दो कविताएँ ऐसी भी है जो रूमानियत भरी हैं, किन्तु यह संदर्भ भी यहाँ दर्द के तारों को ही अधिक छेड़ता है। 'पूर्णिमा प्यार' में प्रेमजनित अन्तर्द्वन्द्व की झाँकी है। यह मध्यवर्गीय व्यक्ति का द्वन्द्व है तभी तो वह साँझ के समय अनजाने वृक्षों की रहस्यमयी छायाओं में घिर जाता है और उसकी निराशा गहन से गहनतर होती जाती है। इतने पर भी निराशा का यह गहन क्षण कवि को तोड़ता नहीं है ; अपितु नयी संभावनाओं की कड़ियों को जोडने लगता है : "दिन भर के तपते पत्थरों पर बैठा हुआ मेरा विवेक/संभावनाओ की टूटती लहरों को फिर फिर जोड़ता है"/[2] कहने का तात्पर्य यह है कि प्रकृति के चित्र नये तो हैं ही ; कवि की मनस्थितियों के भी वाहक हैं। कहीं गहरे धुएँ मे डूबती संध्या है ; कहीं हरी साड़ी में लिपटी उदास मटर है, कहीं संध्या ही बसंत बन गई है और कहीं सोने के रंग वाली एक तूली की साड़ी पहने रंग-बिरंगी मूँज की डलिया बुनती सुबह अल्हड़ किशोरी बन गई है। इस तरह सर्वेश्वर की प्रकृति उनकी सौन्दर्य-दृष्टि को स्पष्ट करती है। उन्हें गाँवों से बेहद प्यार है। 'यहीं कहीं एक कच्ची सड़क थी' कविता में ग्रामीण परिवेश के धुँधले होते जाने और नगरीय परिवेश के उभरते जाने से कवि व्यंग्योन्मुख हुआ है। यद्यपि यह वह कविता है जो कवि की अतीतोन्मुखता को स्पष्ट करती है ; उस पर पलायनवादी का लेबिल लगाती है। मेरी समझ में ऐसा नहीं है ; ऐसा आभासित होता है। यह ठीक है कि कवि अतीत की ओर मुड़ा है ; उसकी स्मृतियों के एलबम में गाँव उभर आया है ; किन्तु इसी कविता में कवि वर्तमान पर भी उपस्थित है। यह उपस्थिति ही कवि को नये और गतिशील बोध से जोड़ देती है। यही कारण है कि इस कविता मे अतीत के प्रति सम्मोहन प्रगट करता हुआ भी कवि समसामयिक भूमिका पर खड़े होकर

---

1 बाँस का पुल पृ० 73

2 बाँस का पुल पृ० 12

ग्राम्य जीवन पर घिरती जाती नगरीय सभ्यता को भी प्रस्तुत कर देता है। "यही-कही एक कच्ची सड़क थी/जो मेरे गाँव जाती थी" का बोध भारतीय परिवेश से जुड़ा है तो पाश्चात्य सभ्यता का प्रसार विदेशी परिवेश से। कवि की मूल चिन्ता यही है कि ग्राम्य जीवन नगरीय संपर्क में आकर बाहर से तो बदल गया है, परन्तु भीतर से वैसा का वैसा ही है। अतः पूर्व और पश्चिम ; गाँव और शहर तथा सभ्यता और संस्कृति की यह टकराहट किस नयेपन से जोड़ेगी और कैसे जोड़ पायेगी ; यही सब कविता की आत्मा में स्पंदित है। 'भरम गये हो तुम' कविता मे भी यही संकेतित है कि नगरीकरण ने सभ्यता और संस्कृति के मूल तत्व बदल दिये हैं। जीवनगत सहजता, आत्मीयता और सम्बन्धो की दृढ़ता नयी नागरिक सभ्यता के प्रवाह में कहीं की कहीं खो गई है। कवि व्यंग्य की मुद्रा अपनाता हुआ न केवल नागरिक सभ्यता पर व्यंग्य करता है ; अपितु नगरीय और ग्राम्य संस्कृति का अन्तरनिर्धारण भी सहज ही कर देता है :

> "खेतों की मेड़ों की ओस नमी मिट्टी
> जितनी देर मेरे इन पाँवों में लगी रही,
> उतनी देर जैसे मेरे सब अपने रहे
> उतनी देर सारी दुनियाँ सगी रही
> किन्तु मैंने ज्यों ही मोजे-जूते पहन लिए
> जेब के पर्स का ख्याल आने लगा"।[1]

व्यंग्य की यह मुद्रा संकलन की अन्य कविताओं में भी मौजूद है। 'प्रगति का गीत' प्रशासन और शासन-तंत्र की योजनाओं और कार्य-पद्धतियों पर व्यंग्य करती हुई आगे बढ़ती है। सत्ताधीश अपनी सत्ता के घोड़े को जैसे-तैसे चला रहे है। आजादी से पहले कल्पना थी कि देश प्रगति करेगा; पर हुआ विपरीत। जो आजादी हमे मिली वह नाम की आजादी रही क्योंकि अब हम अपने ही देश में पराधीन हो गये हैं। सर्वेश्वर की ये पक्तियाँ देखिये जो वर्तमान प्रशासनिक व्यवस्था और सत्ता की गिरती-पड़ती हालत को व्यक्त कर रही हैं—"चल भाई घोड़े टिक टिक/बड़े भाग्य से मिली आजादी/चल आराम हराम है/राह कठिन है और कमाना नाम है/बना योजना दिखा काम ही काम है/चल कह गधों से कि वे घोड़े हो जायें"[2] कहना यही है कि 'बाँस का पुल' की कविताएँ 'काठ की घंटियाँ' से आगे के सोपान पर स्थित हैं। कवि का मूल कथ्य तो वही है; पर उसकी संवेदना अपेक्षाकृत विस्तृत हो गई है। वह अपने शिल्प में भी ताजगी और सहजता लिए हुए है। कुल मिलाकर सग्रह

---

1 ब स का पम पृ 30

2 वही पृ० 38-39

मध्यवर्गीय व्यक्ति और उसके मानस की यथार्थ तसवीरें प्रस्तुत करता हुआ उसके प्रति अपनी साझेदारी प्रगट करता है। सर्वेश्वर बार-बार अकेलेपन, दर्द, अस्तित्व हीनता और निरर्थकता पर कविताएँ लिखते रहे हैं, किन्तु इस विषयगत 'रिपीटीशन' को नित नये 'प्रजेन्टेशन' ने उबाऊ नहीं बनने दिया है।

एक सूनी नाव

1966 में प्रकाशित 'एक सूनी नाव' सर्वेश्वर के सृजन का तीसरा सोपान है। इस सोपान पर जिन इकतालीस कविताओं को रखा गया है। वे 1963 से 1966 के मध्य लिखी गई हैं। उल्लेखनीय बात यह है कि सर्वेश्वर के काव्य-सग्रहों के शीर्षक ही उनके मूल कथ्य को संकेतित कर देते हैं। उनकी बड़ी सार्थकता है और वे एक क्रम को भी निरूपित करते है। 'काठ की घंटियाँ' शीर्षक में 'काठ और घंटियाँ' दोनों हैं। कविताओं को ही लें तो उनमें काठ भी है; उसका कठेठापन भी है और घंटी से निकलने वाली टनटनाहट भी है। कवि ने अपने इस प्रारम्भिक सृजन में कल्पना और विचारणा से काठ से विषयों में भी घंटी से निकलने वाली ध्वनि पैदा करदी है। वह अपनी संवेदना से काठ में भी सगीत भर सका है। इसके बाद है 'बाँस का पुल' जो सम्बन्ध कारक है - सम्प्रेषण का माध्यम है। यहाँ काठ की जगह बाँस है जो लचकता है, पर टूटता नहीं। वर्तमान युग में सवर्षक्रान्त मनुष्य का व्यक्तित्व भी बाँस का पुल ही है जो दबावों, तनावों और मरोड़ो से लचक भले जाय, पर टूट नहीं पाता है। बाँस काठ का ही एक रूप है। काठ मे सगीत पैदा करके जो व्यक्तित्व निर्मित होता है वह बाँस का पुल ही हो सकता है और बाँस का पुल लचके कितना ही; पिचके-दबे कितना ही पर अपनी विवशता मे 'एक सूनी नाव' ही हो सकता है। संवर्षक्रान्त मनुष्य की विवशता यही है कि वह एक नाव में बैठकर दुनियाँ का नजारा देखे और अपने इस अकेलेपन में भी ईमानदार रहे। यह ईमानदारी और अकेलेपन की यही व्यथा सच है—सौफीसदी विश्वसनीय है। भले ही इस सूनी नाव में लोग न दिखाई देते हों; पर वह जैसी है; उसी रूप मे अपनी सार्थकता रखती है। सार्थकता इसलिए कि इस अकेलेपन में कवि ईमानदार है—साफ है और उसका यह अकेलापन आरोपित नहीं है। यह उसे मिला है उस परिवेश से जिसमे वह अब तक बाँस का पुल बना हुआ था। इस स्पष्टीकरण के बाद भाई डॉ वेदप्रकाश अमिताभ की वह जिज्ञासा शांत हो सकती है जिसमें उन्होंने मेरे इस वाक्य पर आपत्ति की है : "काठ की घंटियाँ बजाते-बजाते जब कवि 'बाँस के पुल' से गुजरा तो उसे 'एक सूनी नाव मिल गयी"। इसका अर्थ स्पष्ट है कि पहले सर्वेश्वर ने काठ मे छिपे संगीत का छेड़ा—अस्पर्शित विषयों को भी काव्य का विषय बनाया और फिर वह जब संघर्षशील दुनियाँ में घूमा तो उसका व्यक्तित्व अन्तहीन तनावो को हुआ भी बिना किसी विकृति के यथावत् बना रहा ऐसा बने रना आजह

के व्यक्ति की नियति है और है संघर्षों को निरन्तर झेलते जाने के बाद भी अपने अस्तित्व को कायम रखने की आकांक्षा क्षमता। संघर्षों की चोट सहकर कुछ समय के लिए व्यक्ति का कोई एकांत कोना तलाश लेना अस्वाभाविक कैसे है ? मैं तो यह भी मानता हूँ कि 'एक सूनी नाव' की जो एकांत पीड़ा है वह ईमानदारी से कही जाने के कारण पूरी तरह विश्वसनीय बनी हुई है। फिर किसी सूनी नाव को पाना थकान का स्वीकार नहीं, बल्कि दुगने-तिगुने वेग से शक्ति संचित करके पुनः आक्रमण करने की तैयारी है—उस परिवेश में पूरी हिम्मत के साथ जीने की भूमिका है जहाँ गर्म हवाएँ चलती हैं।

'एक सूनी नाव' का कवि अपने एकांत से न तो ऊबा हुआ है और न घबराया हुआ। वह न हताश है, न थका हुआ। वह तो यही समझता है कि यह अकेली नाव ही बहुत बड़ी सार्थकता है इसका कारण यही है कि उसकी आस्था बौनी नहीं है, किसी सहारे की तलाश नहीं करती है। उसकी आस्था जिजीविषा से मिलकर न केवल शक्ति संपन्न हो गई है; अपितु अपने निपट अकेलेपन में भी दूसरे किनारे का 'विजन' लेने में सक्षम भी हो गई है। कवि के ये शब्द इस कथन के गवाह भी है और 'सूनी नाव' को सार्थकता भी प्रदान करते है—

> "मेरा एकांत ही मेरा विजय स्थल है
> जहाँ मैं हर दौड़ के बाद
> गर्व से जाकर खड़ा हो जाता हूँ
> और चारों ओर की गहन निस्तब्धता के प्रति
> आत्मीयता से भर जाता हूँ........ "[1]

'एक सूनी नाव' संग्रह का प्रारम्भ दर्द से हुआ है, किन्तु समापन वैसा नही है। यों यह ठीक है कि इस संग्रह मे दर्द हाशिए से कूदकर पृष्ठ पर बिखर गया है। उसमें विस्तार आ गया है फिर भी यह दर्द वह नहीं जो थकान देता है, वरन् वह दर्द है जो सब कुछ भोगने के बाद कवि की संवेदना को तीव्रता और शक्ति सम्पन्न कर गया है। यही वजह है कि बावजूद तमाम दर्द के संकलन में हताशा का स्वर नहीं है; जीवन व्यापी संघर्षों; औरलुटे हुए मूल्यों के प्रति चिन्ता है कि कैसे उन्हें ठीक स्थिति में लाया जाय। यदि यह न होता तो कवि जीवन व्यापी जड़ता के मुहाने पर होकर भी "मैं जहाँ होता हूँ/वहाँ से चल पड़ता हूँ/" क्यों लिखता और क्यों कहता कि बावजूद पूरी व्यथा के वह यान्त्रित है ? उसकी संवेदना के वृत्त में अतीत, वर्तमान और भविष्य तीनों एक साथ आकर मिल गये हैं। वह सोचता है कि अतीत का चाँद सा वैभव जो अपनी नीलिमा के कारण अधिक चमकीला था; काले बादलों के ढीले

1 एक सूनी नाव पृ० 30

विस्तृत फलक पर बिजली की तरह चमकने वाला किन्तु अनिश्चित भविष्य (जिसकी चमक इसलिए है कि वह अंधकार में बिजली की तरह कौंध रहा है और अपनी कौंध से एक आशा बँधाता है) तथा टपाटप बूँदों की तरह गिरता हुआ वर्तमान जिसकी चोटों से बचना मुश्किल है मेरे सामने तना हुआ है।[1] ये तीनों स्थितियाँ झेलता हुआ कवि, इस झेलने से उत्पन्न तनाव को भी भोगता है और टकराहट के बिन्दु को भी महसूस करता है किन्तु फिर भी वह यान्त्रित है; गतिशील है और उसकी लालसाएँ व उनसे सम्बन्धित प्रयत्न मरे कहाँ हैं ? इस स्थिति में न मालूम मलयज को इस संग्रह की कविताएँ थकान की कविताएँ क्यों लगती है ? और उनमें संवेदना की तीव्रता और विस्तृति का अभाव[2] क्यों खलता है ? शायद सर्वेश्वर के लिए अपने द्वारा बनाये गये पैमाने के ओछेपन के कारण। यह तो केवल एक उदाहरण है; ऐसे उदाहरण इसी संग्रह की अनेक कविताओं में जगह-जगह मिलते है। यह माना कि इस संग्रह में कवि अपेक्षाकृत अन्तर्मुखी हो गया किन्तु उसकी अन्तर्मुखता मे न तो थकान है और न संवेदना की तीव्रता का अभाव है। यहाँ तो दुख भी नाम बदल कर आया है और कवि की समस्या रही है कि वह उसे क्या कहकर पुकारे ? ('क्या कहकर पुकारूँ' कविता)

यह तो है कि कवि इस संग्रह में ज्यादा 'पर्सनल' और 'इन्ट्रोवर्ट' है क्योंकि उसने अपनी ओर अधिक देखा है, किन्तु बात यहीं तक नहीं है। कारण; यह तो उसका स्वभाव है। वह अपने से दूसरे को देखता है। इस देखने और सोचने मे ही वह सारी दुनियाँ को देख गया है। उसने अकेले तट पर सूनी नाव में बैठकर ही दुनियाँ की दौड़-धूप आपा-धापी, विवशता, अनजाने दर्द और अयाचित संदर्भों की कितनी ही तसवीरें अनुभूति के कैमरे से उतार ली हैं। भीड़ से अलग होकर अपने अस्तित्व की सार्थकता सिद्ध करने वाला कवि सहज ही ऐसी-ऐसी अनुभूतियाँ दे गया है कि यदि भीड़ इसे देखले तो कवि को अपनी जिन्दगी के भीतरी पहलू का चुपचाप 'एक्सरे' लेने का अपराधी ठहरा दे और सहम जाय अपनी ही तसवीरें दूसरे के पास देखकर। 'अब नदियाँ नहीं सूखेंगी' कविता रोमांटिक बोध को उजागर करती है, किन्तु फिर भी उसमें कवि 'मैं' से 'हम' हो गया है। वह नाव में अकेला नहीं है। उसके साथ उसके हमदर्द हैं; हमसाया हैं और वह परिवेश भी चुपके से आ खड़ा हुआ है जो घर से बाहर तक फैला है। अपने हमदर्दों के साथ होने से उसकी निष्ठा बढ़ी है; उसकी शक्ति बढ़ी है और वह अधिक खुल गया है। नतीजा यह कि वह एक स्वतन्त्र चेता कलाकार की हैसियत से अपने साथ अपने परिवेश को भी ले चलना

---

1 एक सूनी नाव पृ० 4 'पत्तियों की झाँझियाँ'

2 मलयज कविता से पृ० 55

चाहता है नयी राह बनाना चाहता है "एक परिभाषा हम अपने लिए गढ़ते हैं/एक दूसरे हमारे लिए/एक राह हम अपने लिए बनाते हैं/एक दूसरे हमारे लिए/आओ हम अपनी राह बनायें/अपनी गढ़ी प्रतिमाएँ नावों में भरकर सुदूर द्वीपों में ले जायें/शुरू करें नयी यात्राएँ।"[1] क्या इन पंक्तियों में भी थकान का स्वर है ? क्या यह भी मात्र व्यथा की नाव है ? अपनी लीक आप बनाने और अपनी राहें आप खोजने वाला कवि भी यदि थकान का कवि है तो जिजीविषा और जागरूकता का कवि कैसा और कौन होगा ? 'मलयज' ही जानें। इसी संग्रह की एक अन्य सशक्त कविता में भी कवि साफ लिख गया है कि "लीक पर वे चलें जिनके/चरण दुर्बल और हारे हैं/हमें तो जो हमारी यात्रा से बनें/ऐसे अनिर्मित पंथ प्यारे हैं।"[2] अनिर्मित पथों का राही सर्वेश्वर विश्वास का धनी है तभी तो वह यहाँ तक कहता है कि ये डोलती अमराइयां; गर्व से खड़े ताड के पेड; क्षितिज की हिलती हुई झालरें, खिलखिलाती शोख अल्हड हवा, आकाश में थिरकते मेघ, वाद्य-यंत्रों से पडे टीले और नदी बनने की प्रतीक्षा में नाले का अंजुरी भर शुष्क जल सभी का अस्तित्व हमारे सकल्प और जीवन के प्रति विश्वास के ही तो कारण है। जब तक विश्वास है—आस्थाप्रेरित संकल्प है तभी तक सभी कुछ का अस्तित्व है। विश्वास के शिथिल होते ही संकल्पों का महल भहराकर गिर पड़ता है। इस अनुभूति को हम 'एक सूनी नाव' शीर्षक कविता में देख सकते हैं। कवि की आस्था-भावना भी उसकी अपनी सकल्पनिष्ठता का परिणाम है। उसमें किसी 'सूपरह्यूमन' का आसरा नहीं लिया गया है क्योंकि वह जानता है कि "अपने को बार बार दुहराकर/मैंने जो कुछ किया/ठीक किया/जो कुछ कर रहा हूँ/ठीक कर रहा हूँ/जो कुछ करूँगा ठीक करूँगा/अपने पर मेरी आस्था/इतनी छोटी नहीं है/कि वह ईश्वर के कंधों पर बैठकर ही/इन पहाड़ियों के पार देख सकें/"[3]

बाँस का पुल हो या एक सूनी नाव सभी में दर्द का स्वर तो है; पर वह क्यों हैं ? यह देखने की चीज है। उसे हम निश्चय ही एकांतिक पीड़ा नहीं कह सकते हैं; निष्क्रियता की ओर ले जाने वाला अवसाद नहीं मान सकते हैं। उस पीडा का रहस्य तो मूल्यों के विघटन में छिपा है और ये मूल्य समाज के हैं—उस हर आदमी से जुड़े हैं जो समाज का है या समाज में रहता है। ऐसी सामाजिक विसंगतियों और विगलित मूल्यों से उत्पन्न संकट की स्थितियों के ही कारण तो सर्वेश्वर दर्द के इस छोर पर पहुँचे हैं : "दीखते अब नहीं/हरियाये उमगते झूमते

---

1. 'एक सूनी नाव' पृ० 12
2. वही पृ० 31
3. वही पृ० 30

तरुवर/दीखती है घास/जल में गले तक डूबी/बाँधनी अपनी जड़ों से खिसकती मिट्टी/टूटता विश्वास"[1]/ यह दर्द, यह अवसाद थकित मन का स्वर नहीं हैं; यह तो वह बिन्दु है जो परिवर्तन की ओर ले जाता है और "जहाँ हर थकान एक नयी स्फूर्ति है"। कहने का तात्पर्य यह है कि सर्वेश्वर की ये कविताएँ एकांत क्षणों का दर्द मात्र नहीं हैं; ये तो दर्द को सहकर पूरे परिवेश के साथ आस्था के स्वरों में बोलने वाली सशक्त कविताएँ हैं। इनमें दर्द के पृष्ठों पर जो लिपि उभरी है वह आस्था; संकल्प, निर्माण और जिजीविषा का अर्थ देती है। 'सर्वेश्वर' सहारे तलाश-कर आगे जाने वाले कवि नहीं हैं क्योंकि वे जानते हैं कि यह तलाश आदमी को छोटा बना देती है। संकलन की अनेक कविताओं में यही स्वर ध्वनित है।

यों इस सग्रह में कई रंगों की कविताएँ हैं; किन्तु सग्रह को पूरा पलटने पर लगता है कि सर्वेश्वर को खोजने के लिए 'इस अपरिचित नगर में', 'लीक पर वे चलें', 'एक शहर', 'दुर्घटना', 'इस मृत नगर में', 'एक सूनी नाव', 'युद्ध स्थिति', 'व्यग्य मत बोलो', 'पढ़ी लिखी मुर्गियाँ', 'अभिशाप', 'क्या कहकर पुकारूँ', 'घटाएँ भी नहीं अब दीखतीं', 'तुम्हारे साथ रहकर', 'तुमसे अलग होकर' और 'जाता हूँ मैं' कविताओं के साथ चलने से काम चल जाता है। ये इस संग्रह की सशक्त, उल्लेख्य और प्रतिनिधि कविताएँ हैं। नये कवियों के मन में जो अस्तित्ववादी चेतना भरती गई, उसका सही और शुभ पक्ष सर्वेश्वर की कुछेक कविताओं में मिलता है। वह जिन्दगी किसी अभिशाप से कम नहीं जिसमें आदमी को वरण की स्वतन्त्रता न हो; अपने ढग से चयन करने की सुविधा न हो। अनचाहा दुख और थोपे हुए वरदान बहुत बड़े अभिशाप होते हैं। इस संदर्भ में संकलन की उन पंक्तियों को भी पढ़ा जा सकता है जिसमें जीवन की निरर्थकता, मानव-मूल्यों की अर्थहीनता, खोखलापन, अपरिचय, समाज के प्रति अविश्वास, मृत्यु का भय और मानव-हृदय की भीतरी पर्तों में छिड़े द्वन्द्व आदि स्थितियों का अंकन है। 'दुर्घटना' कविता की जमीन तो पूरी तरह अस्तित्ववादी है। जीवन-व्यापी विवशता, अनदेखी जिन्दगी का दायित्व और अनजाने संदर्भों का बोझ हमें ढोना पड़ता है और हम जो नहीं है, उसके बोझ से दबे हुए; जो नहीं होगा उसकी धार में बहे हुए और जो नहीं था उसकी चपेटें में कुचले हुए महसूस करते हैं। यह स्थिति अस्तित्ववादी चेतना से उपजी है और यह किसी दुर्घटना से क्या कम है ?

'सूनी नाव' इस अर्थ में अपनी सार्थकता प्रमाणित करती है कि दुनियाँ से परिचितों के बीच रहकर भी अपरिचय और अकेलेपन की अनुभूति के घेराव में घिरा कवि अपने एकांत को ही विजयस्थल मानता है। ठीक भी है। 'इस अपरिचित

1 एक सूनी नाव' पृ० 77

नगर मे केवल एकांत ही तो है जो केवल उसका है और जिस पर उसे गर्व है। सर्वेश्वर की कविताओं में सूनेपन और अकेलेपन का जो बोध है उसके मूल में भी अस्तित्ववादी दृष्टि है। उसमें वह चिन्तन है जिसमें व्यक्ति अपनी स्वतन्त्र सत्ता की घोषणा करता है और भौतिक व यथार्थ परिस्थितियों का एकदम निराकरण करके शून्यता को महत्व देता है। अकेलेपन का बोध उसमे रिक्तता भी पैदा कर रहा है। इस रिक्तता ने मनुष्य की 'सजीव चाह' और 'वाइटेलिटी' को समाप्त कर दिया है। फलतः उसके सारे सम्बन्ध उखड़े हुए हैं और वह 'अकेलेपन' में छूटता जा रहा है। इस स्थिति में वह यह न कहे तो क्या कहे ?

> "दृष्टियाँ असंख्य मिलती है
> लेकिन किसी भी पुतली में
> मुझे अपना अक्स नहीं दीखता
> हर सम्बन्ध की सीढी से उतरने के बाद
> मैं और अकेला छूट जाता हूँ
> इस मृत नगर मे"[1]

समय का रोलर घूम रहा है। आदमी पिस रहा है। कभी समतल भी होगा कौन जाने ? संसार ने कितनी लड़ाइयाँ लड़ी है, पर जिन्दा रहने के लिए वह सबसे बडी लड़ाई अपने आपसे लड़ रहा है। इसमें वह हर मोर्चे पर अकेला है, दूसरो के लिये वह अधिक समर्थ और अपने लिये अधिक सार्थक बनता हुआ। खासा मजाक है। मन के अनगिनत स्तरों पर लड़ी जाने वाली इस लड़ाई के सम्बन्ध में कवि ने लिखा है : "कितने छोटे हैं वे मोर्चे वे सामरिक चालें/उस लड़ाई के आगे/जो इन्सानियत के संदर्भ में/इन्सान लड़ता है।"[2] आज की बेमानी जिन्दगी से आदमी ऊब गया है। वही एकसा क्रम—सुबह से शाम तक भागमभाग; वही सब लेन-देन; हिसाब-किताब; वही मारा-मारी; छीना-झपटी; स्वार्थ-पूर्ति के लिए अपने को बिना कीमत पूरा दे देना और मौका पड़ने पर किसी को पूरा का पूरा ले लेना, द्वन्द्व-अन्तर्द्वन्द्व तथा एक मरी हुई जिन्दगी को जीवित सा दिखाने का शौक चल रहा है। व्यक्ति अपने को दोहराते-दोहराते थक गया है ? अतः वह उदास भी है और चिन्तित भी है। उसकी उदासी स्वाभाविक है और चिन्ता अनिवार्य है। सर्वेश्वर की कविताओं में उदासी भी है और चिन्ता भी है। उनकी उदासी का रहस्य यदि यह है : "हर यात्रा शुरू होने से पहिले ही/समाप्त हो जाती है जिस चीज को भी छूता हूँ/वह अरअरा कर मेरे ही ऊपर/गिर पड़ती है।[3]........रोशनी राख-सी

1. एक सूनी नाव, पृ० 36
2 वही पृ० 54
3 वही पृ० 36

जल में घुली, बह गयी/बन्द अधरों की कथा/सिमटी नदी कह गयी/भीगते अवसाद से हवा श्लथ हो गयी/[1] ...... अब मेरे पास क्या है/जो आना चाहे आये, जाता हूँ मैं/[2] तो चिन्ता का कारण 'जाता हूँ मैं', इस मृत नगर में' और 'युद्ध स्थिति' शीर्षक कविताओं में स्पष्ट है। कहीं-कहीं तो कवि की चिन्ता प्रश्निल मुद्रा धारण करके सामने आ खड़ी हुई है और उसने सीधे आक्रामक भाषा में सवाल किया है : "साम्यवाद या पूँजीवाद/मैं दोनों पर थूकता हूँ/और पूछता हूँ/जिसके पैर में तुम जूते नहीं दे सकते/उसके हाथ में तुम्हें बन्दूक देने का क्या अधिकार है ?"[3]

व्यंग्य करना सर्वेश्वर का सहज गुण है। वे व्यंग्य करते हैं—व्यक्ति पर शासन पर, सत्ताधीशों पर, समाज के ढाँचे पर और दुनियाँ के तौर तरीकों पर। व्यंग्य कहीं हास्य से मिलकर हल्का हो गया है; कहीं इतना चुटीला कि कथ्य को स्पष्ट करता हुआ पाठक के हृदय के आर पार हो जाता है। समाज में कितने ही दोष हैं ? कितनी ही असंगतियाँ; विकृतियाँ और मूल्यहीनता की स्थितियाँ हैं। सभी को कवि ने व्यंग्य से उजागर किया है। इस संदर्भ में इस मृत नगर में, जाता हूँ मैं, 'युद्ध-स्थिति' और 'तर्क योग' कविताएँ प्रमुख हैं। इनमें आया व्यंग्य तीखा है और मूल्यों की विकृति के कारण अपेक्षाकृत मारक भी है। सर्वेश्वर के इन व्यंग्यों में पक्षधरता और अकारण आक्षेप करने की प्रवृत्ति नहीं है : ऐसा तो वह कवि किया करता है जो अपने अहं की तुष्टि के लिए मनमानी शराब पिलाया करता है। व्यंग्य का स्वर 'काठ की घंटियाँ' में भी था और 'बाँस का पुल' में भी फिर 'एक सूनी नाव' इससे अछूती क्यों रहती ? वहाँ तो अकेले में बैठकर दुनियाँ का नजारा अलग-अलग कोणों से देखकर व्यंग्य करने की खासी छूट हो सकती थी। 'व्यंग्य मत बोलो', 'किड़-किड़ कियाँ कियाँ' 'धन्त मन्त' जैसी कविताओं में कवि की व्यंग्य-संवेदना पर्याप्त फैली हुई है। इन व्यंग्य कविताओं में जिन्दगी; जिन्दगी के तौर-तरीके, स्वार्थी वृत्ति और आधुनिक सभ्यता व्यंग्य का विषय बने हैं। 'व्यंग्य मत बोलो' कविता में अंधी दुनियाँ की, अँधेरे में राह टटोलती और बिना समझे बूझे अनुकरण करने की प्रवृत्ति पर व्यंग्य किया गया है। उसके साथ ही रंग बदलती और अपने स्वार्थ के लिए दूसरों के प्राण हरण करने वाली स्थितियों पर भी व्यंग्य किया गया है। 'पढ़ी लिखी मुर्गियों' के माध्यम से आज की फैशनपरस्त, चमक-दमक के रंग में रंगी और अस्तित्व से बेखबर जिन्दगी को व्यंग्य का निशाना बनाया गया है। 'धन्त मत' कविता में नये शहरीपन और अवसर की ताक में रहने वाले; थोड़े से पैसों के बल

1. एक सूनी नाव, पृ० 41
2 वही पृ० 68
3 वही पृ० 53

पर तिकड़म से नेता बनने वाले और जनता को धोखा देने वाली संसदीय पद्धति और व्यवस्था पर गहरी चोट की गई है। कवि ने प्रहारक शब्दावली में 'लखा है : 'दिल्ली हमका चाकर कीन्ह/दिल-दिमाग भूसा भरि दीन नेता बनेन कमाएन नाम/नाम दिहिन संसद में सीट/ओह पर तैठ के कीन्हा बीट/बीट देखि छाई खुशियाली/जनता हँसेसि बजाइसताली।"[1] यों व्यंग्य और भी अनेक रूपों में उभरा है किन्तु; कतिपय स्थलों पर सांकेतिक शैली में कलात्मक चोट की गई है :

"यह गली सँकरी है/वह गली सँकरी है/
इस गली में एक दुकान है/उस गली में एक दुकान है/
इस गली का दुकानदार बेईमान है/उस गली का दुकानदार बेईमान है।
क्या इसी से/दोनों गलियाँ मिलकर एक हो जायेंगी ?
और हमारे तुम्हारे रास्ते एक हो जायेंगे.........."[2]

वर्तमान युग में ईश्वर का नाम कवच मात्र रह गया है जिसके सहारे कोई भी मूर्खता, कितनी भी बड़ी बदतमीजी कभी भी की जा सकती है। 'इस मृत नगर में' कविता के अन्तिम बन्द में इसी स्थिति पर व्यंग्य है तो "इतिहास के नाम पर/एक बहुत बड़ा झंडा यहाँ लहराता है/मरे हुए इतिहास का एक पन्ना/दौड़ता फड़फड़ाता गाता है।" में व्यंग्य मीठा हो गया है। कहीं-कहीं नगरीय जिन्दगी की विद्रूपताओं के अनुभव सीधी भाषा पा गये हैं और कहीं समसामयिक यथार्थ व्यंग्य-कला का सहारा पाकर पूरे के पूरे अनुभव-लोक को उजागर कर गया है—

"बड़े-बड़े घरों के कचरे पर डोल रहीं
पता नहीं कहाँ-कहाँ गन्दे पर खोल रहीं
हर अपाच्य पाच्य इन्हें
ऐसी हैं प्रचुरंगियाँ"[3]

बाँस का पुल' में एक कविता है 'यहीं कहीं कच्ची सड़क थी'। इसमें पुराने के प्रति—अतीत के प्रति जो हल्की आसक्ति थी, वह 'एक सूनी नाव' की 'एक शहर' कविता में बिलकुल नहीं रही है। यद्यपि कविता की शुरुआत 'एक शहर चिपक रहा है मेरे जूतों से/मैं लौटना चाहता हूँ" से होती है और कवि के हाथों में कच्चे मसाले की गंध भी है और इसके लिए वह अपने जूते तक छोड़ने को तैयार

1 एक सूनी नाव, पृ० 60
2 वही पृ० 67
3 वही पृ० 58

है, परन्तु वह जानता है कि वक्त की आवाज यह नहीं है और परिस्थिति का तकाजा है कि जो सामने है उसे नकारा नहीं जा सकता है। इसी मनस्थिति मे कवि लिख गया है : "बिलों और बसों के टिकटों पर/पैर रखता हुआ/राह मोड़ सकता हूँ/ पर दुकाने बन्द हैं /और मुझे कीमत चुकानी है ।"[1] आलोच्य संग्रह में कुछ 'मिनी कविताएँ' भी है जिनमें प्रेम और सौन्दर्य की स्थितियों के बिम्ब हैं। इनमे 'समर्पण', 'आश्रय' और 'वसन्त राग' आकर्षित करती हैं। प्रेम और सौन्दर्य दर्द की अनुभूतियों की तरह ही सर्वेश्वर के प्रिय विषय हैं। इनसे जुडी हुई कविताएँ भी यहाँ कई हैं ऐसी कविताओं में 'तुम्हारे साथ रहकर', तुमसे अलग होकर' 'अब नदियाँ नहीं सूखेंगी', 'वसतराग', 'रात में वर्षा', 'प्यार एक छाता', 'यह इमारत प्यार की', 'पूर्णिमाकथा', 'रूप की यह धूप', 'काठमांडू में भोर', 'चंचल हवाएँ' और 'हवा बसन्त की' प्रमुख हैं। इनमें कवि का प्रेमिल मन अपनी अनुभूतियों को पूरी सान्द्रता और आर्द्रता के साथ लिपिबद्ध कर सका है। इनमें न केवल आन्तरिकता की घनता है; अपितु भावुकता के चरम क्षण भी है। हाँ 'बाँस का पुल' की तुलना में यहाँ कवि की राग-दृष्टि कुछ प्रौढ़ हुई है; कच्ची भावुकता नहीं रही है। अत. इसे कवि के भावुक मन का दिशांतर भले ही न कहें, प्रेमिल मानस के विचार बिम्ब तो कह ही सकते हैं। यों अनुभूतियों में परायापन नहीं है। प्रिय का संसर्ग यदि सारी दुनियाँ को आँगन में बदल देता है तो उससे अलग होकर प्रेमी के पंख छोटे और अस्तित्व अर्थहीन हो जाता है। इन दोनों स्थितियों का मार्मिक, सहज किन्तु आत्मीय अंकन मनोवैज्ञानिक धरातल पर किया गया है : "तुम्हारे साथ रहकर/ अक्सर मुझे ऐसा महसूस हुआ है। कि दिशाएँ पास आ गई हैं/हर रास्ता छोटा हो गया है/दुनियाँ सिमटकर/एक आँगन बन गई है/तुम्हारे साथ रहकर अक्सर मुझे महसूस हुआ है/कि हर बात का मतलब होता है यहाँ तक कि घास के हिलने का भी"[2] और "तुमसे अलग होकर अचानक पंख छोटे हो गये हैं/और मैं नीचे एक सीमाहीन सागर में गिरता जा रहा हूँ ..../तुमसे अलग होकर/हर चीज हे।"[3] में कुछ खोजने का बोध/हर चीज से कुछ पाने की अभिलाषा जाती रही/सारा अस्तित्व रेल की पटरी-सा बिछा है, हर क्षण धड़धड़ाता हुआ निकल जाता अब नदियाँ नहीं सूखेंगी' मे कवि की प्रेमिल अनुभूतियाँ प्राकृतिक उपकरणों से मिलकर लहरिल और उल्लसित करने वाली हो गई है। 'पूर्णिमा कथा' मे प्रेम प्रतिध्वनित है; उसका आवेगमय समर्पण नहीं है। कारण कवि के मानस में 'कौन सम्बन्ध तर्कों पर जीता है', 'कौन संदर्भ सदा बना रहता है', 'कौन प्यार पूर्ण समर्पित होता है'

---

1. एक सूनी नाव, पृ० 34
2. वही पृ० 6
3. वही पृ० 8

और 'कौन यात्रा अन्त तक बनी रहनी है' जैसे प्रश्नों के अंकुर उग आये हैं। प्रकृति-सौन्दर्य की कविताएँ बिम्बों के सहारे आगे बढ़ी हैं। रोमानी संदर्भों की पालिश उतर जाने से या कहूँ कि कुछ फीकी पड़ जाने के कारण और यथार्थ से जुड़े नये समसामयिक संदर्भों के कारण कवि के बिम्ब आकर्षक व प्रभावी बन पड़े हैं। 'पाँच नगर प्रतीक' कविता इसका अच्छा उदाहरण है . 'दिल्ली : नकली हीरे की अँगूठी असली दामों के केशमीमो में लिपटी रखी है।"

अन्त में सकलन की दो सशक्त कविताओं की चर्चा और अपेक्षित है और वे है 'इस मृत नगर में' व 'युद्ध-स्थिति'। युद्धस्थिति जिजीविषा की कविता है। कवि अनेक स्तरों पर—आंतरिक और बाह्य; सामाजिक, वैयक्तिक; नये मूल्यों, और पुराने मूल्यों; मानवीय और अमानवीय आदि; युद्धरत है। उसका यह युद्ध भले ही किसी भी स्तर पर हो; है आस्थावादी व जीवनवादी मूल्यों की प्रतिष्ठा के लिये। वह आदर्शों की प्रतिष्ठा का कायल नहीं है; वह तो जर्जर मूल्यों के ध्वस पर नयों के प्रस्थापन का पक्षपाती है बशर्ते अमानवीय या पाशविक स्थितियो को महत्त्व न मिले। इस तरह उसकी लड़ाई का प्रयोजन यह है : "एक युद्ध हर क्षण/मैं अपने भीतर लड़ता हूँ/धरती को बड़ा करने के लिए/और दृश्यों को सुन्दर सौन्दर्य को उदार करने के लिए और आस्थाओं को समुन्दर/... .... कामनाओं को फूलों से भरने के लिए।.... .. निष्पाप कर्मों के तन पर लपेट कर/हर प्यासी आत्मा को जीवन के छद से[1] आदि। इस स्थापना के लिए कवि पाशविक युद्ध, अकारण नर-संहार और सहानुभूति व करुणा के भूखे लोगों पर किये जाने वाले अत्याचारों के खिलाफ भी संघर्ष करने को तैयार है। कविता के उत्तरांश में कवि का विद्रोही रूप मुखरित है। उसकी भाषा का मिजाज बदल गया है। उसके शब्द साहसिक सैनिकों की तरह अमानवीयता के खिलाफ़ आग उगलने वाली और 'फास्ट' शैली में विद्रोह करने पर आमादा हो गये हैं :

"कौनसी आयतें पढ़ते हैं ये बमबार जहाज ?
किसका नाम पुकारते हैं ये गड़गड़ाते टैंक ?
मैं थूकता हूँ उन धर्मग्रन्थों पर
जिनकी जिल्द के भीतर नकली सफों में
शैतान दिमागों के नक्शे हैं
और खूनी चालों की इबारते
जिनका अर्थ प्रार्थनाघरों में नहीं
लड़ाई के मैदानों में खुलता है"[2]

1. एक सूनी नाव, पृ० 51
2 वही पृ० 52

कहने का तात्पर्य यही है कि यह सर्वेश्वर के अंतस् से निकली एक ऐसी कविता है जिसमें उन्होंने अपने समकालीन परिवेश का एक सशक्त और यथार्थ मानचित्र प्रस्तुत किया है। यह कवि की जागरूकता; साक्षात्कृत परिवेश और संदर्भों की कविता है। व्यक्ति शैली के होते हुए भी इस कविता का पाट बहुत चौड़ा हो गया है। कवि ने बाह्य परिवेश के यथार्थ को अपने आंतरिक सत्य से जोडकर जो टकराहट पैदा की है; जो बेचैनी व्यक्त की है; उसका मूल्य बहुत काफी है। यही स्थिति 'इस मृत नगर में' कविता की है। उसका पाट भी काफी फैल गया है। वह सर्वेश्वर के मानस से अन्य व्यक्तियों, सामाजिक सदर्भों और प्रशासनिक सीमाओं तक को छूता दिखाई देता है। कवि इस दुनियाँ को मृत नगर मानता है क्योंकि यहाँ सर्वत्र एक स्वार्थ-यात्रा बढ़ रही है; मानवीय सम्बन्ध टूट रहे हैं; अकेलापन बढ़ रहा है। इतना ही नहीं स्थिति यहाँ तक है : "बड़ी से बड़ी बात/हवा में धूल की तरह उड जाती है/प्रार्थनाघरों के घण्टे तक/जंगली जानवरों की तरह/दुर्गंध सूँघते मिलते हैं/और ईश्वर का नाम/हर कमीने चेहरे पर मुखौटा बन जाता है/आस्था के नाम पर मूर्खता/विवेक के नाम पर कायरता/सफलता के नाम पर नीचता/मुहर की तरह हर व्यक्ति पर लगी हुई है/और एक लाश दूसरी लाश को/इन्हीं साँचों में ढालती जाती है/इस मृत नगर में/"[1] एक प्रकार से कवि ने इस कविता के द्वारा हरेक स्थिति को मरणधर्मा माना है क्योंकि मृत नगर में और हो भी क्या सकता है ? यदि और कुछ संभव होता तो कवि को किसी न किसी पुतली में मानवीय चमक दिख गई होती।

कुल मिलाकर यही कि 'एक सूनी नाव' में मात्र दर्द और अवसाद नहीं है; आस्था, संकल्प और जिजीविषा के स्वर भी गहरे हैं। कवि अपने सूनेपन में भी— अपनी अकेली नाव में होकर भी सारे परिवेश और समकालीन संदर्भों का नक्शा खींचने में सफल हुआ है। यह नक्शा कृत्रिम नहीं है; यथार्थ है और इसी यथार्थ से पीड़ित होकर सर्वेश्वर का कवि त्रासदियों के बीच जी रहा है; जीने का निमंत्रण दे रहा है। जीवन के विविध संदर्भ कहीं व्यंग्य से, कहीं प्रतीकों से; कहीं स्पष्ट और कहीं विद्रोही शैली में जिसमें आक्रोश का स्वर भी है; सर्वेश्वर की कई कविताओं मे आकार पा सके हैं। उसके शब्दों में स्नेह भी है; विद्रोह भी है; शैली में स्निग्धता भी है और गत्वरता भी है। प्रतीक-उपमान न तो घिसे-पिटे हैं; न मुलम्मा उतरे हुए और बिम्ब भी न बासी हैं; न आफ्टर रिपीटेड।

गर्म हवाएँ

1969 में प्रकाशित 'गर्म हवाएँ' सर्वेश्वर की काव्य-यात्रा की चौथी सीढ़ी है। कठिले विषयों में संगीत भरने वाला; बाँस के पुल से अविकृत गुजरने वाला और

---

1 एक सूनी नाव पृ० 37 38

'सूनी नाव' में बैठकर भी दुनियाँ का नजारा दिखाने वाला सर्वेश्वर इसी सीढ़ी पर आकर–नाव से बाहर आकर जब खुले आसमान के नीचे खड़ा होता है तो गर्म हवाओं के थपेड़ों से उसका मन उद्वेलित और चेहरा तमतमाने लगता है। इस उद्वेलन और तमतमाहट में उसकी भाषा का मिज़ाज भी बदलता है और उसकी शैली भी अपेक्षाकृत आक्रामक और विद्रोही हो जाती है। नरमी से गरमी की ओर आते हुए कवि न केवल स्वयं युद्ध हो गया है; अपितु वह ऐसा हथियार भी हो गया है जिसकी धार छुअन भर से घाव कर देती है। 'सूनी नाव' में जब वह अकेला होकर भी अकेला नहीं था तो यहाँ तो वह नाव से बाहर आकर खुले में खडा पेड़ है। अपने इस रूप में वह समसामयिक जीवन से जुड़ता हुआ भी अपनी आन्तरिकता को बनाये रखता है। वह राजनीति, समाज, देश, संसद लोकतन्त्र, गरीबी, बेरोजगारी सभी को अपने भीतर महसूस करता है; किन्तु उसे सर्वाधिक पीडा नैतिक दारिद्रय के निरन्तर होते जाते विस्तार से महसूस होती है। वह करुणा और सहानुभूति के जल से भारतीय जनों का अभिषेक भी करता है। फलतः जो व्यंग्य स्वभावतः तेज हो सकता था; चिकने चेहरों की चमड़ी उधेड़ सकता था, वह भी यहाँ घायल नहीं करता है, वह घायल स्थितियों पर मरहम लगाने के अंदाज मे पाठक की सवेदना को हिलाकर रह जाता है। यों कवि की साहसिकता बढी है। वह पहले की अपेक्षा अधिक निर्मम हुआ है, परन्तु उसकी यह निर्मम साहसिकता परिवेश की विद्रूपता के कारण है! यह ठीक भी है क्योंकि सर्वेश्वर ने यहाँ अपने 'सेल्फ को भुलाकर परिवेश से अधिकाधिक जुड़ने की कोशिश की है। यह बात अलग हे कि इस कोशिश मे कहीं-कहीं वह आंतरिक चेतना और बाह्य चेतना के मध्य समीकरण नही बिठा पाया है। यों यह ठीक है कि उसकी 'सूनी नाव' जो पहले भी खाली तो नहीं थी; यहाँ आकर पूरी तरह भर गई है; किन्तु पहले की शून्यता, अकेलापन; अकेलेपन के बोध से जुड़ी सारी मनस्थिति कवि की ज्यों की त्यों है। उसकी अन्तर्मुखता जब बाहर आयी है तो अनेक स्थलों पर; अनेक स्थितियो मे कवि दो खंभों के बीच झूलता नजर आता है। इस द्विधा में या कहूँ कि अन्तर्बाह्य के समीकरण के अभाव में ही कविता गिरने लगी है और अनुभूति की दीवारो से बाहरी बोध का पलस्तर झड़ने लगा है। ऐसा क्यों होता है कि कवि दो स्तरो पर एक साथ हाजिरी देना चाहता है। इसका उत्तर सर्वेश्वर की उन कविताओं में ही मिल जाता है जहाँ ऐसा है। मेरी दृष्टि में वे रूमानी बोध में अपनी निजता का नक्शा तैयार करते हैं और इस तैयारी में वही देश और राजनीति का नक्शा भी हो जाता है। ऐसा होना बुरा नहीं है, किन्तु फिर उलटकर अपनी निजी सवेदनाओ की चौखट पर सिर पटकना और होश आते ही फिर दुनियाँ की ओर ताक-झाँक करने में एक दरार बनी रहती है और सब कुछ मिलाकर ऐसी गिड्डुली बन जाती है कि असली नक्शे की पहचान ही कठिन हो जाती है ऐसे स्थलों पर की

कतिपय कविताओं में भाषा और भाव भी समझौता नहीं कर पाये हैं। पर यह बात कुछ ही कविताओं के बारे में कही जा सकती है; सबके बारे में नहीं। इतने पर भी इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता है कि सर्वेश्वर इस अन्तर्बाह्य के समीकरण के अभाव में भी प्रभावित करते हैं क्योंकि अलग-अलग होकर भी ये स्थितियाँ ईमानदारी से उठाई गई है। कमी यही है कि कहीं-कहीं इन स्थितियों को जोड़ने वाला सीमेंट सरकारी है।

सर्वेश्वर के पिछले संग्रहों में जिस आत्मीयता, भोलेपन और एक विश्वसनीय सादगी की शुरूआत हुई थी, उसकी एक कतार यहाँ भी खड़ी मिलेगी ठीक वैसे ही जैसे प्रेम की सहज और विश्वसनीय स्थितियों की पाँत। संकलन के दूसरे खण्ड की कविताओं में जो स्वर्गीया पत्नी को समर्पित हैं, काफ़ी हद तक रूमानी रुझान है। यह शक्ति भावुक कवियों की तरह इस कवि की जमा पूँजी है जिसे वह जरूरत के तौर पर इस्तेमाल करता है। यह इस्तेमाल ही कवि की असली पहचान या कहिए उसकी सीमा को भी रेखांकित करता है। मै यह नही कह रहा कि यह भाव-शक्ति गैर जरूरी है। मैं तो यह कह रहा हूँ कि कवि इस बदलती दुनियाँ में भी बार-बार परिवेश के आँगन में आकर भी लौट क्यों जाता है ? क्या इसका कारण यह है कि नयी बदलती दुनियाँ का शोर-शराबा, कुहराम, आपा-धापी और धकापेल उसकी कल्पना में अँट नहीं पा रहा है ? या यह कि वह इस शोर-शराबे से मुक्ति पाने के लिए अपनी मानसिक दुनियाँ में लौट जाता है या यह कि उसका असली रचना-ससार वही आंतरिक दुनियाँ है ? मै समझता हूँ कि वह मुक्ति के लिये तो पीछे लौटता नहीं है क्योंकि परिवेश के दबाव से पीछा छुड़ाना उसे काम्य नहीं है। वह दबाव-तनाव झेलकर नयी ऊर्जा से इन सबका मुकाबला करने के लिये और आंतरिक शक्तियों के विस्तार व प्रतिष्ठापन के लिये ही ऐसा करता है। इस प्रयास में वह तनाव भी सहता है; खिंचता भी है, पर कभी-कभी करुणाविगलित भी हो जाता है। पिछले संकलनों में उसका दर्द, प्यार और उससे जुड़ा परिवेश जितना साफ और उसकी आत्मीय उपस्थिति का गवाह था वही यहाँ आकर एक नई जमीन पर सिर पटकने की कोशिश में न तो लहूलुहान हो सका है और न उसी रूप में अपने को सुरक्षित रख सका है। इसी कारण सारे भावबोध में जो नया और समसामयिक भी है, एक फाँक पैदा हो गई है जिसे कवि का शिल्प भी नही भर सका है। फिर भी यह माने बिना नहीं चला जा सकता है कि वह समसामयिक स्थितियों से जुड नहीं पाया है। वह तो उनसे जुड़ा है। उसने अपनी नाव से निकलकर अपने आस-पास फैले परिवेश को खुली आँखों से देखा है और उसका भोक्ता बन गया है।

'धीरे-धीरे', 'यह खिड़की', 'छीनने आये हैं वे' और 'स्थिति यही है' जैसी कविताओ मे एक चेतन कवि की हैसियत से उस बिन्दु पर उपस्थित है

जहाँ वे भरी हुई बोतलों के पास खाली गिलास से रख दिये गये हैं। यही वह जगह है जहाँ कवि का आत्म देश और समाज में मिलने की कोशिश करता है। यह वह देश है जहाँ सब कुछ 'धीरे-धीरे' हो रहा है और यह धीरे-धीरे ही हमें; हमारे देश और हमारे शासन-तंत्र को खोखला, जिन्दगी को अर्थहीन व शक्तिहीन बनाता हुआ मौत की घाटी में ले जा रहा है। धीरे-धीरे की इस राजनीति के कारण ही देश की स्थिति लड़खड़ारही है। आजादी के बाद के वर्षों ने यह निष्कर्ष दिया है कि "धीरे-धीरे कुछ नही होता सिर्फ मौत होती है"। कवि इसे पसंद नहीं करता है। कारण; यही वह नीति है जो 'गांधी' और 'लोहिया' को खा गई। जिस देश मे मूल्यों का विघटन हो रहा हो और जिसकी तरक्की की रफ्तार धीरे-धीरे टालम-टोल आश्वासनों से और भी मद्धम पड़ गई हो; उस देश का सचेतन सर्जक यही कह सकता है :

> "धीरे-धीरे एक क्रांति-यात्रा
> शांति-यात्रा में बदल रही है
> सड़ाँध फैल रही है—
> नक्शे पर देश के और आँखों में प्यार के
> सीमांत धुँधले पड़ते जा रहे हैं
> और हम चूहों से देख रहे हैं"।[1]

इस संदर्भ में कवि ने जो बेपर्द और साहसिक निष्कर्ष दिया है वह आजादी के बाद के भारत का सही रूप भी है और इस नीति को छोड़ने का संदेश भी : "मेरे दोस्तो/धीरे-धीरे कुछ नहीं होता/सिर्फ मौत होती है/धीरे-धीरे कुछ नहीं आता/सिर्फ मौत आती है/…………सिर्फ मौत/खाली बोतलों के पास/खाली गिलास सी/"[2] देश का विघटन, उसके जीवन में धीरे-धीरे जमा होती गई रिक्तता देश को, हमको और हमसे जुड़े सबको; मौत की गोद में धकेल रही है। कवि अपने में सिमटा हुआ मौत के पास खड़ा है और इस तरह देश की नियति का गवाह बन गया है। वह अकेलेपन, बेवसी और मृत्युदंश से कराह रहा है। इतना ही क्यों वह इसी कारण उस खिड़की को भी बंद ही रखना चाहता है जिसमें मानवीय मूल्यों का स्वरूप बद है क्योंकि उसे ज्ञात है कि अब ये मूल्य सुरक्षा माँग रहे हैं। इसी सुरक्षा-भावना में बहता हुआ मानवीय नियति का विश्वासी कवि कहता है : "किसी असमर्थ की प्रतीक्षा से/बंद कमरे की घुटन बेहतर है/जिसने खुद अपनी जबान काट ली हो/

---

1. गर्म हवाएँ; पृ० 12
2. वही पृ० 11

उससे नहीं बोलूँगा, अब मैं यह खिड़की नहीं खोलूँगा"/[1] यहाँ निजी परिवेश का दबाव गहराया हुआ है। अब कवि को मानवीय नियति और उसके मूल्यों पर विश्वास नहीं रहा है तभी तो वह उदासी, निराशा और घुटन को पसंद करता है। आगे वह अर्थहीनता के शोर में डूबता-दबता चला गया है क्योंकि मुक्ति की आवाज व बंधन-हीनता की ललक बेदम हो गई है। वह मानता है कि मौत, मायूसी और सडाँध सच नहीं है। अत. मूल्यों का विश्वासी कवि मूल्यों के संक्रमण की ओर इशारा करता है : "जिन्दगी मरा हुआ चूहा नहीं है, जिसे मुख में दबाये बिल्ली की तरह शाम गुजर जाये/और मुँडेर पर कुछ खून के दाग छोड़ जाये/उससे न तो इतिहास लिखा जाता है/न प्रेम-पत्र, उनसे न तो झंडे रँगे जाते हैं/न रूमाल/"[2] लगता है कवि की भाषा यहाँ तेजी से भागती हुई हर जड़ता, हर सूनेपन और हर पथराई स्थिति के बिम्ब सौंप रही है। उसमें एक ओर आक्रोश की हल्की मुद्रा उभरी है तो दूसरी ओर साहसिकता और निर्भयता भी। इसी स्थिति में वह 'सात आसमान खोलने' की बात करता है और इसी भूमिका पर खड़े होकर उसका घुटन भरा कमरा देश का सलामी मंच बन जाता है। कविता की रौ में बहते हुए हमारी सारी संवेदनाएँ झनझना उठती हैं विशेषकर तब जब कवि कहता है :

"यह बंद कमरा
सलामी मंच है
जहाँ मैं खड़ा हूँ—
पचास करोड़ आदमी खाली पेट बजाते हुए
ठठरियाँ खड़खड़ाते
हर क्षण मेरे सामने से गुजर जाते है।"[3]

और आगे की ये पंक्तियाँ "झाँकियाँ निकलती हैं/ढोंग की विश्वासघात की/बदबू आती है हर बार/एक मरी हुई बात की/ ....असमर्थ देश/असमर्थ प्यार/दोनों का ही मेरा नमस्कार"/कवि की चेतना के उन क्षणों को उजागर करती हैं जिनमे उसके निजी परिवेश की पीठ पर देश और उसकी विविध स्थितियो का बोझ उतर आया है। यद्यपि उसे विश्वास है कि इन अनचाही स्थितियों का बोझ किसी को भी गवारा नहीं है, किन्तु क्या; लेकिन, परन्तु जैसे शब्दों की सीमा से दीवार लाँघकर आती विवशता और ऐसी ही कुछ लाचार और बेदम स्थितियों से सारा परिवेश घिर नहीं गया है ? फिर ऐसी स्थिति में इस अनुभूति को प्यार किया जा सकता है :

---

1. गर्म हवाएँ, पृ० 13
2 वही, पृ० 14
3 वही पृ० 15

"कोई रास्ता कहीं नहीं ले जाता/वापस लौट आता है/उन्हीं तहखानों में/जहाँ चारों ओर लगी हुई/दीमकों की कतार है/सीलन है, चूहे हैं, जाले हैं।"[1] देश में नपुंसकता और लाचारी का फैलाव इतना बढ़ गया है कि कोई भी साहस और निर्भीकता के साथ कुछ भी नहीं कर पाता है। सत्ताधारी पाशविक हो गये हैं; परन्तु उनके गीतों का स्वर करुणा और बंधुत्व का ही है। वे शोषक हो कर भी पोषक बने रहने का छद्म करते हैं। ऐसे परिवेश में जीवित व्यक्ति न तो गुस्सा कर सकता है, न घृणा क्योंकि आततायी मजबूत और तेज सलाखों वाले पिंजड़े में बैठा है। अत: जनता यदि शेर बनकर झपट्टा भी मारे तो उसके अपने ही पंजे घायल होंगे। फिर बात यहाँ तक ही नहीं है क्योंकि : मैं जानता हूँ मेरे दोस्त/हमारा-तुम्हारा और सबका गुस्सा/जगली सूअर की तरह तेजी से सीधे दौड़ता हुआ निकल जायेगा/और उस शिकार का कुछ नहीं बिगड़ेगा/जो पैंतरा बदल लेता है"।[2] सामाजिक विसंगतियों की भयावहता और दमघोंट स्थितियों में आदमी को अपना ही चेहरा दिखाई नहीं देता है। उसे अपनी ही चीख गैर की मालूम होती है। मृत्यु के भय से घबराया या बौखलाया आदमी इस तरह समाज में जी रहा है कि सिवाय इसके कि वर्तमान स्थिति मे वह अपने होते हुए भी न होने का आखिरी बयान दर्ज कराना चाहता है। ये कुछेक संदर्भ ऐसे हैं जिनसे सर्वेश्वर वर्तमान कहें कि वर्तमान के भी उस क्षण पर खड़े हैं जहाँ वे सारे समाज की तसवीर को कुछ ही शब्दों में आकार दे देते हैं। वे वर्तमान विसंगतियों और तनाव के उस रूप का बिम्बों में बाँधते हुए दिखाई देते हैं जिस पर साठोत्तर लेखन टिका हुआ है।

आलोच्य संग्रह में ये कुछ स्थितियाँ हैं, संदर्भ है जो सर्वेश्वर को समसामयिक बोध और परिवेश का कवि प्रमाणित करते हैं। हाँ; आजादी के बाद की स्वार्थान्धता और निर्ममता की बात अब काफ़ी पुरानी हो गई है। इसके कारण एक नहीं दो है—एक तो यह है कि अब हम इन स्थितियों के अभ्यस्त हो गये हैं और दूसरे यह कि ये वृत्तियाँ अब हमारी शिराओं में बहते खून के हर कतरे के साथ मिलकर एकमेक हो गई हैं। अब इनसे भी भयानक स्थितियों का माहौल है। ऐसी स्थिति में किसी नेता या देवता या किसी मूल्य के नाम पर सुधार की बात भी गले नहीं उतरती है। वह सही होकर भी झूठ लगती है। उसमें जान होते हुए भी हमें एक बेजान अनुभव से गुजरना पड़ता है। 'लोहिया' और 'गांधी' के सम्बंध से लिखी गई कविताएँ ऐसी ही सुधारवादिता का प्रच्छन्न आभास देती हैं। लोहिया-दर्शन का हिमायती सर्वेश्वर का कवि हर बार एक कविता लिख देता है जो तमाम कविताओं

---

1 गर्म हवाएँ पृ० 20

2 गर्म हवाएँ पृ० 21

के बीच पैबन्द लगती है। यदि वह ऐसा न करता तो भी वह दर्शन तो अन्य कविताओं मे भी था। आलोच्य संग्रह में 'लोहिया के न रहने पर' कवितागत श्रद्धांजलि एक दुहराहट लगती है। 'ओ मेरे देशवासियों एक चिंनगारी और/निहत्था अकेला वह गुजर गया/चौआलीस करोड़ लोगों के/दिल में से नहीं/एक जलती सलाख सी/दिमाग से/ अपनी खाली जेबों में/पाओगे पड़ा हुआ तुम उस नाम को/'"[1] जैसी पक्तियो मे यह दुहराहट साफ़ है। कवितान्त में तो "दुर्नीति को, ढोंगी व्यवस्था को/कायर गति को/मूढ़ मति को/जो मिटा दे दैन्य, शोक, व्याधि/यही है उसकी समाधि"/ यह स्थिति इतनी बचकानी हो गई है कि कविता कविता नहीं रही है। वह छोटे स्कूली बच्चों को किसी हेडमास्टर द्वारा दी गई जरूरी सीख हो गई है। समूची कविता में 'लोहिया' के व्यक्तित्व, उनकी अनुपस्थिति का अभाव इतना नहीं उभर सका है जितना कि उनका विज्ञापन। यह विज्ञापन कवि की चेतना का स्खलन है। इससे अनुभूति और अभिव्यक्ति दोनों की धार के कुंद होने का खतरा बढ़ गया है। विज्ञापनी शैली के कारण एक महिमामय और सही दृष्टि रखने वाले लोहिया के व्यक्तित्व का यह अंकन कविता को खडड् में धकेल देता है। यदि ऐसी पंक्तियाँ न होतीं तो सौ फीसदी यह कविता-खण्ड समसामयिक परिवेश का पूरा भूगोल होता। यों अब भी है पर प्रचारात्मक संदर्भों, वक्तव्यपरकता और विज्ञापनी शैली के कारण इस भूगोल को बट्टा तो लगा ही है।

जैसा कि पीछे कहा गया है व्यंग्य करना सर्वेश्वर का स्वभाव है; उनका शैलीगत वैशिष्ट्य है। आलोच्य कृति में तीन कविताएँ : पंचधातु, बुद्धिजीवी और 'दूसरों के कपड़े पहनकर' व्यंग्य भाव को उजागर करती हैं। एक में गांधी के सम्बन्ध से, दूसरी में आज के तथाकथित बुद्धिजीवियों पर और तीसरी मे नक्सलपंथियों व नंगी पीढ़ी पर व्यंग्य किया गया है। इनके अलावा कतिपय कविताओं मे भी व्यंग्य है; पर यह व्यंग्य पहले की व्यंग्य कविताओं की तुलना में हल्का है। इनमें विनोदमिश्रित व्यंग्य है जो विश्वसनीय और चुटीला कम; करुणाविगलित अधिक लगता है। 'पंचधातु' का व्यंग्य फिर भी कुरेदता है; एक लपट जगाता है.

"और तुम्हारी लाठी ?
उसी को टेककर चल रही है
एक बिगड़ी दिमाग डगमगाती सत्ता !
और तुम्हारा चश्मा ?
इतने दिनों हर कोई
उसे ही लगाकर

---

1 गर्म हवाएँ पृ॰ 25

दिखाता रहा है अंधों को करिश्मा !
तुम्हारी चप्पल ?
गरीबी की चाँद गंजी
करने के काम आ रही है।
और घड़ी ?
देश की नब्ज की तरह बन्द है"।[1]

गांधी के बाद उनके सिद्धात समसामयिक या व्यावहारिक न होने के कारण स्वतः ही लांछित हो गये। अब वे या तो जनता को धोखे में रखने के हथियार रह गये हैं या उनकी सादगी विशेष अवसरों पर नेताओं द्वारा उल्लू सीधा करने का कवच बनकर रह गई है। उपर्युक्त कवितांश में गांधी की लाठी, चप्पल, चश्मे, घडी से व्यंग्य को तीखा बनाने की कोशिश की गई है। 'बुद्धिजीवी' मे बुद्धिजीवियों की उस थोथी तर्कणा, टालू प्रवृत्ति और वास्तविकता से किनारा करके अपनाई गई उस आरामतलब जिन्दगी पर व्यंग्य किया गया है जिसमें पड़कर ये अव्यवस्था और विकृतियों को तो फैलाते जाते हैं, उनसे निपटने का कोई प्रयत्न नहीं करते है। नया रचना इनका स्वभाव है; भले ही कल वही पुराना होकर अर्थ-हीन हो जाये। 'दूसरों के कपड़े पहनकर' कविता का व्यंग्य हल्का और हास्यास्पद हो गया है। व्यंग्य की मूल धातु तीक्ष्णता है, चोट है जो हास्यास्पद शब्दावली से कुंठित हो गई है। जिस सर्वेश्वर के व्यंग्य तीखे, आक्रामक और मारक होते थे, उसी के व्यंग्य यहाँ बड़े कमजोर लगते हैं। वे न तो सामाजिक बोध को गहरे छूते है और न विसंगतियों की चोट से पैने हुए हैं। इसी से व्यंग्यबोध की कविताओं मे (पचधातु को छोड़कर) एक अकल्पनीय ठंडापन आ गया है। वे सर्द ही सर्द है; गर्म हवाओं की तपन और थपेड़े उनमें नहीं हैं। "और वे छीनने आये हैं/हमसे हमारी भाषा यानी हमसे हमारा रूप/जिसे हमारी भाषा ने गढ़ा है/और जो इस जगल में/इतना विकृत हो चुका है/कि जल्दी पहचान में नहीं आता/"[2] इसकी पहली दो पंक्तियों में व्यंग्य है और अच्छा भी हो सकता था; पर ठंडा होकर रह गया है। कारण; व्यंग्य का आधार ध्वनि या व्यंजना रहता तो ठीक था; पर कवि ने तीसरी चौथी और अगली पंक्तियों में उसकी व्याख्या भी करदी है—उसे अभि-धात्मक भी बना दिया है। नतीजा यह कि एक सही कथ्य ठडा और अभिधात्मक बन कर रह गया है। उसकी शुरुआत जिस तेवर से हुई थी; वह तीसरी पंक्ति तक आते-आते समझाने की मुद्रा में बदल गया है। यदि यह नहीं होता तो इन

---

1 गर्म हवाएं पृ० 30
2 गर्म हवाएं पृ० 28 29

पंक्तियों की ध्वनि प्रभावी बनी रहती और पाठक इस बात को समझ लेता कि हमे हमारी जातीय परम्परा, संस्कृति-निधि, इतिहास-धन और दर्शन की गुरुता-गरिमा से वंचित किया जा रहा है। सत्ताधीशों द्वारा •भाषा का छीना-जाना सांस्कृतिक हत्या का षड्यन्त्र है।

'गर्म हवाएँ' में आया रोमानी संदर्भ 'सर्वेश्वर' का अपना संदर्भ है जिसमें वे गहरे छूते हैं। स्वर्गीया पत्नी विमला के नाम लिखी गई सूखा की कविताएँ इसी भूमिका पर पढ़ी जा सकती हैं। अनेक ताजी बिम्बों और प्रतीकों की सार्थक योजना के द्वारा अनछुए भाव, अपरिभाषित मनस्थितियों और अनाम भाव-संवेग इन कविताओं में आये हैं। 'सूखा' कविता का दर्द; उससे आई रिक्तता और अर्थहीन प्रतीक्षा कवि की त्रासद मनस्थितियों के बिम्ब है। यहाँ कवि की संवेदनशीलता शब्दों में न अँट सकने के कारण गहरे दर्द का बिम्ब जगाती है। 'पत्नी की मृत्यु पर' और 'इस जंगल में कविताओं का दर्द सौटच खरा है। इन कविताओं में अकेलापन, खालीपन, असहनीय दर्द, टूटन, न कुछ का आभास और तज्जनित त्रास ईमानदार कवि की यथार्थ स्थितियों को रेखांकित करता है। किसी असंभावित प्रतीक्षा का भाव लेकर ही वह जलहीन कूपों की आँखों में झाँकता हुआ जलती धरती के माथे को छूकर देखता है। उसके मन की धरती बंजर हो गई है। लगातार वेदना सहते-सहते वह सूखाग्रस्त हो गई है : "अभ्यासवश ही मैं यहाँ हूँ कोई कुछ देने आया हो दे जाये/लूट लेने आया है ले जाये/मुझे सभी एक जैसे लगते हैं/किसी का होना न होना/कोई मतलब नही रखता/हाँ मुझमें कुछ जगेगा नहीं, अब कहीं कोई प्रतीक्षा नहीं होगी/एक खाली पेट की तरह/मेरी आत्मा पिचक गयी है/ और ईश्वर मरे हुए डाँगर-सा बँधा गँधा रहा है"/[1] "बाँये हाथ में ले अपना कटा हुआ दाहिना हाथ/मै बैठा हूँ घर के उस कोने में/जिसे तुम्हारी मौत खाली कर गई है/ ······ अब यहाँ शाम बिना पैर धोये हुई आती है/ सितार पर रातभर रेंगता है मकड़ा, पर कोई भी तार झंकृत नहीं होता/स्तब्ध है आयु/मैं रेगिस्तान में खड़ा हूँ/एक टूटी दीवार का अकेलापन भी/अब कहाँ है जो कुछ रोक सके/गर्म हवाएँ सनसनाती हुई/मुझमें से गुजर जाती हैं/मैं आदमी से नाम बनता जा रहा हूँ/······देह का कर्म है/सहना फिर न रहना/क्या इतना ही था तुम्हें मुझसे कहना/ ······घर के इस खाली कोने में/छोड़ गयी हो तुम एक शिलालेख जो मैं हूँ, नहीं जो तुम्हारी मृत्यु है/वही मैं हूँ/"[2]

---

1 गर्म हवाएँ पृ० 46

2 वही पृ० 48-49

प्रार्थना : 1, 2, 3, 4 में करुणा का भाव गहरा है। कवि इस मुद्रा में पीडा के वेग को कम करता गया है। वह विचार के धागों से कविता का पट बुनने मे समर्थ है। "नहीं नहीं प्रभु तुमसे शक्ति नहीं माँगूगा/अर्जित करूँगा उसे मरकर बिखरकर/आज नहीं कल सही आऊँगा उबर कर/कुचल भी गया तो लज्जा किस बात की/रोकूँगा पहाड़ गिरता/शरण नहीं माँगूंगा/" जैसी पंक्तियों मे कवि वैचारिक मुद्रा लिए हुए है। उसे जो है उसमें संतोष है और साथ ही यह भाव भी है कि "तुमने जो दिया, दिया/अब जो है मेरा है"/[1] प्रार्थना 2 में 'थके चरण मेरे हों' का भाव थकान का संदर्भ लेकर नहीं आया है, यह तो वह स्वर है जो अपने थके कदमों से भी दुर्गम पथ पर बढ़ने की तत्परता दिखलाता है। तीसरी और चौथी प्रार्थनाओं का स्वर एक याचक का स्वर है, पर यह ऐसा याचक है जो शक्ति की याचना नहीं करता है वरन् यही कहता है कि "कुछ इतना बड़ा न हो/जो मुझसे खड़ा न हो/कंधों पर हो, जो हो/नीचे कुछ पड़ा न हो/....... चरणों पर गिरने से मिलता है जो सुख/वह नहीं चाहिए/" यह वह स्थिति है जो प्रकट करती है कि कवि आत्मजयी बनना चाहता है; अपनी शक्ति को ही सबसे बड़ी उपलब्धि मानता है। 'एक आत्मीय प्रतीक्षा' में भी कवि आत्मजयी होकर प्रतीक्षित है। वह बाहर की अपेक्षा अपने ही भीतर से आत्मशक्ति का प्रकाश पाना चाहता है। यह चाहत ही सर्वेश्वर को आस्था, जीवट और जिजीविषा से जोड़ती है : "वह आत्मीय स्पर्श/जो बाहर के अंधकार से आया था/अब मुझे अपने ही/भीतर के प्रकाश से माँगना पड़ रहा था/"[2] सर्वेश्वर की यही कविता क्यों और भी ऐसी कई कविताएँ हैं जिनमे कवि आत्मीयता की तलाश करता है। आधुनिक विसंगतियो के बीच जीने वाले सर्जक के लिए यह तलाश जरूरी है। इस तलाश में कवि कहाँ नही भटका है, कितनी तरह नहीं छटपटाया है ? इसमें एक ईमानदारी है। अपने खोये हुए 'सेल्फ' की तलाश और उसकी रक्षा पर सर्वेश्वर का आग्रह गहरा है।

'गर्म हवाएँ' के आखिरी सफ़ों में कतिपय प्रकृति-संवेदनाओं के भी बिम्ब हैं। 'फिर बसंत ने मुझे डसा', 'प्यार', 'तुम्हारे लिए', 'बसंत की चाँदनी', 'तुम्हारा मौन', 'वह चुम्बन', 'रेत की नदी', 'उडने दो मन को', 'शाम : एक किसान', 'बसंत के नाम एक खुला पत्र' और 'वे हाथ' कविताओं में रोमानी संसार के बिम्ब प्रकृति के उपकरणों की सहायता से तैयार किये गये हैं। प्रेम और सौन्दर्य से सम्बन्धित अनेक अच्छी और आकर्षक कविताएँ सर्वेश्वर के पहले संग्रहों में भी स्थान पाये हुए है। यहाँ जो कविताएँ है, उनमें 'प्रेम' विचार का विषय अधिक लगता है और सौन्दर्यांकन

---

1 गर्म हवाएँ, पृ० 52

2 वही पृ० 59

शब्द क्रीड़ा मात्र । यह अकारण नहीं है । कवि की अनुभूति में अब यह बात अहम हो गई है : "होगी कहीं चाँदनी/होगा कहीं प्यार/धूल केवल धूल मेरा संसार,"[1] प्रकृति के सौन्दर्योपादान भी अब उल्लसित कम करते हैं; सम्मोहन कम जगाते है क्योंकि कवि के मानस में और बहुत आ सिमटा है । प्रश्नों की भयावहता; युग के प्रस्तरीकृत भाव और प्रश्निल संदर्भ कवि को भीतर से हिलाते समय किसी फूल की गंध नहीं देते, यदाकदा खिले फूलों को भी झपटकर तोड़ देते हैं । यह कवि की अनुभूतियों का विचारों की ओर बढ़ना है । फिर भी कुछ अच्छे प्रकृति बिम्ब इस संग्रह में मौजूद हैं :

1. "आकाश की तख्ती पर/सितारों की बारहखड़ी लिखकर/
   चाँद की दवात को लात मार लुढ़का/भाग जाता है रात के मदरस से/
   शरारती सूरज/और चिड़ियाँ सुबह तक हिसाब जोड़ती रहती हैं/
   बस्ते में भरकर/"[2]

2. "आकाश का साफ़ा बाँधकर/सूरज की चिलम खींचता/बैठा है पहाड़/
   पास ही दहक रही है/पलाश के जंगल की अँगीठी/अंधकार दूर पूर्व मे
   सिमटा बैठा है/भेड़ों के गल्ले सा/अचानक बोला मोर/
   चिलम औंधी/धुआँ उठा/सूरज डूबा/अँधेरा छा गया /"[3]

3. "हवा के झोंकों को/टोकरी की तरह सिर पर रखे/
   नाच रहे हैं पेड़—/झुको मत व्यथा के भार से/"[4]

ये अच्छे बिम्ब हैं । हाँ; दूसरे उदाहरण में अन्त की पंक्तियाँ न भी होतीं तो भी बिम्ब पूरा था । शब्दों की इस फिजूलखर्ची से बिम्ब बिखर गया है । यह सफाई कि "धुआँ उठा और सूरज डूब गया, अँधेरा छा गया" किस लिए ? क्या कविता को लम्बी करने के लिए ? या फिर हड़बड़ी में ऐसा हुआ ? इससे मानवीकरण की सघनता छितरा गई है । संग्रह में बसंत पर दो कविताएँ हैं –'बसंत के नाम खुला पत्र' और 'फिर बसंत ने मुझे डसा' । दोनों ही प्रभावी कविताएँ है, किन्तु शब्द और अर्थ के बीच एक अंतराल भी लगता है । कतिपय शब्दों के प्रयोग चिन्त्य हैं : 'अट्टहास कर हँसना' उनमें से एक है । 'बसंत ने मुझे डसा' की तुक के लिए 'अट्टहास कर हँसा' लिखा गया लगता है जो बेमानी है और सर्वेश्वर के शैल्पिक संगठन में एक टूटी हुई कड़ी है, लापरवाही से लिखी गई किसी शब्द की

1. गर्म हवाएँ, पृ० 76
2. वहीं पृ० 77
3 वही पृ० 79
4 वही पृ० 77

'स्पैलिंग' है। 'वसंत के नाम खुला पत्र, में रूमानी दृष्टिकोण की वजह से भोलापन है और साथ ही आत्मप्रेम की स्थिति से उत्पन्न पीड़ा का दंश भी है। इस संग्रह में कई एक जगह सर्वेश्वर ने रोमांस-विरोधी अनुभूतियाँ दी है, किन्तु लगता है उस नकार में भी सकार की ध्वनि साफ है। उदाहरण के लिए कवि की ये पंक्तियाँ देखिए—खासकर पाँचवी—

"पीले फूलों के पास हरी घास पर
मैं एक भाव की हत्या कर आया हूँ
जो मुझसे जोड़ता था
मैं जानता हूँ
उस भाव की मृत्यु मेरी मृत्यु है
पर मैं जहाँ उसकी लाश पड़ी होगी
वहाँ लौटकर भी नहीं जाऊँगा।"[1]

कुल मिलाकर यही कहा जा सकता है कि 'गर्म हवाएँ' में सर्वेश्वर की संवेदना-परिधि विस्तृत हुई है और उनका झुकाव बावजूद रोमानियत के समकालीन परिवेश की ओर बढ़ा है। उनके रचना-जगत में देश, लोकतन्त्र, संसद, महानगर, बीमारी, विप्लव, विद्रोह, शिथिलित नीतियाँ, सारी खबरें, प्रेम, सौन्दर्य, आत्मीयता, विवशता और मनुष्य की बढ़ती पाशविकता आदि सभी की आकृतियाँ उभरी हैं। फलतः उनकी शब्दावली बदली है; शब्दों में लपटों का ताप आया है। लगता है सर्वेश्वर गर्म हवाओं के थपेड़े खाने के लिए अपना मानस बना चुके है। यही वजह हैं कि उनकी भाव-चेतना में देश का नक्शा भी है; विकृतियाँ भी है, मूल्यान्वेषण भी है, सौन्दर्य और प्रेम भी है तो प्रज्ञा पारमिता 'भैंस' भी है जो संसद में घुसकर समूचे संविधान को चट कर गई है।

कुआनो नदी

प्यार किया, मिला भी, सौन्दर्य देखा, जिया भी। कवि के हिस्से में जो रूप की धूप थी, वह भी वैसी बनी नहीं रह सकी। यहाँ तक हुआ कि सूनी नाव में भी वह अकेला नहीं था। उसमें लोग आ बैठे थे जिन्हें देखकर उसे लगा कि इनसे बचा नहीं जा सकता है। फिर भी उसने अपने कमरे की खिड़की बंद करके बैठने की कोशिश की, पर दबाव बढ़ता गया और गर्म हवाओं के थपेड़े खाकर वह खिड़की अपने आप खुल गई। कमरे की दीवारों से लगातार टकराने वाली तूफानी हवा ने सारे दरवाजे उखाड़ दिये। इस तरह वह चारों ओर से आने वाले वेग और

1 गर्म हवाएँ पृ॰ 87

प्रवाह से अप्रभावित न रह सका। आठवें दशक की सुबह से ही जो उलट-फेर; राजनैतिक ऊँच-नीच; सामाजिक-संक्रमण; मूल्यों की टकराहट से उत्पन्न व्यथा और आदमी की बेपानी सूरत उसे घूर रही थी, वह मौका पाते ही उसके चेतना-कक्ष में आकर फैल गई। देश का मानचित्र नये सिरे से बनाया जाने लगा, विश्व मे राजनैतिक गतिविधियाँ तेज हुईं; शहरी संस्कृति और ग्राम्य-संस्कृति के मूल्यों के बीच अब तक जो सम्बन्ध बना या बनने की प्रक्रिया से गुजरता रहा; वह कोई शक्ल नहीं ले पाया तो मध्यवर्गीय मानस को एक जटिल तनाव झेलना पड़ा। इसी बिन्दु पर आकर कवि की चेतना ने यह भी अनुभव किया कि गाँव से आने वाला व्यक्ति शहर में पूरी तरह उस बोध से नहीं जुड़ पाया है क्योंकि इस आने में वह अकेला नहीं रहा वह पूरा गाँव—उसकी पूरी संस्कृति और पूरे मूल्य-मान भी लेकर आया है। ग्राम्य-संवेदना नगर की सड़कों पर आकर चल नहीं पाई और नगरीय बोध उस ग्राम्य-संवेदना से जुड़ नहीं पाया। दोनों में टकराहट हुई और इसी टकराहट ने कवि को 'कुआनो नदी' का प्रतीक दिया। संग्रह की 17 कविताओं में यह कविता (कुआनो नदी) न केवल सशक्त कविता है; अपितु कवि के अब तक के सृजन का उत्तमांश भी है। यह वह कविता है जो भारतीय ग्राम्य-संवेदना की सामाजिक और सांस्कृतिक पीड़ा को, उसके गरीब तबके की शोषित-बुभुक्षित स्थितियों का सांस्कृतिक इतिहास प्रस्तुत करती है। प्रस्तुतीकरण की इस प्रक्रिया में नगर, नगर के पार्श्ववर्ती गाँव कस्बे और वे गाँव भी मूर्तित हो उठे हैं जो किसी न किसी रूप में नगर से जुड़ गये हैं। सर्वेश्वर की चिन्तन-प्रक्रिया में चेतना का वह स्तर बड़ा सशक्त होकर आया है जो गाँवों की जमीन, वहाँ के परिवेश और जीवन को रूपायित करता है।

'कुआनो नदी' तीन खण्डों मे विभक्त एक लम्बी कविता है। नयी कविता ने अनेक लम्बी कविताएँ दी हैं। मुक्तिबोध की 'अँधेरे मे', अज्ञेय की 'असाध्य वीणा', 'धूमिल' की 'लुकमान अली', 'राजकमल चौधरी' की मुक्ति-प्रसंग और 'लीलाधर जगूड़ी' की 'नाटक जारी है' आदि अनेक लम्बी कविताएँ नयी कविता की पहचान और परख में सहायक कविताएँ हैं। 'सर्वेश्वर' की 'कुआनो नदी' भी इन्हीं लम्बी कविताओं की श्रृंखला में लिखी गई एक कविता है; किन्तु विशेषता यह है कि यह ग्रामीण स्थिति, संवेदना और तत्सम्बन्धी संदर्भो की कविता होते हुए भी दो संस्कृतियों बल्कि कहें कि तीन संस्कृतियों-गाँव, कस्बा और नगर, को अपने वृत्त मे समेटे हुए है। इसका कवि एक साथ तीनों स्थितियों को झेल रहा है और अनुभव कर रहा है कि सांस्कृतिक प्रवाह रुक गया है, उसमें कीचड़ भर गई है और जिस नौका पर वह सवार है, उसका मल्लाह निर्जीव पड़ा है। फलतः न लौटकर ग्राम्य-संस्कृति में जाया जा सकता है और न नगर—संस्कृति में जिया जा सकता है। वापस लौटने के लिए शक्ति नहीं और नागर संस्कृति से जुड़ पाने के लिए मन नहीं फिर क्यों करे वह कोई फैसला नहीं कर सकता है और किसी निष्कर्ष पर

न पहुँचने के कारण ही वह सोचता रह जाता है। इसी सोच में कविता आगे बढ़ती जाती है; परिवेश आता है, अपना परिचय देता है; पर कवि इसी सोच में है कि "कुआनो नदी/संकरी, नीली, शांत/जाने कब हुई गी आक्षितिज, लाल, उद्दाम, बहुत गरीब है यह धरती/जहाँ यह बहती है/" सबसे पहले हमारे सामने यह प्रश्न उठता है कि क्या 'कुआनो नदी' कोई प्रतीकार्थ रखती है ? यदि हाँ तो वह क्या है ? मेरी समझ मे नदी' की अपनी धारा; अपना तट और उस तट का अपना एक परिवेश होता है। अतः नदी संस्कृति है और संस्कृति गाँवों की चीज है—उन गाँवों की जो भारत के विस्तृत भूभाग में फैले हैं और जिनका अपना भौगोलिक, प्राकृतिक और सांस्कृतिक संदर्भ है। गंगा-यमुना नदियाँ आज भी हमे एक सांस्कृतिक संदर्भ देती हैं। हर प्रदेश, हर गाँव की संस्कृति उस क्षेत्र की नदी है। नदी से जीवन और जीवन से समस्त कार्य-व्यापार जुड़े रहते हैं। धर्म-अधर्म इतिहास-भूगोल; अर्थ-राजनीति और जीवन के सुखद-दुखद-प्रसंगों को हम क्षेत्र–विशेष से जोड़कर समझ सकते हैं। गाँवों की संस्कृति और समस्त जीवन-पद्धति में नदी का महत्व अपरिहार्य होता है। वह अपने प्रवाह, विस्तार, बाढ़ वाले रूप और गति के अवरोधक स्वरूप से अपने तट-वर्तियों को प्रभावित करती है। जब नदी में पानी नहीं रहता तो कीचड़ दिखाई देने लगती है। जैसे नदी अपने तटवर्तियों की मनःस्थिति को निरूपित करती है, वैसे ही कीचड़ भी। 'कीचड़' सहस्रों वर्षों की विकृतियों और गलित मान-मूल्यों की निरन्तरता से पैदा होता है। आज यही स्थिति है। हमारी संस्कृति के प्राणद और चैतन्य तत्व नष्ट हो गये हैं और बचा है कीचड़ जिसके स्थायी जमाव से समूचा देश अनेक त्रासद-संदर्भों का बिम्ब बनकर रह गया है। अतः जब तक संस्कृति की नदी मे जमा हुआ यह कीचड़ साफ़ नहीं होगा तब तक जीवन अपने सही अर्थ को प्राप्त नहीं कर पायेगा। इस भूमिका पर आकर 'कुआनो नदी' ग्राम्य जीवन की सांस्कृतिक चेतना का प्रतीक बन गई है। कवि के अंतस् में अनेक अनुभव आकर इकट्ठे होते हैं और वे सबके सब इसी प्रतीकार्थ के आस-पास रहते हैं।

'कुआनो नदी' जिसका अर्थ है—कुएँ से निकली नदी; एक संकेत देता है। पहली बात तो यह है कि कुएँ से कोई नदी निकल ही नहीं सकती है। यदि मान भी लिया जाय कि ऐसा हो सकता है तो यह भी मानना पड़ेगा कि वह जहाँ से निकलती है, वहीं समाप्त भी हो जाती है। हमारी समझ में इस कथन का अर्थ इतना ही है कि ग्राम्य-संस्कृति चक्राकार घूमती है—अपनी धुरी पर ही घूमती रहती है। इसी से कविता में कहा भी गया है कि "यह नदी कगारें नहीं काटती/अपना पाट नहीं बदलती है/जैसे बहती थी वैसे बहती है"/ यों आज आजादी पाने के इतने वर्षों बाद भी गाँव कहाँ बदले हैं; उनकी व्यवस्था में परिवर्तन कहाँ आया है ? अधिक से अधिक इतना हुआ है कि ग्रामीण शहरों की ओर आये हैं पर शहर गाँव

की ओर कहाँ गये हैं ? गाँव से शहर जाने की प्रक्रिया शुरू तो हुई है, पर गाँव का आदमी शहर मे 'मिसफिट' होकर रह गया है और इस स्थिति का परिणाम बडा त्रासद रहा है। वह न गाँव का रहा; न शहर का हो पाया। वह शहर इसलिए आया था कि कुछ करेगा; पर मौत के निर्मम शिकंजे में कस गया। एक छोर पर यह सब है और दूसरे छोर पर नगर संस्कृति है जिसे सभ्यता कहना ज्यादा ठीक है। यह वह संस्कृति है जो सड़क की तरह सीधी चलती है। इसके पास आँखें तो है, पर मन नहीं; इसमें गति तो है; पर जीवन नहीं है। जब ये दोनों संस्कृतियाँ एक दूसरी के विपरीत हैं तो इनके मिलान की कोशिश त्रासदी ही पैदा करेगी। कहने का तात्पर्य यह है कि 'कुआनो नदी' का प्रतीक ग्राम्य-संवेदना और उससे जुड़ी संस्कृति, उस संस्कृति में पले जीवन की व्यथा-कथा को निरूपित करता है। इस नदी का कोई भौतिक अस्तित्व नहीं है। पता नहीं डॉ हरदयाल इस बात को क्यों नही समझ पाये ? उन्हें इस कविता में प्रतीकों की अराजकता दिखलाई देती है।[1] इसी कारण वे इस कविता को एक नहीं मानते; तीन अलग-अलग कविताएँ मानते हैं। वस्तुतः यह एक ही कविता है और इस कविता में एक ऐसी पीड़ा भरी है जो ग्रामीण, नगरीय और कस्बाई तीनों व्यक्तियों की है। यों ये तीनों अलग-अलग लगते है, पर है नहीं। एक तो वह समाज है जो ग्राम्य संस्कृति को ढो रहा है, दूसरा वह है जो मूलतः गाँव से जुड़ा है पर नगर में जीने के लिए अभिशप्त है और तीसरा वह है जो महानगर दिल्ली के पार्श्व में स्थित है और शहर और गांव दोनों की संस्कृतियों का विकृत रूप है। आजादी के बाद के वर्षों मे इस तरह की स्थिति हुई है कि गाँव शहर से जुड़कर भी नहीं जुड़ पाये हैं; शहर गाँवों को अपनाने का प्रयास करते हुए भी उन्हें; उनके मूल्यों को पचा नहीं पाये हैं और कस्बा बनकर रह गये है। इन सभी स्थितियों की बिम्ब-माला 'कुआनो नदी' में है। यह कविता अलग-अलग इसलिए लगती है कि हम इस स्थिति को जोड़कर नहीं देख पाते हैं वैसे कवि ने इसे इस ईमानदारी से प्रस्तुत किया है कि मुझे इसमें कही कोई विकृति, कहीं कोई दरार नहीं लगती है और किसी भी उस व्यक्ति को नहीं लगेगी जो इसमें आये उन संदर्भ-सूत्रों को परस्पर सम्बद्ध करके समझने का प्रयास करेगा जो गाँव की स्थिति; नगर की स्थिति और इन दोनों के मिलान से उत्पन्न त्रासदी को संकेतित करते हैं।

सर्वेश्वर मूलतः मध्यवर्गीय चेतना के कवि हैं। वे गाँवों से जुड़े हैं पर महानगर में जीने के लिए अभिशप्त हैं। उन्होंने भारत के उस गाँव को देखा है जो सदियों से अपनी संस्कृति को ढो रहा है; अपनी सुखद-दुखद स्थितियों का भोक्ता

---

1 आधुनिक हिन्दी कविता पृ० 108

है। वे उस नगर में जी रहे हैं जहाँ वे ग्राम्य-संवेदना को भी झेल रहे हैं और नगरीय ताप-परिताप, दबाव-तनाव को भी। बचपन से लेकर अब तक का समूचा सांस्कृतिक संदर्भ उनकी चेतना में जीवित है। इसी कारण 'कुआनो नदी' जो गाँव की है, वही उन्हें दिल्ली की सड़कों पर भी दिखलाई देती है। दिल्ली महानगर मे साँस लेते हुए वे बस्ती जिले की उस सांस्कृतिक चेतना को साथ लिये हुए हैं ठीक उस मध्य-वर्गीय व्यक्ति की तरह जो गाँव से शहर आते समय अपना पूरा गाँव साथ लेकर आया है। यह अस्वाभाविक नहीं है क्योंकि जब हम नगरीय परिवेश में रहते हुए एक खास किस्म के अनुभवों को जी रहे होते हैं तो उसमें अन्य विविध अनुभवों की कतार भी आती-जाती रहती है—कभी प्रत्यक्ष और कभी अप्रत्यक्ष। अतः उसकी मनोभूमि में एक ओर तो वह कुआनो नदी प्रवाहित होती है जो गाँव में है और दूसरी ओर वह जो दिल्ली की—महानगर की भीड़ भरी, कृत्रिमताओं की पुंज सडक पर आकर पसर गई है। यह द्विस्तरीय यथार्थ साथ-साथ कवि चेतना पर हावी रहता है। यही वजह है कि 'कुआनो नदी' का प्रतीकार्थ विविध स्तरों पर खुलता जाता है और गाँव की कुआनो कवि की चेतना में अनुभव और चिन्तन बनकर फैलती जाती है। स्थितियाँ दोनों ही यथार्थ हैं। एक यथार्थ दूसरे को और दूसरा पहले को सामने ले आता है। कविता के दौरान नगरीय संदर्भ ग्रामीण सांस्कृतिक चेतना को व्यजित करने लगने हैं और ग्राम्य-संवेदनाओं के बिम्ब मध्यवर्गीय नगर-जीवन को। यही स्थिति कविता को प्रभावी और अन्वितियुक्त बना देती है। कवि ने जिन उपकरणों का सहारा लिया है वे विविध अनुभवों को स्पष्ट करते हुए भी एक समग्र अनुभव को निरूपित करते है। यही कारण है कि कविता में; कुआनो नदी, दिल्ली की सड़कें, नाना; पिता, काछी, कुआ, मछलियाँ, जोंक, पनियल साँप, मेढ़क, नरसल, पिपहरियों की ध्वनि, मुर्दाघाट, कुआनो का तटवर्ती क्षेत्र, लाली हो लाली की आवाज, लोहार, बढ़ई, बिसाती, रंगे सींगों वाली बैलों की जोड़ी, पसरी नदी, चिड़ियाँ, पीपल के पत्तों की खड़खड़, जालीदार पीले पत्ते, पीला सूरज, सियार, बंदर, चमगादड़, हाँफते कुत्ते और बच्चे, नाखूनों के अनुपात में बढ़ती बंजर धरती, लाशें, 'मौन रहो और प्रतीक्षा करो' का दर्शन, 'सत्यमेव जयते' को खरोंच कर लिखा गया 'सब चलता है', नदी के पार की भागमभाग, जुलूस, नारे, लाल किताब, सविधान, गीता रहस्य, भागना और सोचना; न घृणा न प्यार की मनस्थिति, क्रांति के सूत्रधार, लाश पर बैठे कौए, झुर्रियों वाला कमजोर नाविक, निराई-बुवाई के गीत, खतरे का निशान, सब कुछ में से कुछ कीमती और मूल्यवान को बचा लेने का मोह, बालू बारूद के बोरे, देवमूर्तियाँ, कुर्सी, संदूक, गाधीजी की बकरी, गोली की आवाज और धुआँ आदि कितनी ही स्थितियाँ. स्थितियों के संकेत-संदर्भ एक सूत्र में गुँथ जाते हैं और लगता है कि महानगर दिल्ली की सडको के किनारे खडा मध्यवर्गीय चतना का कवि समग्र राजनैतिक आर्थिक और

सांस्कृतिक दुनियाँ का 'विजन' दिखला रहा है–हमारी असली सूरत; यथार्थ जिन्दगी और उसकी भयावह त्रासदी के 'फ्लेशेज' दे रहा है। यह उपकरण-संयोजन यह भी साबित करता है कि कवि वर्तमान जीवन की त्रासदी से पीड़ित होकर, तनावों को झेलकर अपने अंतस् की तपन से ही इस अनुभूति-लोक में पहुँचा है। इस तरह की पहुँच में वह पूरी जीवन-धारा की त्रासदी को भी 'कुआनो नदी' के प्रतीक से अभि-व्यक्ति दे गया है।

कविता के तीन खण्ड हैं—कुआनो नदी, कुआनो नदी के पार और कुआनो नदी : खतरे का निशान। ये तीनों खण्ड सांस्कृतिक प्रक्रिया के द्योतक हैं। सांस्कृतिक परिवेश; नगरीय परिवेश और नगरीकरण की प्रक्रिया में बढ़ती हुई कृत्रिमताओं और विकृतियों के कारण मूलसंवेदना (ग्राम्य–सवेदना से विकसित जीवन मूल्य) का खतरे के निशान तक पहुँचना और कवि का क्रांति के सूत्रधार का आह्वान करना इस प्रक्रिया के स्तर हैं। कविता का प्रथम अंश वह अंश है जिसमें समग्र ग्राम्य-सवेदना और उसकी संस्कृति आकार पा सकी है। दिल्ली महानगर में रहते हुए कवि के अनुभव-लोक में पहले पहल यही संदर्भ आता है। 'फिर बाढ आ गई होगी नदी में' कहकर कवि संकेत करता है कि ऐसी स्थिति पहले भी हो चुकी है। यह संस्कृति-व्यथा अल्पकालिक नहीं है, एक लम्बी प्रक्रिया का परिणाम है। इस खण्ड में कुआनो नदी को पूरी तरह ग्राम्य-संस्कृति और संवेदना से जोड़ा गया है और स्मृति के सहारे उस तमाम परिवेश को उभारा गया है जो नदी से जुड़ा है या उसका तटवर्ती जीवन है। किशोरकालीन स्मृतियों को कुरेदता हुआ कवि किसी अदेखे को पाने के उत्साह से अपनी बात शुरू करता है। उसकी किशोरकालिक उमंगे ग्राम्य-संवेदना के यथार्थ के रूप में प्रस्तुत होती हैं और वह प्रवाह में अनेक बिम्बों के द्वारा बतला देता है कि ग्रामीण-जीवन उसी तरह आज भी चल रहा है जैसा कि सैकड़ों वर्षो से चला आरहा है। वहाँ का जीवन अनेकानेक त्रासद स्थितियों को निरन्तर सहते रहने के कारण उन सबका आदी हो गया है। अतः न तो कोई शोषण के खिलाफ कुछ बोलता है और न पीड़ादायिनी गरीबी के खिलाफ़। नदी में बाढ़ आने पर (सांस्कृतिक संकट उपस्थित होने पर) भी वहाँ का जीवन वर्षो से ऐसा ही चला आरहा है। वहाँ जिन्दगी हर संकट के लिए कोई न कोई रास्ता तलाशती रहती है। कवि की स्मृति में एक बिम्ब आता है : "अभी मैं एक लम्बी शहतीर/अपने घर के दालान से सड़क तक रखकर/वह हरहाता जल पार कर जाता हूँ/जबकि मेरे पिता जाँघ तक धोती उठाये/पानी को हिलोकरते आते हैं/"[1] कवि ने संकेत दिया है कि इस नदी में एक बार उसके नाना जीवन से ऊबकर कूद पड़े थे, पर मरे नही

---

1 कुआनो नदी पृ० 12

थे क्योंकि इस प्रकार के जीवन के वे आदी थे। तात्पर्य यह है कि दुखों की जंजीर में बँधा पूरा का पूरा गाँव इस तरह की बाढ़ का अभ्यस्त था। आज भी है क्योंकि अभी भी इसमें कोई परिवर्तन नहीं हुआ है। ऐसे अवसरों पर न तो कोई पहले हलचल होती थी; न अब होती है। बस्ती जिला की यह नदी तब से अब तक बिना पाट बदले वैसे ही बहती आ रही है। यथावत स्थिति का बिम्ब प्रस्तुत करते हुए कवि कहता है : "तट पर न रेत थी न सीपियाँ/सख्त कँकरीली जमीन थी काई लगी कहीं-कहीं दलदल था/झाडियाँ थी दूर तक जिनमें सोते बुलबुलाते रहते थे और चिड़ियाँ एक टहनी से दूसरी टहनी पर/शोर करती झूलती थीं"[1]/ इस परिदृश्य को बिम्बों में बाँधते हुए कवि यह भी बतला देता है कि यह नदी मुर्दाघाट का काम भी करती है—'कुआनो जाने' का मतलब किसी को फूँकने जाना है। इस स्थिति को वह अपने पिता के हवाले से भी स्पष्ट करता है कि "मेरे पिता जिन्हे हर शवयात्रा में जाने का शौक था/अक्सर वे आधी-आधी रात लौटते/और लकडियाँ गीली होने की शिकायत करते/माँ से कहते 'कुछ लोग अभागे होते हैं उनकी चिता ठीक से नहीं जलती/और हर अभागे की यही आखिरी कहानी मैं आज भी सुनता हूँ"।[2] कवि का संकेत यही है कि गाँवों की जिन्दगी में सब कुछ सहते जाने के कारण इतनी जड़ता और उससे उत्पन्न ठंडक भर गई है कि वह मुर्दो की चिताओं तक मे व्याप्त है। इसी ठंडे अँधेरे के कारण उनकी चिताएँ भी ठीक से आग नहीं पकड पाती हैं। दिल्ली महानगर मे रहकर भी कवि इस स्थिति को झेल रहा है क्योंकि उसकी स्मृतियों ने उसे गाँव के उस माहौल में पहुँचा दिया है जहाँ नरसल की हरी छडियाँ हैं, उनसे बनी कलमें हैं और हैं वे पिपहरियाँ जिन्हें बाँसुरी का नाम दिया जाता है। इस सबको कविता में उकेरने का अर्थ यही है कि सर्वेश्वर नगर बोध से जुडे पाठक वर्ग को उस ग्राम्य-संस्कृति और उस यथार्थ से परिचित कराना चाहते हैं जो नगर के यथार्थ से भिन्न होते हुए भी एक स्तर पर जुड़ा है।

मैंने कहा है 'नदी' संस्कृति है और उसके तटवर्ती परिवेश में जो यथार्थ साँस ले रहा है, उससे एक बिम्ब उभरता है। यही वजह है कि 'कुआनो नदी' के आसपास का यथार्थ भी पूरी ईमानदारी से कविता में आकर्षक बिम्बों के द्वारा दिखलाया गया है : इस नदी के किनारे कोई मेला नहीं लगता, न कोई पूर्णिमा स्नान होता है। हाँ; एक मंदिर है जो कभी-कभी खुलता है। इसके दालान के कोने मे टूटा जाला लगा चमड़े का एक पुराना ढोल टँगा रहता। पुल पर मटके लिये एक एक कर गुजरते हुए अहीर; सौदे-सुलफ और गठरियों के साथ लौटते हैं।

---

1 कुआनो नदी पृ० 13

2 वही पृ० 14

कामकाजी आदमी और औरतें बतियाती हैं, बैलगाड़ियाँ चलती है, बकरियाँ चरती है और कभी-कभार कोई इक्का या कोई साइकिल भी नजर आते हैं तो नये खरीदे और रगे सीगों वाले बैल घटियाँ बजाते हुए भी निकल जाते है। जब पीला-पीला सूरज आसमान में छिपने को होता है तब अँधेरे से 'सुरक्षा के लिए 'लाली हो लाली' की आवाज भी सुनाई देती है। यह सारा परिवेश ग्रामीण जीवन की स्थिति के यथार्थ चित्रों के द्वारा वहाँ की स्थायी दुर्दशा को उजागर कर देता है। इस परिवेश को उभारकर कवि यह बतलाना चाहता है कि संस्कृति के प्रतीक गाँवों की जब यह हालत है तो लगता है कि इतने बर्षो में भी हम जहाँ के तहाँ हैं। हमारी ग्राम्य-सवेदना और संस्कृति 'कुआनो नदी' ही तो है जो चक्राकार घूमती रही है। उसने न तो अपना पाट बदला है और न कगारें काटी है। वह जैसी थी वैसी ही है।

एक छोर पर तो यह कुआनो है जो ग्रामीण संवेदना को उजागर करती है और दूसरे छोर पर वह कुआनो है जो महानगर दिल्ली के निकट से बहती है। दोनों का अपना-अपना यथार्थ है और दोनों का यथार्थ भयावह और त्रासद है। फर्क यही है कि कुआनो गाँव की है; उस समूचे परिवेश की है जो उसके आस पास फैला है, किन्तु महानगर की कुआनो महानगर की होकर भी उससे सम्बन्ध नही रखती है। सस्कृति और जातीय परम्पराओं से विच्छिन्न होने के कारण न तो कोई इस पर पियरी चढ़ाता है, न रामनामी चादर ओढ़े आदमी सुबह-सुबह यहाँ दिख-लाई देते हैं। यहाँ सर्वत्र अमानवीय और पाशविक; छद्म और धूर्तता का घटना-व्यापार चलता रहता है। कवि ने लिखा है : "धूप में शहर की गदगी यहाँ साफ होती है/धोबी कपड़े धोते हैं/आवारा औरतें सिगरेट पीती/गुनगुनाती-लिपटती/अपने ग्राहकों के साथ घूमती हैं/रात में अक्सर कत्ल होते हैं/..... किसी स्त्री का फैका हुआ बच्चा/कभी जिन्दा कभी मरा मिल जाता है/शाम होते ही पुलिस/भारी टोर्चों से रोशनी फैंकती/पुल पर गश्त लगाती है और सियार हुँआ-हुँआ करते हैं चमगादड़ों के उडने से शाखें खड़खड़ाती हैं/और किसी अकेली चिता की आखिरी लपटें बड़े-बड़े दहकते/अगारों की आँखों से देखती हैं/ऊपर आसमान में तारे होते है नीचे नदी चुपचाप बहती जाती है"।[1] ध्यान से देखें तो दोनों में कोई मूलभूत अतर नहीं है। ग्राम्य परिवेश में जीवन यदि शोषण का शिकार है, गरीबी की चक्की मे पिस रहा है तो शहरी परिवेश अमानवीय और पाशविक है। हाँ; यह जरूर है कि गाँव की कुआनो के किनारे 'लाली हो लाली' की पुकार है और यहाँ वह भी नही है। गाँव की नदी वहाँ की आत्मा को प्रतीकित करती है और नगर की नदी शहर की 'स्किन' को। यहाँ आत्मा है ही नहीं। गाँव की कुआनो के स्मृति-चित्र मे ही

---

1 कुआनो नदी पृ० 16

कवि का मानस नगर की कुआनो को भी महसूस कर गया है और इस तरह बस्ती की कुआनो दिल्ली से जुड़ गयी है। ठीक भी है एक यथार्थ दूसरे यथार्थ को सामने ला ही देता है। गाँव के बिम्ब में शहर का बिम्ब उभरता है या कहें कि एक यथार्थ पर दूसरा यथार्थ बेरोक टोक आ जाता है। इसी प्रक्रिया में पुनः बस्ती की नदी का बिम्ब उभरता है और कवि की तेज़ नजर में ग्राम्य-संवेदना जनित यथार्थ, वहाँ के सामाजिक-सम्बन्धों का यथार्थ; आने लगता है: तालों में सिंघाड़े तोड़ते खटीक, तार-तार कपड़ों में लिपटी उनकी स्त्रियाँ, उनका घर-घर सिंघाड़े बेचना, लुहारों का धौंकनी के सामने घोड़े सा मुँह लटकाये खुरपी, कुदाल और नाल बनाना; बढ़ई का बँसखट के पाये बनाना; बिसाती का सामान लिये घर-घर जाकर झिक-झिक करना; पानी में बैठी औरतें, अँधेरे मे बैठे हाँफते कुत्ते, झगड़ती हुई औरतें, नाक बहाते नंग-धड़ग बच्चे जो हर खुले दरवाजे की ताक में घूमते रहते हैं, सभी कुछ कवि की चेतना मे एक प्रवाह के साथ आता जाता है। पूरा श्रमिक जीवन अपने पूरे खानदान के साथ यहाँ अंकित हुआ है। नदी-तट के गाँवों का पूरा इतिहास—भूगोल सारे धर्म-कर्म कविता में आ गये हैं। इतना सब कुछ यहाँ है पर कुआनो नदी पूरी निर्लिप्ति के साथ बहती रहती है। वस्तुतः कवि ने पूरे भीतर-बाहर के परिवेश को ईमानदारी से शब्दबद्ध किया है।

'सर्वेश्वर' इस सबको अनुभव करते हैं और भोगते हैं उस तमाम जड़ यथार्थ को जो सारे परिवेश को अपनी निर्मम बाँहों मे दबोचे हुए है। इससे उबरने का कोई साधन न पाने के कारण वे अपने को अंधा महसूस करते हैं। उन्हें नहीं लगता कि इस जड़ता को काटा जा सकता है। अतः उन्हें अपनी ही शक्ल क्रूर और कठोर प्रतीत होने लगती है और कवि की चेतना से छनकर यह सामने आता है: "इस नदी ने मुझे अंधा कर दिया है/मुझे कुछ दिखाई नहीं देता/अपनी ही आकृति क्रूर-कठोर लगती है/एक बंजर भूमि में/बढ़े हुए नाखून लिये मैं खड़ा हूँ/जैसे उनसे ही नई फसलें उगा लूँगा"/[1] इतना ही क्यों कवि अनुभव करता है कि नाखून दिनों दिन बढ़ते जा रहे हैं और जमीन उसी अनुपात में बंजर होती जा रही है। मतलब यह कि बढ़ते नाखूनों का ही असर है कि हमारा परिवेश बर्बर और अमानवीय होता जा रहा है। कैसी विडम्बना है कि नाखूनों के अनुपात में जमीन बंजर हो रही है और कुआनो इन तमाम स्थितियों का उपहास करती हुई अपनी उसी रफ्तार से बहती जा रही है। इसी पीड़ा मिश्रित आशा में कविता का पहला खण्ड समाप्त हो जाता है। 'मेरी निगाह कुछ कमजोर हो गयी' जैसे कथन कवि की विवेक-प्रक्रिया को स्पष्ट करते हैं। कवि सब समझता है; सब महसूस करता है पर कोई फैसला नहीं

---

1 कुआनो नदी पृ॰ 20

देता है; कोई निश्चयात्मक निष्कर्ष नहीं देता है और ऐसा न करना ही उसके काव्यानुभव को समग्र और पूर्ण बनाये रखता है। पाठक को सारे संदर्भ विश्वसनीय लगने लगते हैं। कवि ने मात्र विवरण नहीं दिये हैं; उसने पाठक को सोचने के लिए भी विवश कर दिया है। यही कारण है कि पूरा खण्ड अनेक आवेग-मयी अनुभूतियों को भी व्यवस्थित बिम्बों में बांध सका है और इस तरह 'कुआनो नदी' मात्र नदी न रहकर समग्र जीवन-प्रक्रिया की सांस्कृतिक धारा का अर्थ वहन करने में सक्षम हो गई है।

कविता का दूसरा खण्ड 'कुआनो नदी के पार' से सम्बन्धित है। पहले खण्ड मे जो कुआनो थी वही इस खण्ड में दिल्ली की हो गई है। कवि ग्राम्य परिवेश से निकलकर नगरीय परिवेश में आ गया है। जो नदी अब तक ग्राम्य-संवेदना और संस्कृति को अभिव्यक्ति दे रही थी, वही यहाँ नगरबोध के यथार्थ को अभिव्यक्ति दे रही है। कवि की चेतना नदी के पार जाने को उत्सुक है। उसे ऐसा करने की सुविधा भी पुल के रूप में प्राप्त है; किन्तु कवि कड़कती सर्दी में भी नाव से जाना चाहता है। इसके दो कारण हैं—पहला यह कि वह नाविक को प्रस्तुत करना चाहता है और दूसरा यह कि वह यह बतलाना चाहता है कि त्रेता का नाविक आधुनिक युग में एक सूखा चीमड़ कंकाल मात्र रह गया है और इसका सारा दायित्व हमारी व्यवस्था पर है। ऐसा करने से यह भी इंगित हो गया है कि गाँव का शहरी जिस सहारे को पाकर यहाँ तक आया था; वह सहारा भी उससे छूट जाता है। इस छूटने में मध्यवर्गीय व्यक्ति की विवशता, असहायता भी उजागर हो गई है। कवि सर्वेश्वर की आत्मा इस खिवैया को देखकर उसकी लग्गी की चुभन को महसूस करती है और उस कंकाल का झुर्रियों वाला हाथ उसके गालों से छू जाता है। खेवक की यही दुर्दशा कवि से यह लिखा लेती है : "लग्गी पर जोर लगाकर जब वह उथले पानी में/नाव ठेलता है तब उसकी एक-एक नस फूल उठती है/जिसे यदि मेरे पास समय होता/मैं आसानी से गिन सकता था/लेकिन मैं हर गँदले पानी मे/किसी मछली को देखना पसन्द करता हूँ"/[1] नाविक का कमजोर शरीर, उसका श्रम, श्रम से फूली हुई नस और उसका झुर्रियों वाला हाथ न केवल कवि-चेतना में महसूस हुआ है; बल्कि वह पाठकीय संवेदना में भी पूरे आवेग से प्रवेश कर जाता है। इससे कवि ने जहाँ पाठकीय संवेदना को छुआ है, वहीं नगर बोध से जुड़े आधुनिक सभ्यता के प्रतिनिधि शहरी व्यक्तियों की उस प्रवृत्ति को भी खोलकर रख दिया है जिसमें वह किसी पीड़ित के प्रति भी अस्वीकार-उपेक्षा का भाव रखते हैं और मछली को देखकर मात्र पिकनिक की ही बात सोच–समझ सकते हैं। कवि अनुभव करता

---

1 कुआनो नदी पृ० 21

है कि नाव कीचड़ में फँस गई है। यह सांस्कृतिक कीचड़ हजारों वर्षों में धीरे-धीरे जमा हुआ है। श्रमिक (नाविक) इस सबसे बेखबर है, अनजान है या कहें कि वह इसमें रहने का अभ्यस्त हो गया है-तभी तो वह इस स्थिति में भूख से व्याकुल होने के कारण नमक-तेल लगी रोटी खाने लगता है। कवि इस सबको देखता है; महसूस करता है और "मौन रहो और प्रतीक्षा करो" के मन्त्र को दुहराता हुआ नाव से उतर जाता है। यह मन्त्र हमें व्यवस्था ने दिया है। यही वह मन्त्र है जो सर्वनाश के लिये जिम्मेदार है और इसी मन्त्र को अपनाकर लोकतन्त्र के प्रहरियों ने जनता और उसके जीवन को नारकीय बना दिया है। इसी क्रम में कवि इमारतों के पास से गुजरते हुए देखता है कि जहाँ दीवारों पर 'सत्यमेव जयते' लिखा था वहीं अब उसे खरोंचकर 'सब चलता है' लिख दिया गया है और धीरे-धीरे शहरी जीवन का यथार्थ उसकी चेतना पर उतरता जाता है। फलतः वह अवसाद व निराशा से भरकर देखता है कि—"यह खेतिहर मजदूर भूख से मर गया/यह चौपाये के साथ बाढ मे बह गया/यह सरकारी बाग की रखवाली करता था/लू में टपक गया/यह एक छोटे से रोजगार के सहारे/जिन्दगी काट लेना चाहता था, पर जाने क्यों रेल से कट गया।"/[1] यह सब क्यों हुआ ? देश शमशान क्यों बना ? पेड़ जड़ से क्यों सड़ने लगे और उनकी हरी-हरी पत्तियाँ काली क्यों पड़ गई ? जैसे प्रश्नों से उत्पन्न निराशा और अवसाद में घिरा कवि सोचता-भागता हुआ भी अपने भीतर की आस्था के सहारे जीवित है : "मैं नहीं मानना चाहता/कि नदी के पार कुछ नहीं है/सिवा लाशों के"।

धीरे-धीरे दृश्य कुछ और आगे बढता है और कवि चेतना में नारे लगाते जुलूस, अर्थहीन शब्दों का शोर, लाल किताब हाथ में लिये मौत, सोच-समझकर की गई हड़ताल में भी अकेला छूट जाना तथा विक्षोभ, अपमान व गरीबी की चक्की में पिसकर मौत के शिकार बने अनगिनत असहाय लोग एक-एक कर आते जाते हैं और कवि नेतृत्व का अभाव महसूस करता हुआ समग्र देश को सामूहिक मौत मरते देखकर प्रश्नाकुल हो उठा है। वह कहता है. "क्यों हर हाथ टूटा है/क्यों हर पैर कटा है क्यों हर चेहरा मोम का है/क्यों हर दिमाग कूड़े से पटा है ?/"[2] समूचे परिवेश में मौत छायी हुई है; जड़ता व्याप्त है और विसंगतियाँ फैली हुई हैं। मध्यवर्गीय चेतना का कवि सर्वेश्वर इसी से कुआनो नदी को आक्षितिज लाल और उद्दाम देखना चाहता है और अंततः 'कहाँ हो ओ क्रान्ति के सूत्रधार ! कहकर क्रान्ति की गुहार लगाता है। इस गुहार में एक सहजता है; एक स्वाभाविकता है क्योंकि चारों ओर विवशताओं के जाल; निराशाओं के घेरे और लाशों के ढेर से घिरकर मध्यवर्गीय मुक्तिकामी

---

1. कुआनो नदी पृ० 24
2 वही पृ० 28

मानस ऐसी गुहार लगा सकता है। फिर इस क्रान्ति की पुकार का औचित्य इसलिए भी है कि जुलूसों से कुछ नहीं हुआ; हड़तालें बेअसर रहीं और तमाम आन्दोलन सही नेतृत्व के अभाव में असफल होकर रह गये।

कविता का तीसरा खण्ड 'कुआनो नदी : खतरे का निशान' कविता को एक नया मोड़ देता है। अचानक कुआनो में बाढ़ आ जाती है और बाढ़ का पानी खतरे के निशान को छूने लगता है। बाढ़ पहले भी आई है, पर स्थितियाँ यथावत् रही है। इस बार ऐसा नहीं है। इस बार कुआनो का बाढ़ का पानी किसी स्वतः स्फूर्त आन्दोलन की तरह चढ़ता जाता है। जाहिर है कि यहाँ कुआनो की प्रतीकार्थ बदला हुआ है। पहले जो कुआनो ग्राम्य संवेदना और संस्कृति का अर्थ रखती थी, वही दूसरे खण्ड में नगर बोध और संस्कृति के यथार्थ को व्यक्त करती है और यहाँ वह जन-क्रांति का अर्थ लिए हुए है। यह अर्थ-प्रक्रिया क्रमिक है, क्रमशः इस बिन्दु तक आई है। अतः यह अर्थगत विविधता भी अन्ततः एक एकात्मकता लिए हुए है। चेतना के विकास; परिवेश के बदलाव और मनस्थिति के क्रमिक विकास के साथ-साथ कुआनो का प्रतीकार्थ बदलता रहा है। इसे कवि के शैल्पिक कौशल का परिणाम ही मानना चाहिए कि कविता हर स्तर पर— यथार्थ की हर भूमिका पर, सही अर्थ देती रही है और उसमें कोई विसंगति या स्खलन नहीं आ पाया है। यहाँ इस खण्ड मे कवि के भीतर का आदमी उसे बाढ़ की स्थिति से अवगत कराता है। यह कवि का भीतरी व्यक्तित्व ही है ठीक मुक्तिबोध के अन्वेषक-सहचर की तरह। साँकल खटखटाने वाला कोई अन्य नहीं है; वह तो अचेतन मन है जो चेतन मन से वार्ता करता हुआ 'किसी समय बाँध टूट सकता है, 'निकल चलो मेरे साथ' कहता है। इस अंश में कवि ने चेतन और अचेतन; सांस्कारिक और प्रगतिशील तथा सुविधाओं से जुडे व्यक्तित्व व संघर्षी व्यक्तित्व को आमने-सामने करके दोनों के मध्य के द्वन्द्व को प्रस्तुत करते हुए उस व्यक्ति को प्रस्तुत किया है जो फैसला नहीं कर पाता है कि वह क्या करे? एक ओर फैसले को लेकर संघर्ष है और दूसरी ओर कुआनो का पानी चढ़ता आ रहा है। सांस्कारिक मन कुछ बचा लेने के मोह से घिरा है और दूसरा मन (व्यक्तित्व) "कुछ बचाने के लिए/कुछ खोना पड़ता है जो खोने से डरता है/वह बचा नहीं सकता है"/का मन्त्र देता है। इससे एक बार प्रभावित होकर व्यक्ति जल्दी-जल्दी चादर में किताबें बाँधता है; उसकी गाँठ कसता जाता है। "जो बहुमूल्य हो भारी न हो उसे रखलो जल्दी करो"/जैसे शब्दों को सुनकर संस्कारग्रस्त और प्रगतिशील मन में टकराहट होती है। कहने का तात्पर्य यह है कि इस टकराहट के बावजूद चादर में कसी हुई पुस्तकों में से संविधान की पुस्तक गिरकर जिल्द से अलग हो जाती है। संविधान की पुस्तक का जिल्द से अलग होना इस बात का सूचक है कि संविधान जीवन से अलग जा पड़ा है। वस्तुतः संविधान की पुस्तक और तिलक का गीता रहस्य परिवेश की को कई गुना बढा देते हैं इस विसंगति का चरम क्षण

तो तब आता है जब कवि कहता है कि "घर के पिछवाड़े बँधी/गांधीजी की बकरी मिमियाती है/और कहीं गोली चलाने की आवाज आती है।" यहाँ तक कवि विवेक की भूमिका पर है; फैसले से दूर हैं।

कहने का तात्पर्य यह है कि एक ओर तो निराश, पराजित और थकितमन है जो क्रांति की पुकार लगा रहा है और दूसरी ओर वह मन है जो कुआनो में आई अनेक बार की बाढ़ की तरह बहुत सोचकर यही कहता है—"इस नदी मे जाने कितनी बार बाढ़ आई है, रंगों में खून खाला है/पर हर बार अँगीठियों से तमतमाए चेहरों पर/रोटियाँ ही सेंकी गई हैं पानी कभी खतरे का निशान पार नहीं कर पाया/हर बार पछाड़ खा खाकर शांत हो गया है"/बाढ़ का पानी बढ़ता जाता है; क्रांतिधर्मी मन 'जल्दी करो, जल्दी करो' की आवाज लगाता रहता है; पर सांस्कारिक मन प्रश्नों में ही उलझा रहता है, कोई निर्णय नहीं ले पाता है। उसकी इसी स्थिति पर क्रांतिधर्मी व्यक्तित्व व्यंग्य करता है—'तुम अभी फैसला नहीं ले पा रहे हो/मैं ले चुका हूँ, जाता हूँ/पर याद रक्खो/फैसले पर न पहुँचा हुआ आदमी फैसले पर पहुँचे हुए आदमी से/ज्यादा खतरनाक होता है"/इन शब्दो के बाद प्रगतिशीलमन (क्रांति चेता मन) अँधेरे में ही निकल जाता है और सांस्कारिक मन निकलने से पूर्व चीजों को अच्छी तरह देखता है कि कहीं कुछ हिल तो नहीं रहा है'। यहीं पर कविता समाप्त हो जाती है। ध्यान से देखें तो यही स्थिति मध्यवर्गीय व्यक्तियों की है जो सही वक्त पर सही निर्णय नहीं ले पाते हैं। कविता की यह परिणति न केवल यथार्थ है; अपितु मनोवैज्ञानिक भी है।

कुल मिलाकर 'कुआनो नदी' एक सशक्त और प्रभावी कविता है। इसमें कवि ने देखे, महसूस किये और स्वयं भोगे मध्यवर्गीय जीवन को अपने अनुभवों की शृंखला के रूप में प्रस्तुत किया है। यह मात्र किसी कल्पना-संसार की सृष्टि नहीं है। यह तो वह कविता है जो कवि के अनुभवों; साक्षात्कृत जीवन-स्थितियों और निरन्तर के आत्मान्वेषण का परिणाम है; एक सांस्कृतिक, मनोवैज्ञानिक और और सामाजिक प्रक्रिया का इतिहास-भूगोल है। इस कविता में सर्वेश्वर ने ग्राम्य-जीवन, नगर जीवनऔर इनसे जुड़ी जिन स्थितियों के बिम्ब उभारे है वे इतने यथार्थ और अनुभूत हैं कि वे पाठकीय संवेदना मे समा जाते हैं। कविता हमें किसी फैसले पर नहीं ले जाती हैं; एक द्विधा में छोड़ देती है और यही स्थिति अभी है। अभी हमारा देश और इस देश का आदमी बावजूद तमाम बौद्धिकता के किसी ज्ञान-संवेदना तक कहाँ पहुँचा है ? जिस दिन ऐसा हो जायेगा; उसी दिन शायद 'कुआनो नदी' के आगामी खण्ड लिखे जा सकें।

आलोच्य संग्रह की अन्य कविताओं में सर्वेश्वर ने समाज के दर्द को अभिव्यक्ति दी है समकालीन परिवेश के प्रति अपनी दिखाई है और

द्वारा दिये गये मिथ्या आश्वासनों; प्रशासन की अंधता, भ्रष्टता और गलीजता का पर्दाफाश किया है। इस प्रक्रिया में वह प्रायः व्यंग्य के सहारे अपने अनुभूत को वाणी देता गया है। गरीबी हटाओ, गौवरेले, एक बस्ती जल रही है, बाँस गाँव जैसी कविताओं का कथ्य यही है। 'गरीबी हटाओ' कविता में कवि व्यंग्य को सरल-सीधे शब्दों से ही प्रभावी बना गया है। उसे मूल बात तो यह कहनी है कि गरीबी हटाने की अपेक्षा गरीबी हटाये जा रहे हैं। हमारे देश के कर्णधारों की धीमी गति से चलने वाली योजनाएँ, प्रशासन की लापरवाही और मौकापरस्ती जैसी स्थितियाँ कविता में व्यग्य के माध्यम से मुखरित हुई हैं। स्पष्टीकरण के लिए ये कुछ पक्तियाँ देखिए : 'गरीबी हटाओ सुनते ही/वे कब्रिस्तानों की ओर लपके/और मुर्दों पर पड़ी चादरें उतारने लगे/जो गंदी और पुरानी थीं/फिर वे नयी चादरें लेने चले गये जब लौटकर आये/तो मुर्दों की जगह गिद्ध बैठे थे/.............. गरीबी हटाओ सुनते ही/उन्होंने एक बूढ़े आदमी को पकड लिया/जो उधर से गुजर रहा था/और उसकी झुर्रियाँ गिनने लगे तेईस वर्ष गिनने के बाद/जब वे हिसाब में भटक गये/तब उन्होंने फिर से शुरुआत की/तब तक उनकी आँखों की रोशनी कम हो गयी थी/

..............गरीबी हटाओ सुनते ही/वे हर घायल कान को अपनी जबान से चाटने लगे/और ठीक उनके नाप के शब्द बोलने लगे/जब कान छोटे होते शब्द छोटे कर देते/जब कान बड़े होते शब्द बड़े कर देते/इस खींचातान में शब्द टूट गये/और पहचान से परे हो गये"/[1] इन अंशों में कवि ने प्रशासन की लापरवाही और भ्रष्ट प्रवृत्तियों को उभारने के साथ-साथ मौकापरस्ती पर भी व्यंग्य किया हे। हाँ; इस कविता के हर बन्द में प्रशासन की किसी न किसी भ्रष्ट नीति को उजागर किया गया है। अतः विभिन्न स्थितियों की अवगति के लिए कविता का यह आकार अनिवार्य था। फिर कवि का लक्ष्य मात्र 'गरीबी हटाओ' नारे पर व्यग्य करना ही तो नहीं है; वह यह भी बतलाना चाहता है कि आज हमारा शासन-तंत्र न केवल कमजोर है; वरन् दिग्भ्रमित भी है। वह मिथ्या प्रचार और आश्वासनों से जनता को मृत्यु के द्वार तक ले आया है। 'एक बस्ती जल रही है मे भी व्यंग्य की धार तेज है, पर शब्द आक्रामक नहीं है। यह स्थिति व्यंग्य को महीन तो बनाती है; पर मारक नहीं बना पाती है, फिर भी कवि ने सही कोण से सही जगह चोट की है, इसमें कोई सन्देह नहीं है। दुनियाँ जल रही है और दमकल बिभाग के लोग अपनी पोशाक की क्रीज, चेहरे की चिकनाहट और जूते के फीतों को देखते हुए अपनी बेल्ट्स की पीतल को चमका रहे हैं। कैसी विडम्बना है ? इन्सान दूसरे के दर्द से दुखी नही होता क्योंकि किसी के मन में न करुणा है और न कर्त्तव्य पालन का संकल्प। 'बाँस गाँव' कविता भी इसी भूमिका पर लिखी गयी है

---

1 कुआनो नदी पृ० 43 42 और 45

बाँस गाँव की बस अड्डे की शाम का बिम्ब देते हुए सर्वेश्वर ने जर्जर व्यवस्था और आजादी के इतने वर्षों बाद भी देश का चित्रण लाठी टेककर चलने वाली बुढ़िया के रूप में किया है।

'कुआनो नदी' की कविताओं में वह आदमी मौजूद है जो आजाद माना जाता है और जिसकी आजादी संहारक अस्त्र बनी हुई है। कवि की व्यथा यह है कि आज आजादी की भावना को ही कुचला जा रहा है। इतने पर भी कवि स्वातन्त्र्य भावना के प्रति आश्वस्त है और यह मानकर चलता है कि आजादी की भावना कोई साँप का फन नहीं है जिसे कुचला जा सकता है। "वह तो एक सुगंध है जो एक सड़ते नाबदान में/सारी दुनियाँ के सूअरों के थुथआते बैठ जाने पर भी/नष्ट नहीं होगी'/ 'जब पसलियाँ ही किला हों' कविता में सर्वेश्वर ने संकल्प, स्वाभिमान और इन्सानियत जैसे मूल्यों को महत्व दिया है। "संकल्प की दुर्लंघ्य खाई के बीच खड़ा आदमी न गिरता है न टूटता है/तोपों के गोले नाकाम हो जाते हैं/.........स्वाभिमान से मरते हुए आदमी की/एक उपेक्षा भरी हँसी/बुलेट से ज्यादा गहरा घाव करती है/.........इन्सानियत का सर/एक लाश के घाव के सामने ही झुकता है"[1]। कवि ने इस कविता मे निष्कर्षात्मक वक्तव्य दिये हैं जो प्रभावित करते हैं; गहरे छूते हे किन्तु इनसे कविता प्रवचन हो गई है। अतः उसमें स्मरणीय सूक्तियाँ तो हैं, किन्तु कवितागत संवेदना नहीं है। 'गोबरैले' कविता काफी सशक्त कविता है। कवि अनुभव की आँख से देखता है कि चारों ओर 'गोबरैले' बढ़ते जा रहे हैं। आज बुद्धिजीवी वर्ग भी भ्रष्टाचार का हिस्सा बन गया है :

> यह क्या हुआ, देखते-देखते
> चारों तरफ गुबरैले छा गए
> कितनी तेजी से हर कोई यहाँ रच रहा है
> एक गोल-मटोल संसार.................
>
> ....
> देखने सुनने और समझने के लिए
> अब यहाँ कुछ नहीं रहा—
> सत्ताधारी, बुद्धिजीवी, जननायक, कलाकार
> सभी की एक जैसी पीठ काली चमकदार[2]

समाज से नगर और नगर से राष्ट्र में संक्रमित होती भ्रष्टाचारी वृत्तियाँ इस कदर फैलती जा रही हैं कि अच्छे से अच्छा शब्द फूलकर गोबरैले में बदल जाता

---

1 कुआनो नदी पृ० 60–61
2 वही पृ० 49 50

है। आज तो हम सभी शोबरैलो में बदल गये हैं और हमारे जीवन का मूल मन्त्र ही 'जितनी विष्ठा उतनी निष्ठा' रह गया है। वस्तुतः यह कविता निर्मम वास्तविकताओं की व्यंजक कविता है। यहाँ कवि साहसिक और बेपर्द शब्दावली में सब कुछ साफ़-साफ कह देता है। उसने इस संग्रह की अन्य कविताओं से भी यही व्यंजित किया है कि आज आदमी आदमी नहीं रहा है। वह क्रूर, बेशर्म, अमानवीय, फरेबी, छली, दंभी और मिथ्यात्व का प्रतीक बनकर रह गया है। परिणामतः हर देह की सींवन उधड़ रही है, टाँके दिन पर दिन कच्चे होते जा रहे हैं, किन्तु हरेक हाथ में मारने वाली छड़ियाँ और मजबूत और रंगीन होती जा रही हैं। इतने पर भी कहीं कोई क्रांति नही हो रही है। कोई विद्रोह नहीं उभर रहा है। 'सारा देश एक ठडे भाड सा' दिखलाई दे रहा है। 'रंगों के बाद' कविता में सर्वेश्वर ने निरन्तर अमानवीय होते जाते, मिथ्याचारी और जहरीले इन्सान का चित्र प्रस्तुत किया है। वस्तुत· आदमी न केवल खुद जानवर हो गया है— मूल्यहीन हो गया है; अपितु उसने ईश्वर को ही जानवर बना दिया है। ईश्वर अपने जीव को अपने जैसा बनाता है; पर आज मनुष्य ने अपनी विकृतियों के कारण उसे ही अपने जैसा बना लिया है: "उन्होंने अपनी नही मेरी शक्ल/जानवरनुमा करदी है"। अमानवीयता इतनी बढ़ी है कि मनुष्य मनुष्य के लिए अनपहचान हो गया है। कवि इस माइनस 'ह्यूमैनिज्म' की स्थिति से न केवल चिंतित है; अपितु प्रश्नशील भी हो उठा है: "ऐसा क्यों होता है कि हम मृतकों की संख्या अंगूर के गुच्छों की तरह गिनते रह जाते हैं/और लाशें सड़ती रहती है।"[1] 'युद्ध के नाम पर' कविता में कवि ने बंदूक में गोली भरने को इन्सानियत से खाली हो जाना और कलम में स्याही भरने को मानवतावादी मूल्यो से भरना कहा है। इस प्रकार संग्रह की अधिकांश कविताओं मे या तो व्यंग्य हे या मानव मूल्यों के मिटते जाने के कारण कवि की व्यथा का अंकन है। असल में अधिकाश कविताएँ चाहे उनमें व्यग्य हो चाहे परिवेश का अंकन हो; मूल्यों की खोज की ही कविताएँ है।

'पथराव' कविता एक भिन्न प्रकृति की कविता है। इसमें कवि ने प्रतिपादित किया है कि कविता न तो कोई नारा है और न कोई बचपने जैसा काम है। वह तो एक दायित्वपूर्ण कर्म है। वह एक समर्पित स्पर्श है—एक भावात्मक संवेदन है। उसमें भाव भी है; ऊष्मा और सुषमा भी है। यह एक ऐसा कर्म है जो सामाजिक जीवन के प्रति दायित्वशील होकर ही किया जा सकता है। समाज और जीवन से कटकर कोई कविता नहीं लिखी जा सकती है। सर्वेश्वर एक ऐसे ही कवि हैं जिन्होंने अपने परिवेश की व्यथा को पूरी ईमानदारी से कविता मे शब्द दिये हैं। वे हर झूठ हर अमानवीयता; हर छल-प्रपंच और पशुतावादी वृत्तियों के खिलाफ रहे हैं। इसी

---

1 क्यानरो नदी पृ० 65

से उनकी धमनियों में आग जलती रहती है किन्तु शब्दों की लपट बनकर नहीं चमकती है। उनका अनुभव लोक सच्चा और व्यापक है; तभी तो उससे छनकर ये पंक्तियाँ निकली हैं :—

"आग मेरी धमनियों में जलती है
पर शब्दों में नहीं ढल पाती।
मुझे एक चाकू दो
मैं अपनी रगें काटकर दिखा सकता हूँ
कि कविता कहाँ है ?"[1]

सर्वेश्वर की ये पंक्तियाँ उन समीक्षकों के लिए एक करारा उत्तर है जो कविता को युद्ध और चीख-चिल्लाहट समझते हैं।

जंगल का दर्द

1976 में प्रकाशित 'जंगल का दर्द' सर्वेश्वर की अब तक की काव्य-यात्रा का नवीनतम सोपान है। 'काठ की घंटियाँ' से लेकर 'जंगल का दर्द' तक की काव्य-यात्रा में एक क्रम है; एक क्रमिक गति है जो कवि को अंतर से बाह्य जगत तक की स्थितियों से जोड़े हुए है। आंतरिक अनुभवों का निजी संसार क्रमशः विस्तरित हुआ है; निजता का कक्ष टूटा है और उसमें परिवेश भी प्रवेश कर गया है। यह न तो आकस्मिक रूप से हुआ है और न आरोपित ढंग से। धीरे-धीरे एक रोमान-यात्रा सामाजिक व्यथा के सेतु से होती हुई और समसामयिक परिवेश से पुष्ट होती हुई जंगल का दर्द बनी है। इस बनने में या कहें कि इस जमीन तक आने में कवि ने गर्म हवाओं के थपेड़े झेले हैं तो 'कुआनो नदी' की बाढ़ को भी महसूस किया है। 'जंगल का दर्द' कवि सर्वेश्वर के अनुभव के प्रति खुलेपन को व्यक्त करता है। हर बार दर्द एकसा नहीं होता है। उसके कई स्तर हैं। कभी वह अकेलेपन से पीड़ित करता है; कभी परिवेश की विकृतियाँ उसकी चमड़ी को गर्म कर देती हैं और वह जलन महसूस करने लगता है; कभी सांस्कृतिक व्यथा उसकी आत्मा को दबोचती है तो कभी सत्ताधीशों की मिथ्या मान्यताएँ; क्रूर व्यवहार; अवसरवादी—स्वार्थी नीतियाँ और भयावह चेहरे उसके मन में विद्रोह की आग पैदा करते हैं। किन्तु जब ये सभी तरह के दर्द एक साथ हों तो संवेदनशील कवि महसूस करने लगता है कि वह आदमियों के बीच नहीं; अमानवीय और पाशविक संसार में रह रहा है। इसमें रहते हुए वह जो महसूस करता है; उसी की अभिव्यंजना 'जंगल का दर्द' बन गई है। यह वह स्थिति है जिसमें कवि को न केवल अंदर के पशु से लड़ना पड़ता है, बल्कि बाहर के पशुओं से भी निपटना पड़ता है। जब एक साथ दो स्तरों पर लड़ाई छेड़नी पड़े तो वह न केवल सोच-समझकर छेड़नी पड़ती है; अपितु तेज हथियार भी अपनाने पड़ते हैं। यही वजह है कि 'जंगल का दर्द' में कवि दो स्तरों पर लड़

---

1. कुआनो नदी पृ० 90

रहा है और इन दोनों स्तरों पर लड़ने के कारण ही उसके शब्द गुलेल से छूटी कंकड़ी और 'बुलेट' की तरह गहरा घाव करने वाले हैं। सर्वेश्वर परिवेश की स्थितियों के 'ग्राफ' देने में माहिर हैं; किन्तु ऐसा नहीं है कि इस कारगुजारी में उनकी कविता का कवितापन सुरक्षित न रह सका हो।

सर्वेश्वर की ये कविताएँ मात्र प्रतिक्रिया नहीं हैं; अमानवीय और पाशविक दुनियाँ के खिलाफ कोरी चीख-पुकार नहीं है। ये तो वे कविताएँ हैं जो वास्तव का खुले रूप से उद्घाटन भी करती हैं और उस अमानवीय संसार से मुक्ति का मार्ग भी दिखलाती है। कुत्तों, चीतों, तेंदुओं, चिड़ियों और तितलियों से भरे इस जंगल में कवि सभी से साक्षात्कार करता है; सभी से टकराता-जूझता है और इसी सबके बीच से मुक्ति की राह भी निकाल लेता है। इस संघर्ष में कभी उसकी देह झाड़ियों से रगड़ खाकर छिल भी गई है, तो कभी वह चिड़ियों का कलरव भी सुनता रहा है किन्तु इससे आगे रास्ता पाने में उसे कठिनाई कम और साहस अधिक मिला है। कुल मिलाकर यही कि सर्वेश्वर पाशविक स्थितियों के घने अंधकार में भी घूमे हैं तो उससे बाहर आकर मानवीय संभावनाओं के द्वारा भी टकराये हैं। उन्होंने जंगल भी देखा है, उसके भयानक जीवधारी भी देखे हैं और उनकी लाल-लाल हिंसक व सब कुछ को चट करने वाली मुद्रा भी देखी है तो खुद भी उनकी ओर अपनी गुर्राहट दिखलाई है। यह सब देखते-भालते सर्वेश्वर को यदि कहीं सूरज की किरण दिखी है, बसंत का राग सुनाई दिया है; तितली के रंग मोहक लगे हैं, चिड़ियों की मुक्त उड़ान भाई है प्रिया का तन दिखा है और देह का संगीत सुनाई दिया है तो उन्होंने इस सबसे न तो आँखें बंद की हैं और न अपने कानों में रूई भरली है। वे सब कुछ को अपने अनुभव-लोक में समेटते रहे हैं और उससे जन्मी अनुभूतियों को ईमानदार अभिव्यंजनाएँ देते रहे है। असल में चाहे 'गर्म हवाएँ' हो, चाहे 'कुआनो नदी' हो और चाहे जंगल का दर्द हो सभी में सर्वेश्वर की अनुभूतियों का खरापन दिखलाई देता है। जंगल का दर्द यदि यह भी गवाही देता है कि टूटते मूल्यों के बीच भी अपने दायित्व-बोध से जुड़कर खड़ा हुआ जा सकता है तो यह भी कहता चलता है कि कविता सौन्दर्य-बोध की जमीन पर खड़े होकर ही मानवात्मा को निर्भीकता और कर्मठता का संदेश दे सकती है।

'जंगल का दर्द' की कविताएँ दो भागों में विभक्त हैं, किन्तु मूलत: उनमें जमीन आसमान का अंतर नहीं है। पहले भाग में यदि कवि मुक्ति के लिए मशाल लेकर नयी क्रान्ति के लिए प्रयत्नशील है तो दूसरे भाग में वह आंतरिक जंगल की भयावहता से मुक्ति पाने के लिए खुद को नये सिरे से तराशना चाहता है। इसी तरह पहले भाग में उसने अपने पास फैले बाहरी जंगल में भेड़िया, तेंदुआ और चीतों के खिलाफ संघर्ष छेड़ा है या संघर्ष छेड़ने के लिए आमंत्रण दिया है तो दूसरे भाग में वह तमाम संघर्ष; समूची अमानवीयता और पाशविकता के भीतर से भी कुछ मूल्यों की तलाश करना चाहता है क्योंकि उसे के नये क्षितिज दिखाई दे रहे हैं एँ निरन्तर

है जिन्दगी की खोज जो रचना है/रचना जो सार्थक करती है''/इस तरह 'जंगल का दर्द' के दोनों भाग कथ्य और कथन-पद्धति के धरातल पर परस्पर अंतरावलम्बित है। एक में जीवन-मूल्यों को विकृत करने वाली सत्ता-व्यवस्था के खिलाफ आग उगली गई है और दूसरे में उन विकृतियों में से ही नये मूल्यों और नयी संभावनाओं की बात कही गई है। आपवादिक रूप से लिखी गई दो चार कविताओं की बात अलग है। संग्रह की प्रारंभिक कविता से ही लगने लगता है कि कवि रोमानियत और भावुकता को तरजीह न देकर अन्तर्बाह्य के विभिन्न संदर्भों को नई धारदार शब्दावली से व्यक्त करना चाहता है। वह महसूस करता है कि उसके परिवेश में एक ठंडक भर गई है तभी तो समूचे परिवेश की शीतल चोटों ने आँख के आँसुओं को कपोलों पर और शब्दों को कंठ में ही जमा दिया है। व्यंजना है कि समूचे परिवेश में आद्यंत एक ठंडक—एक जड़ता—एक बर्फ़ीली शांति व्याप्त है। कोई भी कंठ ऐसा नहीं जो एक भी शब्द बोल सके। हाँ सिर्फ स्मृतियाँ हैं जो 'आग की तरह धधक रही हैं/जैसे बर्फ में मशाल लेकर कोई जा रहा हो''/[1] आपातकाल के परिवेश का यह बिम्ब बड़ा सशक्त बन पड़ा है।

'सर्वेश्वर' इस ठंडे और जड़ माहौल को आग में बदलना चाहते हैं। वे चाहते हैं कि ताप बढ़े ताकि यह बर्फीली ठंडक पिघले और नया रास्ता मिल सके। वस्तुतः सर्वेश्वर का कवि जन-चेतना को ताप में बदलना चाहता है। कहने की आवश्यकता नहीं कि 'जंगल का दर्द' की अधिकांश कविताओं में इसी जन-चेतना को ताप, आग और मशाल के बिम्बों से अभिव्यक्त किया गया है। कवि देखता है, समझता है और महसूस करता है कि हर चेहरे पर लगी आँखों मे एक दर्द छिपा है, एक गुस्सा, एक क्षोभ और एक नफरत भरी है, किन्तु जब कवि समय के दर्पण में झाँकता है तो उसे लगता है कि हर चेहरे पर फूल नहीं आग है; हरेक फूल की सुगंध धधककर रोशनी बन गई है और हरेक उँगली आग हो गई है जो सत्ताधीशों की आँखों को फोड़ सकती है। 'आग कविता का संदर्भ यही है। कवि जन-चेतना को आग की लपट के रूप में देखना चाहता है। जो आदमी अब तक अपनी ताकत से बेखबर था, वही 'स्लेट' पर खड़िया से आग लिखता है: ''मैंने देखा स्लेट पर चलती/उनकी उँगलियाँ/लौ में बदल रही हैं/और पूरा शब्द लिखते ही/उनका हाथ मशाल में बदल गया है/''[2] कवि अपने चारों ओर केटलियाँ खौलती महसूस करने लगता है और देखता है कि उनसे उठी हुई भाप से एक खोखला प्रजातंत्र पिघल रहा है। यह पिघलना ही परिवर्तन है; उस स्थिति की ओर इशारा है जिसको कवि ने ये शब्द

---

1 जंगल का दर्द पृ० 9

2 वही पृ० 16

दिये हैं : "शब्द जिन्हें मैं बर्फ की सिल्लियों पर भी/अकेली चींटी सा चला ले जाता था/अब अंगारों से धधक रहे हैं/उनसे मैं खेल नहीं सकता वे युद्ध भूमि में बदल गये है/"[1] कवि ने उस स्थिति को भी शब्दबद्ध किया है जो मालिकों की अमानवीयता, करुणाहीनता और पूँजीवादी-अधिनायकवादी प्रवृत्तियों को संकेतित करती है और मजदूरों; गरीबों और सर्वहारा वर्ग की उस आग की ओर भी इशारा किया है जिसमे निरन्तर पिसते मजदूरों की आँखों की कच्ची मिट्टी बम्भी तपकर सुर्ख हो गई है और आग लगा देंगे आग' की सामूहिक घोषणा में बदल गई है। कवि की अनुभूतियों मे वह जन-समुदाय बराबर रहा है जो पीड़ित और मर्दित है। वे चाहते रहे हैं कि इस ठंडे वर्ग में आग जगे। 'आग कविता' के अन्त में कवि इस स्थिति को पा लेता है "अब उनका और मेरा चेहरा एक हो गया है हम सब एक अंगार हैं, एक लपट, एक आग, एक शब्द, एक अर्थ, एक राग/एक चरण, एक यात्रा, एक राह/एक-संकल्प एक नारा, एक चाह/समर्पित एक क्रांति को"/[2] कविता की यह वह जमीन है जहाँ कवि सबके साथ खड़ा होकर पूरी 'सिन्सियरिटी' से उन लोगों को समर्पित हो गया है जो क्रांति के वाहक हैं। सर्वेश्वर का यह बदला हुआ मिजाज उन्हें किसी पार्टी से नही जोड़ता है; किसी गुट का प्रतिनिधि प्रमाणित नहीं करता है; बल्कि यह तो उनकी परिवेश प्रतिबद्धता और आम आदमी से जुड़ने की बात की गवाही देता है। ऐसी कविताएँ कवि की उस धारणा को भी पुष्ट करती है जिसमे वह कविता को एक उत्तरदायित्वपूर्ण कर्म मानता है। सर्वेश्वर का परवर्ती सृजन उनको जन-लेखक तो प्रमाणित करता है, किन्तु किसी पार्टी का होना प्रमाणित नहीं करता है। वे एक तटस्थ चिन्तक; स्थितियों के सही विश्लेषक और कविता को जीवन का अनिवार्य अंग मानने वाले या कहें कि कविता को जीवनवादी मानने वाले कवि हैं। उन्होने 'दिनमान' के एक अंक में पार्टियों की गिरफ्त में कैद कविता को अतिवादी और राजनैतिक संगठनों से जुड़ी कविता को नकली जनवादी कविता कहा है : "एक के पास आज भी कला के लिए का नारा है, शोषित समाज और जन से उसे कोई मतलब नही है। दूसरे के पास साहित्य जन के लिए का नारा है, पर उसे अपने दल को छोड जन से जैसे कोई मतलब नहीं है। कलावादी चाहता है कि समसामयिक सामाजिक राजनैतिक यथार्थ से कटकर प्रेम, प्रकृति, अध्यात्म जैसे शाश्वत विषयों पर ही लिखा जाये और जनवादी चाहते हैं कि इन शाश्वत विषयों को तिलांजलि देकर केवल राजनैतिक शोषण और जन समस्याओं पर ही लिखा जाय, वह भी उनके सगठन के चश्मे से देखकर। अन्यथा जो आप लिखेंगे वह आम आदमी से जुड़ा होने पर जन साहित्य नहीं होगा। लेखक पहले एक राजनैतिक संगठन का सदस्य हो, फिर

---

1. जंगल का दर्द पृ० 17
2 पृ० वही 19

जन-साहित्य लिखे। बिना ऐसा किये वह जन साहित्य नहीं लिख सकता। कम्युनिस्ट पार्टी, मार्क्सवादी कम्युनिस्ट पार्टी, मार्क्सवादी लेनिनवादी पार्टी सबकी जनसाहित्य की परिभाषा यही है कि लेखक उसकी पार्टी का सदस्य है या नहीं। उनकी पार्टी के चश्में से राजनैतिक-सामाजिक लड़ाई को देख रहा है या नहीं।"[1]

सर्वेश्वर न तो किसी पार्टी के सदस्य हैं, न वैसा होना उनके व्यक्तित्व के अनुरूप है और न वे किसी संगठन के चश्मे से राजनैतिक और सामाजिक संघर्ष को देखते हैं। उनकी अपनी राह है; अपना ढंग है और हरेक संघर्ष को देखने और उसकी अभिव्यक्ति देने का अपना शिल्प है। ऐसे स्वतंत्रचेता कवि को किसी से जोड़कर देखना ठीक नहीं है। इतने पर भी यह सच है कि वे जन साहित्य के सर्जक हे। उनका साहित्य जीवन का सीधा साक्षात्कार करके लिखा गया वह साहित्य है जिसमें आम आदमी की जिन्दगी के बाहरी और भीतरी पहलू तथा मानसिक और शारीरिक सदर्भ सभी अनुस्यूत हैं। किसी भी कविता को मेरे इस कथन की साक्षी में खड़ा किया जा सकता है। आलोच्य संग्रह की कविताएँ तो इसका अच्छा साक्ष्य प्रस्तुत करती हैं। आपात्काल के दौरान लिखी गई इन कविताओं में फूलों की रंगत आग की लपटों में बदल गई है। कारण; कवि इस तथ्य से बेखबर नहीं है कि परिवेश की भयावहता ने फूलों के रंग चुरा लिये हैं और शब्दों का 'आइसक्रीमी स्वाद' उनकी ठडी आत्मा का द्योतक है। इसी से कवि शब्दों के विष बुझे तीर चलाता है। भेड़िया 1–2–3 कविताएँ इसी तरह की कविताएँ हैं : 'भेड़िए की आँखें सुर्ख हैं/उसे तब तक घूरो, जब तक तुम्हारी आँखें/सुर्ख न हो जायें/और तुम कर भी क्या सकते हो/जब वह तुम्हारे सामने हो/"[2] सत्ताधीशों का भेड़ियापन जनता की सुर्ख आँखो के सुर्ख रंग से समाप्त हो सकता है फिर जब यह भेड़िया जीवन की सारी व्यवस्था को चट कर जाने को तत्पर हो तब तो जनता को भी चाहिए कि वह उसे उसी की शैली से आहत करे। ऐसा करके ही जिन्दगी को मुक्ति की राह दिखाई जा सकती है। सत्ताधिपति जब जन-समुदाय को लीलने को तत्पर है तो उनसे बचकर अपनी सुरक्षा करने और जिन्दगी को सही अर्थ-दिशा देने का उपाय मशाल जलाना ही है—क्रांति ही है : 'भेड़िया गुर्राता है/तुम मशाल जलाओ/उसमें और तुममें यही बुनियादी फर्क है/भेड़िया मशाल नहीं जला सकता/अब तुम मशाल उठा/भेड़िया के करीब जाओ/भेड़िया भागेगा/करोड़ों हाथों में मशाल लेकर/एक एक झाड़ी की ओर बढ़ो/सब भेड़िये भागेंगे/फिर उन्हें जंगल के बाहर निकाल/बर्फ में छोड़ दो/भूखे भेडिए आपस मे गुर्रायेंगे/एक दूसरे को चीथ खायेंगे/भेड़िए मर चुके होंगे/और तुम ?/'[3]

---

1 दिनमान 13–19 अगस्त 1978
2 जंगल का दर्द पृ० 26
3 वही पृ० 29

सर्वेश्वर ने 'भेड़िए' और 'मशाल' के परिचित प्रतीकों के माध्यम से भ्रष्ट, स्वार्थी और पाशविक वृत्तियों वाले सत्ताधीशों को क्रांति की आग से जलाने का मंत्र दिया है, किन्तु यह तभी मुमकिन है जब जन-जन के मन में एक विद्रोह आँधी की तरह उठे और हरेक व्यक्ति इतना सजग हो कि उसे हर भेड़िए की पहचान हो क्योंकि भेड़िए भी तो हर रोज; हर व्यवस्था में नये-नये पैदा होते रहते हैं। इतिहास के जंगल में हर बार कोई न कोई भेड़िया बनेगा ही; बनता ही है, और ऐसा होना मनुष्य की सतत जागरूकता; निरन्तर बढ़ती साहसिकता के लिए और अपनी प्रच्छन्न शक्तियों के सतत प्रयोग के लिए आवश्यक भी होता है। जहाँ तक कथ्य का सवाल है यह कविता कवि की प्रगतिशील चेतना और जन-शक्ति के प्रति विश्वास को रेखांकित करती है; किन्तु इसमें वक्तव्यपरकता इतनी है कि कविता कविता न रहकर मात्र एक 'आइडिया' बनकर रह गई है। कविता 'आइडिया' बने यह स्वीकार नहीं किया जा सकता है। कविता में 'आइडिया' हो सकता है; पर मात्र 'आइडिया' कवि की प्रतिभा का स्खलन और कथन-शैली की दरिद्रता ही है।

समसामयिक परिवेश की विसंगतियों और राजनीति के भीतर फैली मिथ्याचारिता को भी कवि पहचानता है। वह अच्छी तरह समझता है कि आज हमारी कमजोरी कहाँ है ?: हम किस बिन्दु पर खड़े हैं ? हमारी पारस्परिक फूट; व्यक्तिगत स्वार्थ; संशय, ईर्ष्या और खुशामदी वृत्तियों में ही हमारी कमजोरी छिपी है। आग तभी पैदा हो सकती है और उसकी लौ तभी तेज हो सकती है जब हम अपनी इन कमजोरियों को जीत लें। यदि हमने यह नहीं किया तो सत्ता एक दिन अवसर पाकर हमें पूरा निगल लेगी। अतः इनसे बचने के लिए और मुक्ति की राह पाने के लिए जरूरी है—"संशय—इस भाव को मिटा दो/रोशनी जल उठेगी/तुममें निर्भय/ पीठ पर रखा छुरा/लगेगा प्रोत्साहन का स्पर्श/और तुम बिजली तरह/आगे बढ़ जाओगे अक्षय/"[1]......... ....."कुत्ता/आदत से टुकडखोर है, तुम्हें टुकड़खोरी के रास्ते/बंद करने होंगे/ ...."जब हर चेहरा/हाँफ़ता, लार टपकाता, नजर आये/ पुचकारते ही दुम हिलाये/दुलारते ही पेट दिखाये/सारा माहौल ककुँआने से भर जाये/ तब समझदार को चाहिए/डर जाये"[2] ...."स्थिति/आसानी से बदली जा सकती है/केवल थोड़ी सी हरकत जरूरी है/तुम्हें हाथ बढ़ाना होगा/और अपने भीतर कहीं/ बोतल की कार्क खोलनी होगी"/[3] कहने की आवश्यकता नहीं कि कवि ने एक जागरूक सिपाही की तरह जनक्रांति को ही वरणीय बतलाया है और बार-बार

1, जंगल का दर्द पृ० 32

2, वही पृ० 47

3 वही पृ० 51

भीतर सोयी आग को इस्तेमाल करने के लिए प्रोत्साहित किया है। कथ्य बुरा नहीं है और कथन को संप्रेष्य बनाने के लिए अपनाये गये प्रतीक और बिम्ब भी संवेद्य हैं, किन्तु ऐसा लगता है जैसे कवि के पास एक ही शब्द रह गया है; एक ही तरकस रह गया है जिसका हरेक तीर एक ही बात कहता है। यह तो माना कि उसकी शैली हमारी अपनी है और वह शैली 'जैसा बोलते हो, वैसा लिखो' के नियम से काफी आत्मीय लगती है—अपने परिवेश की पहचान कराती है; परन्तु विषय की एक-रसता खीझ भी पैदा करती है।

भूख कहाँ नहीं है ? और कब नहीं रही, पर आज वह भूख इतनी बढ़ गई है कि इन्सान मौका पाकर अपना पेट तो भरता ही है; अपनी जेबें भी इसलिए भरता जाता है कि उसकी तृष्णा शतगुणित हो गई है। जब तृष्णा बढ़ती है तो नीयत भी बिगड़ती-बदलती है। ऐसी स्थिति के दो परिणाम होते है—एक तो यह कि कुछ लोगों के शरीर पर चमड़ी इतनी चढ़ जाती है कि वे अपनी आँखों से उन लोगों को नहीं देख पाते हैं जिनकी हड्डियों की एक-एक नस गिनी जा सकती है। दूसरा परिणाम यह होता है कि अराजकता बढ़ती है और उसके सारे परिणाम आम आदमी को भुगतने पड़ते हैं। आज ऐसी ही स्थिति हो गई है। अतः कवि मानता है कि भूख मिटाने का सबको हक है, किन्तु आज उसे आसानी से मिटाना कठिन हो गया है। ऐसी स्थिति में कवि को भूखे झपटते बाज में, फन उठाये साँप में, दबे पाँव झाड़ियों में चलते चीते में, डाल पर उलटे लटक कर फल कुतरते तोते मे भूखों का सौन्दर्य दिखाई देता है। अतः उसकी कामना है कि मनुष्य को भी यही करना चाहिए। यही समय की माँग भी है; परिस्थितियों की पुकार भी है। मतलब यही है कि भूख से लड़ना युग की सुन्दर सच्चाई है। लड़ाई तो 'धूल' भी लड़ सकती है। सर्वेश्वर की धारणा है कि छोटे से छोटे व्यक्ति में भी संघर्ष करने का माद्दा होना चाहिये। जो उपेक्षित हैं; जो पैरों की धूल है या जिनकी नियति ही यह है कि वे निरंतर रौंदे जाते रहें, उन्हें भी रौंदने वाले के खिलाफ संघर्ष करना चाहिए। 'धूल' कविता का कथ्य यही है : "धूल हो जिन्दगी की सीलन से दीमक बनो/रातों रात सदियों से बंद इन दरवाजों दीवारों की खिड़कियाँ/और रोशनदान खोल दो/"[1] 'रेंगता साँप' कविता में भी कवि मामूली आदमी के साथ है और चाहता है कि वह सत्ता की लालफीताशाही के खिलाफ़ लड़े। सत्ता का साँप अपने बचाव के लिए कंकड़ों में रेंग रहा है—अपनी आड़ बनाकर चल रहा है ताकि सुरक्षित रह सके। कवि प्रतीक्षा को श्रेष्ठ नहीं समझता है। अतः बावजूद तमाम सुरक्षित दीवारों के वह उस पर हथियार बदल कर आक्रमण करने की बात सोचता है। कारण साफ

1. जंगल का दर्द पृ० 39

है—'इन्तजार शत्रु है/उस पर यकीन मत करो/वह जाने किन झाड़ियों में/घात लगाये बैठा रहता है उससे बचो जो पाना है/फ़ौरन पालो/जो करना है फौरन करो"/[1] यह तुरन्त करने की जीवन-दृष्टि डॉ० राममनोहर लोहिया की थी। उन्होंने कहा था—"जिंदा कौमें पाँच साल तक यानी कि दीर्घ काल तक इन्तजार नहीं करती हैं"। डॉ० लोहिया को धीरे-धीरे वाला दर्शन पसंद नहीं था। 'वे मौन रहो और प्रतीक्षा करो' की फिलासफी को कमजोरों और कायरों की नीति मानते थे। सर्वेश्वर भी इसी के हामी है। उन्होंने लगभग अपने प्रत्येक संग्रह में एक कविता इस नीति पर या तो व्यंग्य करके लिखी है या इसे लँगड़ा दर्शन माना है: "धीरे-धीरे कुछ नहीं होता/सिर्फ मौत होती है/धीरे-धीरे एक क्रांति यात्रा शव-यात्रा बन जाती है और ऐसी यात्रा न तो कहीं पहुँच पाती है और न कुछ हासिल करा पाती है। 'इंतजार शत्रु है' इसी भूमिका पर रचित कविता है। इसमें निरूपित दर्शन गति का दर्शन है; ठहराव का नहीं।

'तेंदुआ' शीर्षक कविता में मदान्ध सत्ताधीशों की मनमानी और सारे देश को अपने काले कारनामों से लँगड़ा बना देने वाली षडयंत्रकारी नीतियों का पर्दाफाश किया गया है। आपात्काल के दौरान पूँजीवादी शक्तियाँ; एक क्रूर सत्ता अपने षडयंत्रों के साँप छोड़ती रही और स्वातन्त्र्य बोध के समर्थकों, सच्चे जनतांत्रिकों का सिर कुचलती रही और हम सब सहते रहे। इसी विडम्बना को और इस उत्पन्न विभीषिका को संकेतित करके सर्वेश्वर का कवि एक सच्चाई बयान कर गया है "एक तेंदुआ/सारे जंगल को/काले तेंदुए में बदल रहा है/" वस्तुतः 'तेंदुआ' शीर्षक से लिखित दोनों कविताएँ न केवल आपात्कालीन परिवेश का बिम्ब प्रस्तुत करती हैं, अपितु अपने प्रतीकों से जन मानस में एक हलचल भी मचा देती है। 'चट्टान' का प्रतीकार्थ हमारे मन का अपरिवर्तित रूप है जो वर्षों से एक ही रूप मे चला आ रहा है। चट्टानों का काला होना अपरिवर्तित मन की स्थायी कालिमा और तज्जनित विकृतियाँ हैं तो तेंदुए का काली चट्टानों पर अँगड़ाई लेना कालिमा का निरंतर किया जाने वाला प्रसार है। चट्टानों के रंग बदलने से आशय सात्विक और संस्कारी मन को विकृत करने से है। तात्पर्य यह है कि इस कविता में सर्वेश्वर ने एक सही स्थिति का रूप ईमानदारी से प्रस्तुत किया है। कथ्य आसानी से पाठकीय संवेदना का हिस्सा बन जाता है और लगता है कि कवि अपने अनुभव लोक की सही 'फिगर' को प्रस्तुत कर रहा है। हरेक पंक्ति एक स्थिति का बिम्ब है और हर बिम्ब अगले बिम्ब का सहायक बनकर आया है। इससे समूची कविता प्रभाव छोड़ती है। 'संतवाणी' और कुछ उसी मिजाज की कविताओं में कवि ने मूल्यहीन, जर्जर

---

1 जंगल का दर्द पृ० 42

और विकृत व्यवस्था को समाप्त करके नयी मूल्यवत्ता जो सामयिक संदर्भों में उचित भी हो और यथार्थ भी हो, को अपनाने का मार्ग दिखलाया है। आज चारों ओर जंगल ही जंगल है; किन्तु इसमें जाने से हरेक भयभीत है। पुरानी पीढ़ी इसमें कई बार भटक चुकी है; पर हासिल कुछ नहीं कर सकी है। कवि को आशा है कि नयी पीढ़ी ही इसमें घुस सकती है—घुस रही है जो एक आस्था के सृजन का संकेत है : 'मैने पीछे देखा/एक नन्हा बच्चा निर्भीक/चला आ रहा था/मेरे कुछ पूछने से पहले ही/उसने जवाब दिया/मुझे रंगीन चिड़ियाँ/अच्छी लगती हैं/इस जंगल में बहुत है/''[1] यहाँ बालक नई चेतना का; चिड़ियाएँ अनगिनत कामनाओं से युक्त जिजीविषा का प्रतीकार्थ रखती हैं। 'बच्चे' का प्रतीक 'नक्शा' कविता में भी इसी अर्थ में आया है। 'कुआनो नदी में भी 'बच्चा' क्रान्ति का प्रतीक है; किन्तु वहाँ बच्चा क्रांतिमार्ग अपनाता हुआ मर-खप जाता है, किन्तु यहाँ वह जिजीविषा युक्त है।

आज प्रत्येक मनुष्य मुक्तिकामी है। कोई भी किसी तरह के पिंजड़े में कैद रहना नहीं चाहता है। 'मुक्ति की आकांक्षा' कविता का प्रतिपाद्य यही है। चिड़ियों के प्रतीक से कवि ने मुक्ति की कामना को प्रगट किया है किन्तु यह भी बतला दिया है कि पिंजड से बाहर बहेलिया है, वहाँ मारे जाने की आशंका है। इतने पर वह न तो पिंजडा पसद करती है और न मौत से भयभीत होती है। उसे जैसे ही अवसर मिलता है; बल्कि कहूँ कि अवसर तलाशती है और जैसे ही उसका प्रयत्न सफल हो जाता है, वैसे ही वह फुर्र से उड़ जाती है। ऐसी ही आकांक्षा मनुष्य में होती है या होनी चाहिए। बंधन को तोड़कर आगे जाना ही मुक्ति की प्राप्ति है। आज हर बुद्धिजीवी हरेक आदमी यही मुक्ति चाहता है। कोई भी कायरों की सी जिन्दगी नहीं जीना चाहता है। अपने ही घर में कायर बनकर जीना पराजय का स्वीकार तो है ही, पराश्रित होकर जीने का पर्याय भी है। 'यह घर' कविता की सृजन भूमि यही है। बावजूद तमाम विसंगतियों; सारे षडयंत्रों और सत्ता की अधिनायकवादी वृत्ति से उत्पन्न पीड़ा, अवसाद भावना और निराशा को झेलते हुए भी सर्वेश्वर का कवि आस्थावान है। सर्वेश्वर की आस्था उनकी मूल्यवादी दृष्टि का ठोस परिणाम है। उसमें न तो कोरा कल्पना-विलास है और न वह लँगड़ी या अंधी है। वे संघर्षों के बाद की जीत के प्रति आस्था रखते हैं। उनकी आस्था का एक आधार है और वह है जिजीविषा, मानवीय प्रेम और पारस्परिक सहयोग। इस आस्था के स्वर उनके सभी संग्रहो मे अनुगुंजित हैं। 'कुआनो नदी' की सांस्कृतिक व्यथा में भी वे यह मानने को तैयार नहीं थे कि 'नदी के पार लाशों के सिवाय कुछ नहीं है और यहाँ भी वे यही कहते

---

1 जंगल का दर्द पृ० 61

हैं कि—"थोड़े दिन और/बादल छटेंगे/कल के सिरमौर पैरो पटेंगे"/[1]..... "निराशा की ऊँची काली दीवार में भी/बहुत छोटे रोशनदान-सी/जड़ी रहती है कोई न कोई आकांक्षा/जिसमें उजाला फँसा रहता है"/[2]

अब तक के विवेचन से यह स्पष्ट है कि 'जंगल का दर्द' एक ऐसा संग्रह है जिसमें कवि ने परिवेश, राजनीति समाज और सत्ता-व्यवस्था में व्याप्त अमानवीयता; मूल्यहीनता और जड़ निष्क्रियता के खिलाफ़ आग जलाई है ताकि मूल्यों की प्रतिष्ठा हो सके; जन-क्रांति का मार्ग प्रशस्त हो सके और मामूली से मामूली आदमी भी खुले में साँस लेता हुआ मुक्ति-पथ पर जा सके। अधिकांश कविताओं में व्यंग्य है, आक्रोश है और है विद्रोह का स्वर। कवि ने पूरी साहसिकता के साथ अपने अनुभवों को कविताबद्ध किया है। इस प्रक्रिया में उसके शब्द तेज और शैली आक्रामक हो गई है; किन्तु यह आक्रामकता फालतू की चीख नहीं; अंधकार में लगाई गई चीख या व्यवस्था के खिलाफ प्रतिक्रिया मात्र नहीं है। इसमें एक सच्चाई को उभारने का आग्रह है। कतिपय कविताओं में वक्तव्यपरकता भी आ गई है और किस्सागोई शैली भी, पर बावजूद इसके यह सही है कि कवि अपनी बात बखूबी संप्रेषित कर सका है। 'तीमारदारी' बहुत सशक्त कविता है। इसमें कवि नये सिरे से चलने का आकांक्षी है। वह व्यथा की मार से शब्दहीन आदमी की खामोश आवाज सुनता दिखलाई देता है—उस थर्मामीटर में कैद पारे की तरह जो दूसरों के लिए चढ़ता-उतरता रहता है। यह कविता उस स्थिति की संकेतक है जिसमें आदमी 'कगार पर खड़ा पेड़' है। इसमें आधुनिकता की प्रक्रिया बाधित नहीं हुई है और इसे वही समझ सकता है जो इस स्थिति से गुजरा है: "कगार पर पेड़ का खड़ा रहना ही बहुत है/डाल पर विश्राम करते पक्षी/और काटती लहरों के बीच एक रिश्ता है/जो पेड़ के गिरने/और पक्षियों के उड़ जाने पर भी टूटता नहीं/:'[3] आज की स्थिति मे मनुष्य का अस्तित्व ही संकट में है, किन्तु कवि की वाणी में पर्याप्त गहराई दिखलाई देती है। 'खरौंच' कविता मे सर्वेश्वर ने कँटीली झाड़ियों में घुसकर नवजात चिड़ियों के पंख देखने की कामना व्यक्त की है तो 'चुपचाप' में वह भविष्य का संगीत सुनने का आकांक्षी हो उठा है। 'रात' शीर्षक कविता नये सृजन के प्रति निष्ठा को संकेतित करने वाली कविता है: "पलकों पर बोझ है/पहाड़ का/और रात अभी शुरू हुई है/खुद को नये सिरे से तराशना मुझे शुरू करना है/"[4]

---

1. जंगल का दर्द पृ० 68
2. वही पृ० 74
3. वही पृ० 75
4. वही पृ० 86

'जंगल का दर्द' में जहाँ एक आक्रामक, विद्रोही और क्रान्ति रचता संसार है, वहीं उसके उत्तरांश में कतिपय कविताएँ ऐसी भी हैं जो 'सर्वेश्वर' के रामानी ससार के बिम्बों में बँधकर आई हैं। इनमें जो स्वर है वह प्रेमावेग और चिरकांक्षित मनोवेगों के कारण हवा, पत्ती, तितली, बसंत, सीधी धूप सी आती मुस्कान और कसी हुई पिंडलियों से लेकर प्रजनन-पुष्प तक चुम्बन की लहरों पर तैरता दिखलाई देता है। लगता है कवि की प्रेमासक्ति या अतृप्त साधें ही उसे नारी की पिंडलियो, हरी-झाड़ी से तन नीली आँखों और मादक मुस्कान की टोह मे 'आधा जगा और आधा खोया की स्थिति में लाकर छोड़ देती हैं। वह कह उठता है : "बहुत दिन हुए/उसका रक्त में दौड़ना महसूस किये/अपनी आँखों के जल से/पंख फड़फड़ा उस सफेद हस को/पाना विभोर, गतिमान/तुम्हारी मुस्कान/" ['तुम्हारी मुस्कान' कविता] इस तरह की कविताएँ 'कुआनो नदी' में नहीं हैं। वहाँ ऐसी अनुभूति जगाने वाली कविताओं का न होना तो विस्मयकारी नहीं है क्योंकि वह संग्रह कवि की सांस्कृतिक व्यथा और मूल्यान्वेषीवृत्ति को उजागर करता है; पर इस संग्रह मे जहाँ कवि कभी किसानों की चिलमों में दमकने; मजदूरो की बीड़ियों में सुलगने और चूल्हों में धधकने के सपने देखता है, वहाँ 'देह का संगीत सुनना', नारी देह से मेमने सा तन रगड़ने की आकांक्षा और व्यथा-वेग के कारण एक अजीब तीखी घुटन महसूस करने की बात आश्चर्य में डालने वाली भले हो, पर असहज और कृत्रिम तो नहीं ही है। कारण; यह कवि की अनुभूतियों का वह संसार है जिसमें डूबकर वह नयी स्फूर्ति पा लेता है उस त्रासद परिवेश से जूझने के लिए। अपने समकालीन जीवन में फैली विकृतियों, विसंगतियों और राजनैतिक चालों से उत्पन्न विद्रोह, व्यथा और आक्रोश के मानचित्र में ये रोमानी कविताएँ हरे-नीले और लाल रग भरती है। असल में इन कविताओं में एक रोमानी संसार में बनते मानवीय सम्बधो को अंकित किया गया है। कवि की धमनियों में बहने वाला लहू इन कविताओ मे मादक संगीत की धुन छेड़ देता है; नये रगों की दुनियाँ फैला देता है। इनमें सर्वेश्वर ने प्रेमिल और मदिर अनुभूतियों के आकर्षक बिम्ब दिये हैं। यों तो सारे संग्रह की कविताएँ अपेक्षाकृत छोटी हैं, पर ये तो खासी छोटी हो गई है। संभवत: इसका कारण अनुभूतियों का सघन वेग है जो कम शब्दों में कागज पर उतर आया है। जब कवि वसंत राग' सुनता है तो उसे लगता है कि हर साल बसंत अपने नये पत्तो की डायरी पर प्रेम-कथा लिखता है और वह प्रेम-कथा बसंत का वैभव खत्म होते न होते झरते पत्तों पर व्यथा अंकित कर जाती है। संकेत है कि प्रेम-कथा का अत व्यथा-कथा में होता है क्योंकि यहाँ सब कुछ खत्म होने के लिए ही शुरू होता है, भले ही उद्यान में उड़ती हुई तितलियाँ बसंत के नाम कितने ही प्रभावी प्रेमपत्र क्यो न लिखती-भेजती रहें। लगता है एक अतृप्ति कवि को घेरे हुए है और उसी से घिर कर उसे प्रेम व्यथा का 'सिम्बल' लगता है। प्रेम की व्यथा की सघनता ही कवि को यह महसूस कराती है कि दद के भीगे हुए डने समेटे/रात मेरी धड़कनों

पर सो रही है/कौन है बुझता हुआ दीपक सँभालो/कुछ अजब तीखी घुटन-सी हो रही है/"[1] रोमानी संदर्भों की अनिवार्य परिणति के रूप में व्यथा इतनी सघन हो गई है कि वहाँ रोशनी भी दम तोड़ देती है। सर्वेश्वर जैसे समसामयिक संदर्भों मे ईमानदार रहे हैं; वैसे ही अपने रोमानी,भाव क्रोध मे भी सौ फीसदी खरे हैं। वे न तो अपनी मनःस्थिति पर कोई परदा डालते हैं और न उन्हें छिपाकर किसी बनावटी शैली में कुछ कहते हैं। वे जो भी कहते हैं सही और साफ ज़ुबान में कहते हैं। थोड़ी देर के लिए यह भी मानलें कि उनकी कविताओं का रोमानी संदर्भ छायावादी है तो भी यह तो मानना ही पड़ेगा कि सर्वेश्वर छायावादियों की तरह अपनी अनुभूतियों को किसी आवरण में लपेट पर प्रस्तुत नहीं करते है। उनकी प्रेमिल अनुभूतियाँ बुर्का पहनकर नहीं निकलती हैं। वे तो किसी आधुनिका की तरह अपने असली रूप में ही पाठक के सामने आती हैं। जो भीतर है, वही बाहर के नियम के अनुसार ही तो कवि लिख गया है : "खुली कसी पिंडलियाँ—/चाँदी के फूलदान/होंगे कहीं फूल भी/संगीत के अँधेरे में/"........."मुझे चूमो/और फूल बना दो/मुझे चूमो और वृक्ष बना दो/........मुझे चूमो खुला आकाश बना दो/........फिर मेरे अनंत नील को इन्द्रधनुष सा लपेटकर मुझमें विलय हो जाओ/"[2] इसके साथ ही जब चूमने की प्रक्रिया शुरू होती है तो वह उसकी भौंहे, कपोल, अधर, चिबुक, कंठ, वक्ष, उरोज और नाभि को चूमता हुआ प्रजनन पुष्प तक को चूम जाता है। आकांक्षाओं का तरल वेग इतना अधिक बढ़ जाता है कि स्थिति यह हो जाती हे "मैं नाच रहा हूँ/मुझे अपनी ठोस बाँहों में कस चूर-चूर कर दो/अपने मे समाहित करलो, इसके पहले कि मैं बुझ पाऊँ"/[3] इसी आवेग में उसे 'सिगरेट पीती औरत' भी भाती है और उसका मन यह होता है कि "तुम्हारा तन एक हरी-भरी झाड़ी है जिसमें मैं मेमने सा/अपना तन रगड़ता हूँ"/[4]

अततः 'जंगल का दर्द' से गुजरते हुए हमें सर्वेश्वर के उस मिजाज का पता लगता है जिसके तहत कवि देश की सामाजिक, राजनीतिक और प्रशासनिक स्थितियों के प्रति गहरी संपृक्ति, साझेदारी और तीखी पकड़ को शब्दों के चौखटे में जड़ सका है। आपातकाल की विभिन्न स्थितियों का ऐसा सच्चा चिट्ठा और दमघोंट रूप और कहाँ है ? वह कितने कवियों की कविताओं का विषय बना है और यदि बना भी है तो क्या वह इतना सम्प्रेषणीय रूप लेकर आया है। मैं समझता हूँ नहीं। सर्वेश्वर की ये कविताएँ उनकी गहरी अनुभव—प्रक्रिया के दौर की ऐसी कविताएँ हैं जो भावी दुनियाँ के लिए शिलालेख का काम करेंगी। इनमें अनुभूतियाँ विचारानुभूतियाँ

1. जंगल का दर्द पृ० 119
2 वही पृ० 108, 109 और 110
3 वही पृ 112
4 वही पृ० 113

बन गई हैं और कवि एक 'सर्जन' की तरह कविता की टेबुल पर विविध लाइलाज और बीमार स्थितियों का ऑपरेशन व्यंग्य की छुरी से करता चला गया है।

जाहिर है कि सर्वेश्वर की काव्य-यात्रा प्रारम्भ से अब तक किसी एक स्थिति पर टिकी हुई नहीं है। उसमें गति है; एक नये पड़ाव की ओर जाने की ललक है और यह ललक ही उसकी ईमानदारी का सबूत है। उनका हर कविता संग्रह एक नयी शुरूआत है, एक नया स्वीकार है। सर्वेश्वर ने किसी भी स्थिति को अकाव्यात्मक नहीं माना है। यही वजह है कि वे प्रेम के दायरे में खिले फूलों के रंग भी चुराते रहे हैं; उनसे तितलियों को प्रेमपत्र की तरह उड़ते देखते रहे हैं और इस सबमें उन्हें यदि वेदना का दंश भी सहना पड़ा तो उसे भी उन्होंने तिलक और रोली बनाकर अपने ललाट पर धारण किया है। लेकिन इसका यह अर्थ लगाना ठीक नहीं कि सर्वेश्वर मात्र वैयक्तिक संवेदनों और ऐन्द्रिय सन्निकर्ष के कवि हैं। यदि वे ऐसे होते तो समकालीन परिवेश की जटिलताओं को कैसे पहचान पाते, व्यवस्था में फैली सडाँध को कैसे देख पाते; राजनीतिज्ञों और प्रशासकों के नकली चेहरों और मिथ्यावादी आदर्शों को कैसे हृदयंगम कर पाते और कैसे देख पाते उस विगलित संस्कृति को, उस कृत्रिम दुनियाँ को जो आज हर आदमी के गले में अटकी हुई है ? वस्तुतः सर्वेश्वर की काव्य यात्रा एक स्पष्ट रेखा है। वे रोमानी भावबोध को झटके से तोडकर काव्य-क्षेत्र में आये ही इसलिए हैं कि अपने परिवेश और उसमें साँस लेते जीवन के निगहबान बनते हुए एक सचेतन कलाकार की हैसियत से कवि-कर्म निभा सकें। उनकी समस्त काव्य-यात्रा इस तथ्य को रेखांकित करके कहती है कि कविता न तो नारा है; न आन्दोलन और न अतिरंजित भावों का कल्पना-विलास। वह सामाजिक साझेदारी है; एक दायित्वपूर्ण कर्म है, जिन्दगी के हर पहलू पर निगाह रखने वाले चेतन कलाकार की सचेतन सृष्टि है और संवेदनशील, किन्तु जागरूक सर्जक की रगों में बहने वाली वह विद्युत-धार है जिसे जहाँ से भी छुओ वहीं से झनझना देती है।

तृतीय अध्याय

संवेदना के धरातल

रागात्मक संवेदना
पीड़ा-बोध
वैचारिक संवेदना
समकालीन परिवेश से साक्षात्कार
व्यंग्य-बोध
मानवीय करुणा
लोक-संपृक्ति
मूल्य बोध
सौन्दर्य-बोध

संवेदना अनभव मात्र हैं। वह तो प्रत्यक्षीकृत अनुभवों का 'डिस्टिल्ड फार्म' है। संवेदना शून्य में आकार ग्रहण नही करती है, युगबोध से उसका करीबी रिश्ता है। 'सर्वेश्वर' की काव्य-संवेदना का व्यास क्रमश: चौड़ा होता गया है। इसी से उसमें राग-संवेदना के साथ-साथ समसामयिक संदर्भ, सांस्कृतिक मूल्य, मनोवैज्ञानिक संदर्भ और राजनीतिक अनुभव अनुभूति में ढलकर सवेदना का रूप धारण करते रहे हैं। जाहिर है कि अनेक संघर्षों की चोट सहकर 'सर्वेश्वर' का कवि अपनी संवेदना को बहुआयामी और बहुस्तरीय बनाता रहा है। कहीं निजी तनाव-दबाव है; प्रेमिल अनुभूतियाँ हैं; उनसे जन्मा दर्द, अवसाद और आत्मसंघर्ष है, कहीं सौन्दर्य का इन्द्रधनुष हैं; कहीं राजनैतिक सामाजिक स्थितियों का विकृत विगलित रूप हैं; जीवन की आपाधापी से छटपटाती मन-स्थितियों के बिम्ब हैं और कहीं व्यवस्था के भीतर से जन्मी कुरुचियाँ, घिनौनी स्थितियाँ हैं तो कहीं इस सबको देखकर विद्रोह की आग है; खिची हुई भौंहे हैं, फड़कते हुए नथुने हैं, आक्रोशी मुद्रा है और वैचारिक तपन के परिणाम स्वरूप फूटी हुई विवेक की आग है। 'सर्वेश्वर' पहले कवि हैं जिन्होंने नयी कविता के संसार में 'रोमास' को मात्र भावना के स्तर तक लाकर ही नहीं छोड़ दिया है। वे उसे वैचारिक सारणियों तक ले गये हैं। यही वजह है कि 'काठ की घंटियाँ' का रोमानी संदर्भ 'बाँस का पुल' में बदला मिज़ाज लिए हुए है और 'एक सूनी नाव' में वह वैचारिक होकर आगे के संग्रहों में अनेक यथार्थ प्रश्न छोड़ गया है।

संवेदना के धरातल

कविता संवेदना का सम्प्रेषण है। संप्रेषण सभी नहीं कर पाते हैं क्योंकि किसी बात को कहना भर संप्रेषण नहीं होता, उसमें कहने की पद्धति भी अन्तर्भावित है। यही स्थिति संवेदना की है। वह भी अनुभव मात्र नहीं है क्योंकि अनुभव तो सभी को होते हैं; किन्तु उन्हें कहना सबके वश की बात नहीं हैं। अतः जो अनुभव व्यक्तित्व में घुलते हुए अनुभूति के रूप में छनकर आते हैं, वे ही संवेदना की संज्ञा प्राप्त करते हैं। इस प्रकार संवेदना प्रत्यक्षीकृत अनुभवों का 'डिस्टिल्ड फार्म' है। अनुभव भी बिना किसी आधार के नहीं हो सकते हैं। यही कारण है कि पहले कुछ 'तथ्य' सामने आते है। तथ्य वास्तविकता का मनुष्यगृहीत सामान्य रूप हैं; एक स्थिति भर हैं जिन्हें लगभग हर मनुष्य की तरह ही कलाकार भी देखता है। देखने भर से भी पूरी प्रक्रिया समाप्त नहीं हो जाती है। उस देखे हुए को कहना सभी के लिए हमेशा अनिवार्य भले न हो, पर कलाकार कहने के लिए विवश होता है। तथ्य को जब कोई रचनाकार अपने बोध के अनुसार शब्दों में बाँध देता है, तब वही 'सत्य' बन जाता है। सत्य का यही रूप अनुभूति और कुछ तीव्र-सूक्ष्म होकर संवेदना बनता है। संवेदना के लिए आस-पास का परिवेश, उसकी हलचल और उस हलचल में शामिल व्यक्ति की स्थिति, परिस्थिति और मनःस्थिति आधार का काम करती है। स्पष्ट शब्दों में कह सकते हैं कि संवेदना शून्य मे आकार ग्रहण नहीं करती है। युगबोध से उसका करीबी रिश्ता रहता है।

यह निर्विवाद है कि हम अपने आस-पास फैले संसार से आँखें नहीं मूँद सकते है। उसके प्रति एक भाव हमारे मन मे अनिवार्यतः रहता है और यही हमें उससे जोडता है। जुड़ने का तात्पर्य यह नहीं कि हम उसके पक्षधर ही हों। हम उसके प्रति प्रतिक्रियात्मक दृष्टिकोण भी रख सकते हैं और उसमें रुचि भी ले सकते हैं। कहना यही है कि युगबोध और संवेदना की मैत्री रहती है। एक तो वह व्यक्ति है जो सब कुछ देखकर भी देखे हुए को अनुभव नहीं करता है अत उसमे अनुभूतियाँ नहीं

जगती हैं। दूसरा वह है जो सब कुछ देखता है, देखे हुये के प्रति अपनी रुचि-अरुचि प्रदर्शित करता हुआ प्रतिक्रिया व्यक्त करता है। यही कलाकार होता है और इसी की अनुभूतियाँ संवेदना का वृत्त बनाती हैं। इस वृत्त का विस्तार जितना अधिक होता है; कलाकार उतना ही बड़ा और प्रतिभाशाली सिद्ध होता है यह विस्तार युग विशेष में प्रचलित बोध या धारणा-अवधारणाओं के प्रति चैतन्य दृष्टि रखने से सम्भव हो पाता है। एक वाक्य में युग चेतना ही संवेदना को गहराई और विस्तार प्रदान करती है। युग चेतना के बिन्दु युग-विशेष की जमीन से ही विकसित होते हैं। युग चेतना का 'मुख्य अर्थ है मनुष्य के सामूहिक व्यवहार मे परम्परा-प्राप्त मूल्यो से भिन्न मूल्यों की प्रतिष्ठा'। किसी काल-विशेष का मनुष्य सामान्य रूप में इस परिवर्तन को अनुभव तो करता है, पर उसे स्पष्ट रूप से पहचानकर अभिव्यक्त नहीं कर पाता है। वह युग विशेष में अधिकांश लोगों के मन में प्रच्छन्न रूप से चलते रहने वाले जीवन-लक्ष्यों और मूल्यों का बोध मात्र है। जो लोग इतिहास के जानकार होते है और सामाजिक व्यवहारों के परिवर्तनों की कार्य-कारण परम्परा को समझने की दृष्टि रखते हैं, वे उनके मूल रूप और कारण का अनुसंधान करते है, पर जो लोग अधिक संवेदनशील होते हैं, वे प्रत्येक युग की समस्या को अन्तर्बोध द्वारा ग्रहण करते हे'।[1] ये लोग ही कलाकारों की श्रेणी में आते हैं।

कलाकारों की संवेदना आम आदमी की तुलना में अधिक सक्रिय अधिक ग्रहणशील और अधिक विस्तृत होती है। इसी कारण जो कुछ भी कलाकारों की संवेदना मे आता है, उसे वे इस ढंग से कहते हैं कि वह पाठकीय संवेदना बन जाता हे। लेखकीय सवेदना का पाठकीय संवेदना बन जाना न केवल बहुत बड़ी बात है; अपितु कलाकार की उल्लेख्य विशेषता भी है। युगबोध का दो स्तरों पर ग्रहण किया जा सकता है—बौद्धिक धरातल पर और संवेदना के धरातल पर। कलाकार का युग-बोध उसकी संवेदना का स्तर बनकर आता है। जब युगबोध संवेदना के स्तर पर ग्रहण किया जाता है तो उसमें प्रभाव, वास्तविकता और आकर्षण का गुण कई गुना बढ़ जाता है। ठीक भी है कलाकार जब किसी यथार्थ को वास्तविक रूप मे देखता है तो उसे न केवल देखता है; वरन् भोगता और जीता भी है। वह यथार्थ का हिस्सा बन जाता है। ऐसा होने पर ही उसकी अभिव्यक्ति संवेदनात्मक हो पाती है। जब हम किसी लेखक की सवेदना को समझने का प्रयास करते हैं तो हमे निश्चय ही उसके परिवेश और उसकी कृति का ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक हो जाता है। परिवेश का ज्ञान इसलिए अपेक्षित होता है कि हम उससे यह निष्कर्ष पा सकते हैं कि कलाकार का सृजन किस संदर्भ और किन धरातलों से जुड़ा है। रही कृति,

---

1 डॉ० मुकुन्द द्विवेदी हिन्दी युग चेतना और पाठकीय संवेदना पृ०]

उसका बोध इसलिए अनिवार्य होता है कि हम उससे कलाकार की युगीन-संवेदना के रूप को समझ सकते हैं।

संवेदना के अनेक स्तर हो सकते हैं। ये स्तर रुचि के आश्रित होते है। कलाकार की वैयक्तिक रुचि इसमें प्रमुख होती है और यह उसके मानस में संस्कार रूप में पड़ी रहती है। इसके साथ ही एक जिज्ञासा प्रेरित वह रुचि होती है जिसे अर्जित किया जा सकता है। स्पष्ट शब्दों में कह सकते हैं कि यदि किसी को कोई खास रंग या स्वाद पसंद है तो उसकी संवेदना उसी तरह की होगी। हाँ वह चाहे तो अपनी रुचि को परिष्कृत-परिशोधित कर सकता है। 'सर्वेश्वर' को ही ले तो जाहिर होगा कि उनकी रुचि के मूल में राग-संवेदन प्रमुख है। उन्होंने अपने परिवेश के प्रति रुचि जागृत की है जो व्यक्तित्व का हिस्सा बनकर संवेदनात्मक अभिव्यक्ति पा गई है। इसी कारण सर्वेश्वर की संवेदना का वृत्त विस्तृत हो गया है। अत जब हम सर्वेश्वर की संवेदना के धरातलों की चर्चा करते हैं तो यह स्पष्ट लगने लगता है कि उनकी संवेदना का व्यास क्रमशः चौड़ा होता गया है। ऐसा होने के कारण ही उनकी संवेदना परिधि में राग-संवेदनों के साथ-साथ समसामयिक संदर्भ, सांस्कृतिक मूल्य, मनोवैज्ञानिक संदर्भ और राजनीति तक के अनुभव अनुभूति मे ढलकर संवेदना का रूप धारण करते रहे हैं। जब हम सर्वेश्वर की काव्य-संवेदना के धरातल को विश्लेषित करते हैं तो यही बतलाना चाहते हैं कि कवि का अनुभव लोक कैसा है ? वह किस तरह की अनुभूतियों को संवेदना के रूप में ग्रहण करता है। उल्लेख्य यह है कि सर्वेश्वर की सवेदना सहज ही पाठकीय संवेदना का हिस्सा बनती गई है। इसका कारण यह है कि उनकी संवेदना की निर्मिति उनके आस-पास फैले विविध संदर्भ-दृश्यों से हुई है। उनका अनुभव-लोक विस्तृत और व्यापक है। अनेक संघर्षों की चोट सहकर 'सर्वेश्वर' का कवि अपनी संवेदना को बहुआयामी और बहुस्तरीय बनाता रहा है। कहीं निजी तनाव-दबाव है; प्रेमिल अनुभूतियाँ हैं; उनसे जन्मा दर्द, अवसाद और आत्मसंघर्ष है, कहीं सौन्दर्य का इन्द्र-धनुष है; कहीं राजनैतिक-सामाजिक स्थितियों का विकृत विगलित रूप है; जीवन की आपाधापी से छटपटाती मनस्थितियों के बिम्ब हैं और कहीं व्यवस्था के भीतर से जन्मी कुरुचियाँ, घिनौनी स्थितियाँ हैं तो कहीं इसी सबको देखकर विद्रोह की आग है; खिची हुई भौंहें हैं, फड़कते हुए नथुने हैं, आक्रोशी मुद्रा है और वैचारिक तपन के परिणाम स्वरूप फूटी हुई विवेक की आग है जो समूची व्यवस्था को अपनी तेज लपटों से लील जाने को आतुर है।

असल में सर्वेश्वर समझौतापसंद व्यक्ति नहीं हैं। वे तो सांस्कृतिक मूल्यो के भीतर जमा हुए कीचड़ को एक झटके के साथ—विद्रोह और क्रांति के साथ· साफ करने के हिमायती हैं यह स्थिति उन्हें एक साथ नहीं मिली है इसकी यात्रा का

का काव्य : संवेदना और संप्रेषण

सर्वेश्वर के ठोस अनुभव उनके हृदय की आँच से पिघलकर न केवल
और व्यंजना देने में सक्षम हुए हैं; अपितु उनकी संवेदना की धार को
ृत भी करते रहे हैं। उन्होंने अपने तीखे अनुभवों को भी मात्र व्यक्ति
हने दिया है; केवल निजता के घेरे में ही कैद करके नहीं रखा है,
ाजिक चेतना के रूप में ही अभिव्यक्त हुए हैं। सर्वेश्वर की काव्य
न्दगी की सच्चाइयाँ, परिवेश की निर्मम क्रूर स्थितियाँ, बेजुबान
प्रजातांत्रिक मूल्यों के कारण विकसित विसंगतियाँ जिस बेपर्दगी के
व्यक्त हुई हैं; उसी ईमानदारी के साथ प्रेमानुभूतियों की प्रभावी व्यंजना
र्वेश्वर पहले कवि हैं जिन्होंने नयी कविता के संसार में रोमांस को
के स्तर तक लाकर ही नहीं छोड़ दिया है। वे उसे वैचारिक सारणियों
। यही वजह है कि 'काठ की घंटियाँ' का रोमानी संदर्भ 'बाँस का पुल'
ाज लिए हुए है और 'एक सूनी नाव' में वह वैचारिक होकर आगे के
क यथार्थ प्रश्न छेड़ गया है। यह सब सर्वेश्वर की संवेदना के विविध
भूमि है। सुविधा के लिए सर्वेश्वर की काव्य-संवेदना के वैविध्य को
रखकर समझा जा सकता है : रागात्मक संवेदना, वैचारिक, संवेदना,
रिवेश के साक्षात्कार से उत्पन्न संवेदना, मानवीय करुणा और मानवता-
ंपृक्ति, व्यंग्य बोध, सांस्कृतिक बोध, सौन्दर्य बोध, आस्था और
यथाजनित संवेदना तथा मानव-मूल्यों के प्रति अनुराग आदि।

ेदना

र कोई भी हो; कैसी भी परिस्थितियों में जीवन यापन करता हो
ुभवों के प्रति ललक रखता ही है। भावुकता, आत्मीयता, प्रेम, स्मृति,
आकर्षण की स्थितियाँ राग सम्बन्धों की भूमिका निर्मित करती हैं।
में सर्वत्र आपाधापी, संघर्ष और प्रश्निल स्थितियाँ व्याप्त हैं। इन
अनिवार्यता से बचना भी कठिन है और इन्हें छोड़कर किसी एकांत
का संसार सजाना भी कठिन है किन्तु इससे भी ज्यादा कठिन है
क पर अंकुश लगाना। कारण यह है कि मूलवृत्तियों पर अंकुश नहीं
कता है। हाँ यह अवश्य है कि रागात्मकता को स्वीकारते-भोगते हुए
सच्चाइयों से मुँह नहीं मोड़ा जा सकता है। जो ऐसा करता है वह
ोता है। कहने की आवश्यकता नहीं कि 'सर्वेश्वर' ऐसे ही कवि हैं।
—संसार में रागात्मक संवेदना का एक वृत्त स्पष्ट दिखलाई देता है। उनका
जन तो जिसमें 'काठ की घंटियाँ', 'बाँस का पुल' और 'एक सूनी नाव'
आती हैं; अधिकांशतः रोमानी संसार लिए हुए है। इनमें प्रेम, मस्ती और
ालिक अल्हड़ता के दर्शन होते हैं जहाँ तक परवर्ती सृजन का प्रश्न है

उसमें समसामयिक परिवेश और तज्जनित प्रतिक्रियाएँ गहरी हैं, किन्तु रोमनी दुनियाँ के खण्डहरों में चमकते प्रेमिल दीपकों के बिम्ब भी हैं।

यह रोमानी भावबोध कहीं-कहीं छायावादी याद ताजा करता है, किन्तु ध्यान रहे इस भावबोध में छायावादियों की सी आंतरिकता, गोपन स्थितियाँ और उनके अमूर्त बिम्ब नहीं हैं। सर्वेश्वर का प्रेम बोध स्पष्ट, यथार्थ और एक खुलावट लिए हुए है। यह वह राग-चेतना है जो यथार्थ के धरातल पर विकसित और पल्लवित हुई है। इसी कारण कवि की संवेदना अमूर्त होने से बची रही है। प्रेम को ही लीजिए कवि उसे खुले मन से स्वीकार करता है और संकोच की अर्गला को काटकर साफ कहता है; "एक तीखी ढलान तुम्हारे वक्ष पर है/एक मेरे सपनों में/आओ उन पर दौड़ें फिसलें, लोट-लोट जायें/एक दूसरे की आत्मा को छू लें"/[1] प्रेम की यह उद्दामता कवि मानस में तरंग बनकर उठती है और वह निस्संकोच भाव से प्रेम के दौरान हर चोटी से चट्टानें को नीचे ढकेलता हुआ एकांत तट पर निर्वसन लेटने की आकांक्षा करता है : "हर एकान्त तट पर निर्वसन लेटें/धूप को रोम-रोम भेदने दें हर दृश्य के प्रति सम्मान में/एक दूसरे को चुम्बनों से भर दें/जोर-जोर से गायें"/[2] मेरी समझ में सर्वेश्वर की इस राग-चेतना का सम्बन्ध छायावाद से कम और 'बच्चन', 'अंचल' की उन्मुक्त प्रेम—चेतना से अधिक है। जिस तरह अंचल, नरेन्द्र शर्मा और बच्चन के (प्रारम्भिक काव्य) सृजन में प्रेम की मस्ती, उद्दामता और प्रणयावेग की स्थितियों का अंकन हुआ है; उसी तरह सर्वेश्वर ने प्रेम को जीवन के लिए अनिवार्य और अपरिहार्य माना है। उनके मन में हर पल कोई यह दुहराता रहा है कि "सच, बिना प्यार के यह रात नहीं कटती है/बिना प्यार के आदम की जात घटती है"/[3] वास्तविकता यह है कि सर्वेश्वर ने प्रेम को आश्रयदाता और जीवनदाता माना है। इसी भाव के कारण कभी तो वे प्यार को एक छाता समझते हैं, कभी उससे ऐसी इमारत बनाना चाहते हैं तो छत विहीन है। उन्होंने प्रेम की जो इमारत तैयार की है उसके ऊपर खुला आसमान भर है जो कभी सूरज की रोशनी से; कभी चाँद की स्निग्ध चाँदनी से और कभी तपती धूप से जिन्दगी को चमकाता और गरमाता रहता है।

सर्वेश्वर के प्रेम में भोग की भूमिका भी महत्वपूर्ण है। वे प्रेम को न केवल जिन्दगी के लिए अनिवार्य समझते हैं; अपितु उसे पूरी तरह भोगना भी चाहते हैं। इस भोग की शुरुआत 'एक सूनी नाव' से होती है। वहाँ कवि प्रणयावेग के क्षणों

---

1. एक सूनी नाव, पृ० 10
2. वही, पृ० 11
3. काठ की घंटियाँ पृ० 270

मे चाँदनी को अपनी प्रिया के चेहरे पर स्कार्फ की तरह बाँधना चाहता है; बादलो को जेबों में भरना चाहता है और बिजलियों की रस्सियाँ बटकर एक विशाल जाल बनाने को भी उत्सुक है ताकि वह उसे प्रिया की आँखों में लहराते संगीत के सागर मे फैंक सके—इस मंशा से कि वहाँ जो भी, जितने भी, भाव है उन्हें पूरी तरह जिया और भोगा जा सके। कवि मानस में जो प्रेम के रंगों का इन्द्रधनुष है; वह उसकी अन्तश्चेतना का अहम अंग है और उसी के सहारे वह झूमता रहना चाहता है; उसके रंगों को प्रेमिल दुनियाँ में भरना चाहता है। 'समर्पण', 'आश्रय', 'वसंत राग', 'रात मे वर्षा' और 'मुझे स्वीकार नहीं' जैसी कविताओं में कवि की राग-संवेदना के खुले स्वर हैं। प्रेम और उससे सम्बन्धित अनुभूतियाँ उसके मन में संगीत की तरह बजती रहती हैं। वह कभी समर्पण की जमीन पर, कभी अनगिनत प्रेमिल भावों के संदर्भ से और कभी प्यार की धारासार वर्षा में अपने को भीगता-डूबता महसूस करता है। कहीं-कही यह प्रेमिल आर्द्रता इतनी सघन हो गई है कि कवि प्रेमानुभूतियों को छोड़कर नारी शरीर के लिए व्याकुल हो उठा है : "मेरी साँसों पर मेघ उतरने लगे है आकाश पलकों पर झुक आया है/क्षितिज मेरी भुजाओं से टकराता है आज रात वर्षा होगी/कहाँ हो तुम ? ....मै तुम्हें बूँदों पर उड़ती/धारों पर चढ़ती उतरती उन संगीत मछलियों तो दिखाना चाहता हूँ/जिन्हे मैंने अपने रोम रोम की पुलक से आकार दिया है/प्यार के आदिम आवेगों से/नाना रूप और रंग/जिनकी आँखे मैंने अपनी प्यास से बनायी हैं/ ...... कहाँ हो तुम"[1]/

ऐसा नहीं है कि यह रोमानी संवेदना आगे की कविताओं मे नहीं है। गर्म हवाओं के थपेड़े खाकर भी सर्वेश्वर का कवि प्रेम की ललक लिए जी रहा है। हाँ, अब इस ललक में विवेक भी आ मिला है। फिर भी कवि के हृदय की द्रवणशीलता काँच की खिड़कियों पर अपने प्यार की भाप छोड़ रही है; पतले होंठो के नीचे जड़े तिल को निहार रही है, प्रिया के चेहरे पर खोये चुम्बन को तलाश रही है; गालों पर दहकती प्रेम की ऊष्मा की याद कर रही है और अपने प्रेमिल भावो की हत्या पर दुखी-सुखी होती हुई अफसोस मे डूबी हुई है। 'जंगल का दर्द' में भी कवि की यह वृत्ति स्पष्ट संकेतित है। प्रेम अनभोगा रहकर निरर्थक हो जाता है। जीवन आनन्द है; जीने तीव्र लालसा है और है डूबकर जीने का पर्याय। अत. सर्वेश्वर प्रेम मे ठंडी अनुभूतियों के कवि नहीं हैं। उनकी राग-संवेदना के वृत्त में प्रेम का वह भाग ज्यादा है जिसमे नारी तन की गंध है; गर्म-उत्तप्त साँसें हैं, एकमेक हो जाने का भाव है, तन से तन और मन से मन की यात्रा है और और खुली कसी पिंडलियाँ व चाँदी के फूलदान हैं। 'जंगल का दर्द' की 'प्रतीक्षा', 'देह का संगीत' (1 व 2), तुम्हारा तन,

---

1 एक सूनी नाव पृ० 16

बसंत राग और तितली ने कहा जैसी कविताओं में रोमानी संवेदना का यही रूप अभिव्यक्त हुआ है। कवि परिवेश के जंगल में घिर कर भी ऐसे पल निकाल ही लेता है जहाँ वह हरी-भरी झाड़ी जैसे नारी तन से मेमने सा अपना तन रगड़ सके और देह के संगीत को सुनता हुआ मस्तक, भौंह, आँख, अधर, कपोल, चिबुक, कंठ, वक्ष उरोज, नाभि, प्रजनन-पुष्प, जंघा, पिंडलियों और हथेलियों को चूम सके। वह साफ लिख गया है :

> "मुझे चूमो/दमकता सूर्य बना दो/
> फिर मेरे अनंतनील को इन्द्रधनुष सा लपेटकर/मुझमें विलय हो जाओ/....
> कहाँ हो तुम ? शात निस्पंद बर्फ पर/एक लपट की तरह/
> मैं नाच रहा हूँ/मुझे अपनी ठोस बाँहों में कस/चूर चूर कर/
> अपने में समाहित करलो/इसके पहले कि मैं बुझ जाऊँ"/[1]

प्रेम का मौसम बार-बार नहीं आता है। अतः सर्वेश्वर उस ऊष्मा की चाहत के कवि हैं जिसे पाकर दो तन-मन का ताप एक हो जाये, "जिस ताप से लय हो जाय/सारा अस्तित्व एक दूसरे में"। वास्तविकता यह है कि सर्वेश्वर के लिए प्रेम अनिवार्यता है; जीने का साधन है, भोग, सुख और आनंद की सीढ़ी है। यह प्रेमिल दुनियाँ ऐसी नहीं है जो किसी आवरण के नीचे दबी हो; वरन् यह तो उन्मुक्त दुनियाँ है। हाँ; उच्छृंखल यह नहीं है, ठहरी हुई भी नहीं है। इसमें हर पल एक सभावनाकुल और गतिशील संसार अँगड़ाइयाँ लेता दिखाई देता है। प्रिय का सामीप्य यहाँ नये संभावना द्वार खोलता है और उसकी अनुपस्थिति सारी दिशाओं के रास्ते बन्द कर देती है। 'तुम्हारे साथ रहकर' और 'तुमसे अलग होकर' कविताओं में यही भाव प्रतिध्वनित है :

> "तुम्हारे साथ रहकर/अक्सर मुझे ऐसा महसूस हुआ है/
> कि दिशाएँ पास आ गयी हैं/हर रास्ता छोटा हो गया है/
> दुनियाँ सिमटकर/एक आँगन बन गयी है/........तुम्हारे साथ रहकर/
> अक्सर महसूस हुआ है/कि हर बात का एक मतलब होता है/
> तुम्हारे साथ रहकर/अक्सर मुझे लगा है/कि हम असमर्थताओं से नहीं/
> संभावनाओं से घिरे हैं/हर दीवार में द्वार बन सकता है/और हर द्वार से
> पूरा का पूरा पहाड़ गुजर सकता है"/[2]
> तुमसे अलग होकर लगता है/अचानक मेरे पंख छोटे हो गये है/

1. जंगल का दर्द पृ० 110-112
2. एक सूनी नाव पृ० 7

और मैं नीचे एक सीमाहीन सागर में/गिरता जा रहा हूँ/
अब कहीं कोई यात्रा नहीं/न अर्थमय न अर्थहीन/
गिरने और उठने के बीच कोई अन्तर नहीं/
तुमसे अलग होकर/हर चीज में कुछ खोजने का बोध
हर चीज से कुछ पाने की/अभिलाषा जाती रही/
सारा अस्तित्व रेल की पटरी-सा बिछा है/हर क्षण
धड़धड़ाता हुआ निकल जाता है/[1]

कहने का तात्पर्य यह है कि सर्वेश्वर की राग-संवेदना में प्रेम का जो स्वरूप है वह जिन्दगी से कटा हुआ नहीं है। वह एक ऐसा प्रेम भरा संसार है जिसमें जीने की गहरी कामना है; आसक्ति है, संसिक्ति है और है ऐन्द्रिय सन्निकर्ष। उनके प्रेम के गणित में कोई न कोई 'हासिल' किसी न किसी तरह जुड़ता ही रहा है, 'माइनस' कुछ नहीं हुआ है। उनका प्रेम झरने की निरंतरता जैसा है; सरोवर की सी जड़ता जैसा नहीं है। उसमें झरने का संगीत है; झील का ठहराव नहीं। यही वजह है कि सर्वेश्वर की राग-संवेदना के इधर-उधर खुली हवा; खुली धूप और उन्मुक्त रोशनी है न कि बंद कमरों की घुटन; सीलन और दमघोंटू दुर्गन्ध। सर्वेश्वर की राग-संवेदना में घृणा और वीभत्सता नहीं है और न उसका रंग काला और भयानक है। वहाँ तो चाँदनी का निखार है; ओस भरी रात है और सूर्योदय की चमक है।

सर्वेश्वर की उन कविताओं में भी पर्याप्त भावुकता है जो प्रेम जनित मनोभावों की व्यंजना करती हैं। ऐसी कविताओं में 'उड़ने दो मन को', 'चाँद की नींद', 'चाँदनी से कहो', 'दो अगर की बत्तियाँ', 'प्रेम नदी के तीरा', 'बनजारे का गीत', 'सावन का गीत', 'झूले का गीत', 'चरवाहों का युगल गान', 'तुम्हारा मौन', 'वे हाथ', 'तुम', 'प्रतीक्षा', 'तुम्हारी मुस्कान', 'अलग होने का ख्याल', 'सुर्ख हथेलियाँ' और 'नीली चिड़ियाँ' आदि का नाम गिनाया जा सकता है। ये वे कविताएँ हैं जिनमें कवि भावना के स्तर पर विविध स्थितियों को व्यक्त करता गया है। इनमे हरेक कविता किसी न किसी भावुक, आत्मीय और आंतरिक मनस्थिति को प्रस्तुत करती है। सर्वेश्वर की राग-संवेदना में सहजता और अतीत के प्रति आसक्ति (पुराने के प्रति लगाव) के संदर्भ भी विस्मरणीय नहीं हैं। सर्वेश्वर ने 'रोमांटिसिज्म' के कुछेक तत्वों का प्रयोग भी कुछ इस तरह से किया है कि वह भी उनकी राग-चेतना का ही एक संदर्भ लगता है। "सुनो! सुनो! यहीं कहीं एक कच्ची सडक

---

1. एक सूनी नाव पृ० 9

थी/जो मेरे गाँव को जाती थी," में अतीत के प्रति सम्मोहन का जो भाव व्यक्त हुआ है वह इतिहास और सांस्कृतिक बोध से जन्मी स्मृति-प्रक्रिया का ही एक संदर्भ है। यह संदर्भ कवि की भावुकता को ही शब्दबद्ध कर सका है, किन्तु कविता के उत्तरांश में समसामयिक परिवेश भी उभर आया है। प्रकृति-संवेदना से सिक्त दर्जनों कविताएँ ऐसी हैं जो कवि की राग-संवेदना में सौन्दर्य, उल्लास, मादकता, प्रतीक्षा, दर्द, बेचैनी और अतृप्ति जैसे मनोवेगों को मिलाती दिखाई देती हैं। ऐसी कविताओं की विवेचना सौन्दर्य बोध (प्रकृति-संवेदना) शीर्षक के अन्तर्गत की गई है। अत. यहाँ इतना ही कहना पर्याप्त है कि सर्वेश्वर की कविताओं में जो राग-संवेदना है उसकी परिधि काफी विस्तृत है। राग मात्र प्रेम नहीं है। उसमें सौन्दर्य का लहरिल सागर भी है और वेदना का वह भाग भी है जो कवि के व्यक्तित्व की हर परत में छिपा है।

पीड़ा बोध

सर्वेश्वर की संवेदना में पीड़ा की भूमिका भी गहरी है। उनकी पीड़ा प्रेम-जनित भी है और सामाजिक जटिलताओं और विसंगतियों से भी उपजी है। जहाँ वेदना प्रेमजनित है वहाँ प्रतीक्षा और बीते हुए की स्मृति का भाव गहरा हो गया है। असल में सर्वेश्वर का प्रेम या तो उल्लास और निर्द्वन्द्व भावों का द्योतक बनकर आया है या फिर स्मृति और प्रतीक्षा की सीमाओं को स्पर्श करता रहा है। स्थिति जो भी रही हो कवि सभी स्थितियों की प्रस्तुति में सहज, आत्मीय और ईमानदार बना रहता है। उसने अपनी आत्म वेदना को खुलकर वाणी दी है। 'दर्द' को लेकर अज्ञेय ने अनेक कविताएँ लिखी हैं। उनका दर्द जिस तरह एक दर्शन या दृष्टि बनकर उभरा है उसी तरह सर्वेश्वर का भी। सर्वेश्वर ने भी पीड़ा के सागर में स्नात होकर नयी शक्ति और दृष्टि पाई है और अज्ञेय ने भी। इस व्यथा को कवि ने अकेले भोगा है। उसने वेदना का विष पीकर भी हताश अनुभव नहीं किया है। वह तो अपने ही छालों पर दर्द की गाँठ खोलता रहा है। जीवन के विविध अभाव, अतृप्तियाँ, विवशताएँ और उनसे जन्मी स्थितियाँ उसकी कविताओं में बिखरी पड़ी हैं। एक पूरी तरह से बंद समाज की पीड़ा स्मृति के कब्जों सी कसी हुई है। कवि जब कहता है कि "एक मैं ही हूँ कि मेरी साँझ चुप है/एक मेरे दीप में ही बल नहीं हैं/एक मेरी खाट का विस्तार नभ-सा/क्योंकि मेरे शीश पर आँचल नहीं है/"[1] तो उसकी एकाकी पीड़ा की सघनता को हृदयंगम किया जा सकता है। 'एक प्यासी आत्मा का गीत' कवि की अवचेतन में दबी पड़ी आकांक्षाओं का ही अभिव्यंजन है। कवि अनुभव करता है कि उसका हर घाव बढ़ता ही रहा है क्योंकि उसे भरने के

1. काठ की घंटियाँ पृ० 389

लिए किसी ने भी उस पर प्यार का मरहम नहीं लगाया है। फलतः कवि चेतना में समाया हुआ दर्द संगीत बनकर फूट पड़ा है। उसका 'दर्द थिरता नहीं है'; बढ़ता ही जाता है और वह अकेलेपन के बोझ से दबता चला जाता है। 'विगत प्यार' कविता की मूल संवेदना यही है : "एक थका हुआ, नम सुगंधित झौंका/क्यारियों से होकर चला गया/एक टूटा हुआ नन्हा बेजुबान फूल, अनजानी धरती पर छूट गया क्या कोई यहाँ फिर आया था, इन झूलती लताओं की टहनियों को, देखो, आपस में कोई उलझा गया है/इन कँटीली जंगली झाड़ियों को कसकर, देखो, बाड़े से कोई बाँध गया है / क्या कोई यहाँ रहा था /..............क्या किसी ने यहाँ प्यार की बातें की थीं, [1]

सर्वेश्वर की दर्दपरक कविताओं में जिन्दगी का निजी कोना भी-ऐसा कोना जो निपट निजी होता है; जगह पाये हुए हैं। भोग-प्रक्रिया, प्रेमाश्रम बने कमरों की गंध, अतृप्तियाँ, कुंठाएँ, स्मृतियाँ, भीतर के हिस्से तक को चटखा देने वाला दर्द---आत्मदर्द सर्वेश्वर की कविताओं में मौजूद है। पूरी ईमानदारी से इस आत्मवेदना को शब्दों के हवाले किया गया है। कवि इस व्यथा से आक्रान्त होकर कभी तो यह कह गया है कि 'दर्द के इस महासागर से कहो इतना न चीखे' और कभी उसके दर्द के पृष्ठ उड़ उड़ कर बिखर गये हैं, कभी उसका दर्द उससे कहीं अधिक बड़ा है तो कहा 'दर्द शेष रह गया है पर दर्द जगाने वाला नहीं रहा की स्थिति है। दर्द का यह वह रूप है जिसमें व्यक्ति भीतर ही भीतर टूटता जाता है और धीरे-धीरे उसके अस्तित्व का परिचायक मात्र दर्द रह जाता है। इसी दर्द के साथ निराशा, हताशा और अवसाद भी व्यक्त होते रहते हैं। सर्वेश्वर की कविताओं में दर्द की ये सभी स्थितियाँ मिलती हैं। 'बाँस का पुल' में दर्द निराशा पैदा करता है · कभी स्मृतियों के रूप में और कभी वही पराजय बनकर। 'एक सूनी नाव' की स्थिति भी ऐसी ही है। वहाँ भी उसके 'भीगते अवसाद से हवा श्लथ होती है; हथेली की रेख काँपती है और लहर की तरह खो जाती है। वास्तविकता यह है कि सर्वेश्वर की व्यथा अकेलेपन की व्यथा है। उनकी अधिकांश कविताओं का निष्कर्ष यह है कि वह अकेला है; उसके साथ कोई नहीं है; उसकी बाँह थामने के लिए कोई तैयार नहीं है। अत. उसकी जिन्दगी न केवल शब्दहीन हो गई है; अपितु बदरंग और अर्थहीन भी हो गई है। वह भीड़ में रहकर भी अकेला है; सब कुछ समाप्त हो जाने पर जो पीड़ा बोध उभरता है वही सर्वेश्वर के भी पास है :

1. "रंग बदरंग हुआ/अर्थ सब खो गया/आकर्षण-भरा/अस्तित्व
   व्यर्थ हो गया/चिपका हूँ गले पोस्टर-सा दीवार से/

1 काठ की घंटियाँ पृ० 296

करूँ फिर शिकायत कैसे बहती बयार से/"[1]

2 "हर ओर दरवाजे/या बंद मिलते हैं/हर यात्रा शुरू होने के पहले ही समाप्त हो जाती है/[2]

3 "होगी कहीं चाँदनी/होगा कहीं प्यार/धूल केवल धूल/मेरा संसार/ ....[3]

4. "हर क्षण गहन होती हुई निराशा ताल के जल-सी सामने फैल जाती है जिसमें खिंच जाती है/मेरी निस्तेज बेडौल मुखाकृति"/[4]

5. 'आह ! स्मृति की अजानी राह/दर्द अजगर सा/निकलकर उगल देता है"/[5]

6. मुझसे घृणा करती हैं/मेरी ही परछाइयाँ/दर्द यह किससे कहूँ"[6]

जो भी हो इतना निश्चित है कि कवि की वेदना उसे अर्थहीन और अस्तित्व-हीन बना गई है पर उसका विवेक उसके हाथ से नहीं छूटा है। भले ही निराशा कितनी ही गहन हो; उसकी दुनियाँ में कितनी ही धूल जमा हो गई हो और चाहे उसकी परछाँई तक उसकी न रही हो, पर दर्द उसके साथ रहा है। उसका यही चिर साथी दर्द उसे नये-नये सृजन की राहें बतलाता रहा है; उसे हर पराजय और निराशा के बाद एक विश्वास-किरण सौंपता रहा है। कारण दर्द न तो बुरा होता है और न उपेक्षणीय ही होता है; बशर्ते गहन पीड़ा के क्षणों में व्यक्ति आत्मजाग्रत रहे। सर्वेश्वर की चेतना भले ही दर्द के महासागर में ऊभ-जूभ करती रही हो पर कवि की आत्मजागरूकता उसे विवेक और शक्ति देती रही है। यही वह भूमिका है जहाँ दर्द दृष्टि को उजली करता है और व्यक्तित्व का परिशोधन करता है। सर्वेश्वर का दर्द भी उन्हें क्रमशः परिष्कृत करता गया है। 'काठ की घंटियाँ' में ही वे यह अनुभव कर गये हैं : "सत्य की चोट बहुत गहरी होती है/इसी से सच्ची चोटें बाँटता हूँ/.........यदि दुर्बलता दर्प में बदल जाये/व्यथा अन्तर्दृष्टि दे/तो मैंने अपना कवि-धर्म पूरा किया"/दर्द की वास्तविक गहराई का अनुभव और व्यथा से अन्तर्दृष्टि के विकास की यही ललक शक्ति बनकर 'बाँस का पुल' की अंतिम कविताओं में पराजय को जय मे बदल देती है। वह व्यथा का हाथ पकड़कर अंधकार

---

1. बाँस का पुल पृ॰ 62
2. 'एक सूनी नाव' पृ॰ 36
3. गर्म हवाएँ पृ॰ 76
4. बाँस का पुल पृ॰ 12
5 वही पृ॰ 10
6 वही पृ॰ 17

मे भी आगे बढ़ जाता है। 'एक सूनी नाव' में भी वह इसी शक्ति के बल पर हर थकान से नयी स्फूर्ति और दर्द से नया अर्थ पा लेता है। यही वह शक्ति है जो उसके मन मे यह विश्वासमिश्रित विजय पैदा करती है : "मैं जिन्दा रहना चाहता हूँ/ ''''हर मोर्चे पर अकेला दूसरों के लिए अधिक समर्थ/और अपने लिए अधिक सार्थक बनता हुआ"/ अधिक समर्थ और अधिक सार्थक होने का यह भाव व्यथा द्वारा परिशोधित व्यक्तित्व की अनुभूति है—वह अन्तर्दृष्टि है जो पीड़ा-बोध से जन्मी है। गर्म हवाओं के थपेड़े खाकर यही व्यथा जनित अन्तर्दृष्टि सर्वेश्वर से यह कहला लेती है कि "नहीं-नहीं प्रभु तुमसे शक्ति नहीं माँगूगा/अर्जित करूँगा मैं उसे मरकर-बिखरकर/''''''''दुर्गम पथ तेरे हों/थके चरण मेरे हों/" 'जंगल का दर्द' मे भी यही स्थिति है। कहने का तात्पर्य यही है कि सर्वेश्वर की पीड़ा मात्र निराशा और कमजोरी का पर्याय नहीं है। वह उनके व्यक्तित्व को परिशोधित करती हुई शक्ति बनकर एक पीड़ा दर्शन की भी जन्मदात्री है।

सर्वेश्वर की व्यथा-संवेदना का एक पक्ष वह है जो युगीन स्थितियों की जटिलता, परिवेश व्यापी विसंगतियों और अमानवीय संदर्भों की प्रचुरता के कारण अभिव्यक्त हुआ है। आजादी के बाद के वर्षों में साम्राज्यवादी शक्तियों और उपनिवेशवादी चरित्रों ने अमानवीयता, पशुता, मिथ्या दंभ और असांस्कृतीकरण को बढ़ावा दिया है। प्रजातंत्र तानाशाही का पर्याय बना है; मनमानी करने का माध्यम बना है। फलतः भूख, बेकारी, बेरोजगारी और भ्रष्टाचार बढ़ा है। ये स्थितियाँ कवि की व्यथा को बढ़ा गई हैं। निजी पीड़ा से परिशोधित कवि का व्यक्तित्व सामाजिक पीड़ा से कराह उठा है। व्यक्ति की त्रासदी; समाज का खोखला रूप और प्रशासन के सुनहरे पर मिथ्या वायदों से पीड़ित-शोषित आदमी का दर्द सर्वेश्वर का दर्द बन गया है। इस पीड़ा को सर्वेश्वर के प्रत्येक संग्रह में बखूबी देखा जा सकता है। 'गर्म हवाएँ', 'कुआनो नदी' और 'जंगल का दर्द' में तो यह पीड़ा बखूबी मुखरित है। जहाँ कवि अन्तर्मुखी होकर इस पीड़ा को भोगता है वहाँ वह परिवेश में फैली पीडा का प्रतीक बन गया है और जहाँ यह प्रत्यक्ष और साफ है वहाँ वह कभी आक्रोश से; कभी व्यग्य से और कभी विश्लेषण से पीडा को अभिव्यक्त करता रहा है। पाशविक शक्तियों से टकराते समय उसका सिर चौखट से भी टकराया है और उसकी पीड़ा सामाजिक व्यवस्था से भी उभरती गई है। ऐसी स्थितियों में वह अनुभव करता है : "चारों ओर हरहराती बाढ़ है/कमर तक पानी में, पीठ पर सन्दूक लादे खडा मैं/देख रहा हूँ सामने से/बहता हुआ सारा घर"/ '''' 'हर कुएँ का पानी यहाँ सड़ा हुआ है/हर तालमरी मछलियों से भरा है"/[1] इतना ही नहीं कवि की

---

1 कविताएं दो पत्नी की मृत्यु पर' और इस मृत नगर में' कविताएं

व्यथा-संवेदना में महानगरीय जीवन की वे स्थितियाँ भी हैं जहाँ मानव-मानव के सम्बन्धों में बिखराव आ गया है; मूल्य विकृत हो गये हैं और स्वार्थपरता व अवसरवादिता से पनपी विकृतियाँ जीवन को कुचल रही हैं। 'गर्म हवाएँ', 'कुआनो नदी' और 'जंगल का दर्द' की पचहत्तर प्रतिशत कविताओं में यही स्थिति अभिव्यक्त हुई है। 'इस मृत नगर में', 'स्थिति यही है', 'कैसी आँधी है यह', 'इस अपरिचित नगर में', 'पाँच नगर प्रतीक', 'कुआनो नदी', 'गोबरैले', 'गरीबी हटाओ', 'बाँसगाव', 'स्थिति यह', और 'जंगल का दर्द' की एक दर्जन से अधिक कविताओं में सामाजिक स्थिति व विविध विसंगतियों को झेलता हुआ कवि व्यथा से बोझिल दिखलाई देता है। कवि की यह व्यथा इतनी बढ़ गई है कि उसे कहने के लिए शब्द ओछे पड़ गये है। सम्बन्धों के टूटने और जीवन की विविध स्तरीय जटिलताओं मे जो पीडा जन्मी है; वह पाठक को भीतर तक छू लेती है। जिस संत्रास को कवि अनुभव कर रहा है; उसे मिटाने के लिए कुछ न कर पाने से उत्पन्न असामर्थ्य अनेक कविताओ मे रचनात्मक शैली में व्यक्त हुई है। निजी पीड़ा से यदि कवि छटपटाया है तो सामाजिक पीड़ा से असामर्थ्य का अनुभव करता हुआ भी कवि शक्तिहीन नही हुआ है।

वस्तुत: सर्वेश्वर की पीड़ा सच्ची है। वह आरोपित और कृत्रिम नहीं है। उसे कवि के अनुभव का यथार्थ भाष्य कहा जा सकता है। सर्वेश्वर ने यह प्रमाणित कर दिया है कि निरंतर बढ़ती हुई पशुता; अमानवीयता और विकृतियों ने जीवन को अर्थहीन बना दिया है। कवि ने इस अर्थहीनता का पूरा और सच्चा भूगोल पूरे रग-रेशों के साथ खुलासा कर दिया है। कवि मात्र व्यथानुभव नहीं करता है; वह तो इन स्थितियों के खिलाफ एक जिहाद भी छेड़ रहा है। सर्वेश्वर मूल्यों के कवि है इसी से उनका मानस मूल्यहीनता की स्थिति से व्यथित है। उनकी एक-एक कविता एक-एक यथार्थ स्थिति का त्रासद बिम्ब प्रस्तुत करती है। वर्तमान जिन्दगी को झेलते हुए मनुष्य की स्थिति यह हो गई है :

1. "दृष्टियाँ असंख्य मिलती हैं/लेकिन किसी भी पुतली में/
मुझे अपना अक्स नहीं दीखता/हर सम्बन्ध की सीढ़ी से/
उतरने के बाद, मैं और अकेला छूट जाता हूँ/ ......
बड़ी से बड़ी बात/हवा में धूल की तरह उड़ जाती है/
प्रार्थनाघरों के घंटे तक/जंगली जानवरों की तरह/
दुर्गन्ध सूँघते मिलते हैं/....सम्बन्ध जिन्हें मैं जीता हूँ/
मर चुके हैं/....यहाँ ऊँची-ऊँची इमारतें/आश्रय के लिए
नहीं आत्मभोग के लिए हैं   इस मृत नगर में]

2. 'नाखून दिन पर दिन बढ़ते जा रहे हैं/और जमीन उसी अनुपात में
   बंजर होती जा रही है/ ....
   मैं भागता हूँ और देखता हूँ : यह खेतिहर मजदूर
   भूख से मर गया यह चौपाये के साथ बाढ़ में बह गया/
   यह सरकारी बाग की रखवाली करता था/लू में टपक गया/
   यह एक छोटे से रोजगार के सहारे/जिंदगी काट लेना चाहता था/
   पर जाने क्यों रेल से कट गया/.... ...
   क्यों हम आदमी को/आदमी की तरह नहीं देख पाते/
   क्यों ये सब फाइलों मे मरे पड़े है ? क्यों हर हाथ टूटा है/
   क्यों हर पैर कटा हुआ है/क्यों हर चेहरा मोम का है/
   क्यों हर दिमाग कूड़े से पटा है/क्यों यहाँ कोई जिन्दा नहीं है ?"

[कुआनो नदी]

इन उद्धरणों में कवि की पीड़ा का आधार विकृत मानव मूल्य, नगरबोध की विसंगतियाँ और निरंतर बढ़ती पाशविक वृत्तियाँ है जिनके कारण मानवीय सम्बन्धों मे दरार पडती जा रही है। एक मूल्यवादी कवि की पीड़ा इसी से अधिक गहरी और अधिक सच्ची अभिव्यक्ति पा सकी है। सर्वेश्वर की राग संवेदना के वृत्त मे वेदना का अभिव्यंजन इसलिए अधिक है कि ये जीवन के सीधे साक्षात्कार से उत्पन्न स्थितियों के भोक्ता कवि हैं। उनके काव्य में पीड़ा का एक-एक बिम्ब उनके अनुभूत का बिम्बांकन हैं। यह वह पीड़ा है जिसके गणित को वही हल कर सकता है जिसने जीवन की तंग-चक्करदार गलियों में फैले अँधेरे; परिवेश व्यापी भ्रष्टता, अमानवीयता और मानव-सम्बन्धों में आई विकृतियों का साक्षात् अनुभव किया हो।

वैचारिक संवेदना

सर्वेश्वर के काव्य में जो रोमानी तत्व हैं, उन्हीं से उनकी वैचारिक संवेदना का विकास हुआ है। रोमानी संदर्भों की असफलता और जीवन के कटु-तिक्त यथार्थ ने उनको एक ऐसी स्थिति में ला खड़ा किया जो वैचारिक संघर्ष को जन्म देती है। जीवन की वास्तविकताएँ जब हमारे सामने आ खड़ी होती हैं तब हम सोच में पड जाते है और जब तक कोई सही राह नहीं मिलती तब तक हम एक बेचैनी अनुभव करते रहते हैं। बेचैनी का यह अनुभव और इससे विकसित संवेदना ही कवि के वैचारिक संसार का ताना-बाना तैयार करती है। सर्वेश्वर की वैचारिकता भी इसी स्थिति से उत्पन्न हुई है। 'बाँस का पुल' की कविताओं मे इस वैचारिकता के लिए जमीन तैयार हुई है और 'एक सूनी नाव' में इसी जमीन को कुरेदा गया है। फिर 'गर्म हवाएँ' से लेकर 'जंगल का दर्द' तक की कविताओं में यही वैचारिकता विकसित होती गई है ... की वैचारिकता एक विश्व-दृष्टि अथवा कहूँ कि

समग्र जीवन-दृष्टि लेकर उनकी कविताओं में अभिव्यक्त हुई है। निजी जीवन के संघर्ष और बाह्य परिवेश में फैली सच्चाइयों के कटुतम घूँट पीकर सर्वेश्वर ने जिस चिन्तन को वाणी दी है वह एक जागरूक और मूल्यान्वेषी कवि का चिन्तन है। असल में सर्वेश्वर की वैचारिकता का मूल मंत्र यह है कि वे अराजकता, विशृंखलता, विकृति अस्तित्वहीनता और सड़ाँध को कम करके स्वस्थ जीवन-दृष्टि के आकांक्षी हैं। वे स्वतन्त्र चिन्तन के हामी; 'मुक्तिकामी, स्वतन्त्रता, स्वायत्तता, निजता और अस्मिता के कायल; जिजीविषा के साथ दायित्व बोध के समर्थक, समाजव्यापी असमानता और मानवीयता के ध्वंस पर विद्रोह और जनक्रांति द्वारा मानवीयता के प्रस्थापक; पूँजीवादी, सत्तावादी और अवसरवादी नीतियों के कटु आलोचक, पार्टियों के खेमों में कैद चिन्तन से दूर और पराश्रित मनोवृत्तियों का तिरस्कार कर आत्म-शक्ति के महत्व-निर्धारक और 'मौन रहो और प्रतीक्षा करो' की धीरे-धीरे वाली नीतियों के विरोधी चिन्तक के रूप में हमारे सामने आये हैं। एक वाक्य में सर्वेश्वर की वैचारिकता का प्रमुख सूत्र समाजवादी चिन्तना के आसपास का है। एक मूल्यान्वेषी कवि होने के नाते सर्वेश्वर अपनी कविताओं मे एक ऐसी समग्र जीवन-दृष्टि के विकास के आकांक्षी प्रतीत होते हैं जिससे मनुष्य मनुष्य और जीवन जीवन बना रहे।

सर्वेश्वर के वैचारिक संसार में पराश्रित मनोवृत्ति कहीं नहीं है। वे अपनी स्वतंत्र शक्ति के सहारे आगे बढ़ने वालों में से हैं। अपनी शक्ति का सम्बल लेकर आगे बढ़ने में भले ही कुछ भी सहना पड़े; कितनी ही खाइयाँ-खंदकें पार करनी पडे और कितने ही अवांछित सघर्षों की राह से गुजरना पड़े, परवाह नहीं। इस तरह की यात्रा का कारण यह है : "लीक पर वे चलें जिनके/चरण दुर्बल और हारे हैं हमे तो हमारी यात्रा से बने/ऐसे अनिर्मित पंथ प्यारे हैं"/ ऐसे अनिर्मित पथों का यात्री सर्वेश्वर मानता है कि शक्ति बाहर नहीं; भीतर होती है। अत जिन्दगी को सार्थकता के सोपानों तक ले जाने के लिए दुर्गम रास्तों से होते हुए शक्ति अर्जित करनी चाहिये। "नहीं नहीं प्रभु तुमसे शक्ति नही माँगूगा/अर्जित करूँगा उसे मरकर बिखरकर/आज नहीं कल सही आऊँगा उबर कर/" जैसी पंक्तियों मे आत्मशक्ति जागृत करने और पराश्रित मनोवृत्ति के परित्याग की ही बात कही गई है। 'आऊँगा उबर कर में जो विश्वास है, वह भीतर की शक्ति की देन है और यह आंतरिक शक्ति का ही परिणाम है कि कवि उस सुख को नकारता है जो दूसरे के चरणों पर गिरने से मिलता है : 'चरणों पर गिरने से मिलता है जो सुख, वह नहीं चाहिए"/ वस्तुतः सर्वेश्वर के चिन्तन का यह निष्कर्ष उस दृष्टि का परिणाम है जो मनुष्य को हर हाल में स्वतन्त्र, स्वायत्त और आंतरिक शक्ति-युक्त देखना चाहती है

सर्वेश्वर के चिन्तन में मुक्तिकामना का स्वर भी साफ़ है। प्रश्न यह है कि वे किस तरह की मुक्ति के आकांक्षी हैं? किससे मुक्ति चाहते हैं? मैं समझता हूँ एक स्वतन्त्र चेता कलाकार की हैसियत से सर्वेश्वर उस व्यवस्था से मुक्ति चाहते है जिसमें हम जी रहे है या जीने के लिए विवश है। यही वह मुक्ति है जो हमे स्वायत्तता; निजता और अस्मिता से जोड़ सकती है। मुक्तिबोध ने जिसे विश्व-दृष्टि कहा था वही सर्वेश्वर की समग्र जीवन-दृष्टि है और समग्र जीवन-दृष्टि में जन सामान्य भी शामिल है। इस प्रकार सर्वेश्वर की वे तमाम कविताएँ मुक्तिकामना के स्वरो से वलयित हैं जिनमें जनजीवन के लिए जीवनादर्शों, मूल्यों और प्रतिमानों की तलाश की गई है। सर्वेश्वर की मुक्ति व्यापक अर्थ लिए हुए है। वे उस समस्त परिवेश और व्यवस्था तन्त्र से मुक्ति चाहते हैं जो भ्रष्ट राजनीति, कलुषित समाज, शिथिल प्रशासन, जीवनव्यापी जडता–अंधता और निष्क्रियता का पर्याय बना हुआ है। मुक्ति की यह कामना सर्वेश्वर में प्रारम्भ से ही मिलती है, पर 'कुआनो नदी' और 'जगल का दर्द' में यह काफी स्पष्ट है। 'जंगल का दर्द' में तो कवि साफ़ कह देता है : "चिडियों को लाख समझाओ/कि पिंजड़े के बाहर/धरती बहुत बड़ी है, निर्मम है/…… फिर भी चिड़िया मुक्ति का गाना गायेगी/मारे जाने की आशंका से भरे होने पर भी/पिंजडे से जितना अंग निकाल सकेगी निकालेगी हरसूँ ज़ोर लगायेगी/और पिंजड़ा टूट जाने या खुल जाने पर उड़ जायेगी"/[1] समकालीन यथार्थ और त्रासद परिवेश की भयावहता के निरंतर बढ़ते जाने का कारण यही है कि सत्ताधीश मदांध है; व्यवस्था भ्रष्ट है और मनुष्य कुत्ताधर्म को अपना रहा है। इससे मुक्ति जरूरी है और वह तभी संभव है जब मनुष्य चैतन्य और एकजुट होकर सत्ता के भेड़िए को भगाने के लिए चेतना की मशाल जलाये, उसको सुर्ख आंखो से देखे। अब मुक्ति का यही एक मार्ग है : "इतिहास के जगल में/हर बार भेड़िया माँद से निकाला जायेगा/आदमी साहस से एक होकर/मशाल लिए खड़ा होगा।"[2] वस्तुत: शोषण और सत्ता की मदाधता को नष्ट करके ही मुक्ति मिल सकती है—स्वायत्तता हासिल हो सकती है। इसके लिए यह भी जरूरी है कि इन्सान टुकड़खोरी की आदत को छोड़े और मानवीय गरिमा-बोध को जाग्रत करे क्योंकि कुत्ता आदत से टुकड़खोर है और टुकड़खोरी के रास्ते बंद करके ही मुक्ति का द्वार खुल सकता है।

सर्वेश्वर की वैचारिकता का यह रूप जिसमें मुक्तिकामना का संदर्भ प्रबल है, यह भी संकेत करता है कि कवि विद्रोह और क्रान्ति को आवश्यक समझता है। 'कुआनो नदी' व 'जंगल का दर्द' में तो यह चिन्तन स्पष्ट है ही 'गर्म हवाएँ' में भी

---

1. जंगल का दर्द पृ० 67

2 वही पृ० 31

इसकी गूँज है। वहाँ कवि उस सबसे मुक्ति चाहता है जो एक गर्म सलाख की तरह उसके दिल और दिमाग मे घुसा हुआ है और इसीलिए कहता है कि "अब तुम मुझे घेरना छोड़ दो, मुझ पर खून सवार है/मैं उसकी घात मे हूँ, कल उसका आखिरी इतवार है"/[1] कोरी भावुकता, करुणा, कायरता और समूचा रोमांस जिन्दगी को कैद कर लेता है और परिस्थितियों की तेज आँधी आज मनुष्य को क्रांति व विद्रोह की प्रेरणा दे रही है। अतः मुक्ति अनिवार्य हो उठी है। संदर्भ और भी बहुत है, किन्तु इनसे यह सिद्ध हो जाता है कि सर्वेश्वर की विचारधारा में मुक्ति कामना का स्वर न केवल स्पष्ट है; अपितु सघन भी है। ध्यान रहे यह मुक्तिकामना ऐसी नहीं जो निजी हो या अकेले अपने लिए काम्य रही हो। यह तो वह मुक्ति है जो पूरे समाज की मुक्ति से सम्बद्ध है।

सर्वेश्वर की वैचारिकता मे मूल्यान्वेषण का रंग काफी गहरा है। मैंने कहा है कि सर्वेश्वर मूल्यान्वेषण के कवि हैं। इस मूल्यान्वेषी चिन्तक की सारी परेशानी ही यह है कि दुनियाँ बढ़ रही है और आदमी की दिल उसी अनुपात में छोटा हो रहा है। परिणामतः न कहीं कोई सम्बन्ध रह गया है; न मानवता और न करुणा ही शेष रह गई है। सर्वत्र एक अराजक स्थिति है। कवि इस स्थिति से केवल क्षुब्ध नहीं है। वह तो किन्हीं ऐसे मूल्यों की तलाश करना चाहता है जिससे आम आदमी का जीवन जीवन बना रहे। वह असमानता, अमानवीयता और स्वार्थपरता के ध्वंस पर मानवीय मूल्यों की पताका फहराना चाहता है। अपनी इसी चाहत को सफल होते देखने के लिए वह विद्रोह की बात करता है और चाहता है कि व्यवस्था बदले, व्यवस्था के साँपों, भेड़ियों और कुत्तों को कुचलने के लिए सभी एकजुट हों और उस अवसरवादी व चापलूसी वृत्ति का मुँह कुचल दें जिसने हमसे जीने का अधिकार छीन लिया है; हमारी स्वतन्त्रता अपहृत करली है और हमें इस बियावान जगल मे भटकने को छोड़ दिया है। किसी भी परवर्ती संग्रह को उठाकर देख लीजिए कवि की इस मूल्यान्वेषी चिन्तना के स्वर आसानी से मिल जायेंगे। 'कुआनो नदी' तो इसका सशक्त प्रमाण प्रस्तुत करने वाली कृति है। कवि जब कहता है कि "तेजी से इमारतों की बगल से गुजर जाता हूँ/जिन पर 'सत्यमेव जयते' को खरोंच कर/लिखा हुआ है : 'सब चलता है'/ ··· मैं भागता हूँ और देखता हूँ/मैं यह मानना नहीं चाहता/कि नदी के पार कुछ नहीं है सिवा लाशों के/······क्या आधी ज़िंदगी मैने यही पहुँचने के लिए सर्फ की ? मैं सोचता हूँ और भागता हूँ"/ तो उसकी वैचारिक संवेदना का मूल्यान्वेषी रूप साफ समझ मे आने लगता है। यह मूल्यान्वेषी चिन्तन जहाँ कवि की आस्था और जिजीविषा को जाहिर करता है वहीं उसके कवि-कर्म को दायित्व बोध से भी जोड़ देता है।

---

1 गर्म हवाएँ पृ० 85

जनक्रान्ति के प्रेरक और सामाजिक दायित्व बोध से युक्त सर्वेश्वर की समस्त चिन्तना समाजवादी चिन्तना के ही रूप को प्रकट करती है। उन्हें धीरे-धीरे मौन रहकर प्रतीक्षारत रहने वाली नीति पसंद नहीं है। उनकी धारणा है कि धीरे-धीरे कुछ नहीं होता है, सिर्फ मौत होती है। क्रांति की आग धीरे-धीरे की नीति से शांति यात्रा में बदल जाती है और सत्ताधीश 'मौन रहो और प्रतीक्षा करो' का सुनहरा सपना सुनाते हुए जनता और जीवन को न केवल छलते हैं; अपितु एक कायर संस्कृति को भी प्रोत्साहित करते हैं। स्वर्गीय राममनोहर लोहिया का भी यही मत था कि यदि कोई कौम सचमुच जिन्दा है तो वह इंतजार नहीं करती है। ठीक भी है इंतजार जड़ता है; ठहराव है और सबसे बड़ा शत्रु है। इसी चिन्तना के आलोक में कवि की ये पंक्तियाँ पढ़ी जा सकती है :

1. "धीरे धीरे कुछ नहीं होता/सिर्फ मौत होती है/...... उस देश का मैं क्या करूँ/जो धीरे-धीरे लड़खड़ाता हुआ/मेरे पास बैठ गया है/ ......'धीरे-धीरे'—मुझे सख्त नफरत है इस शब्द से/........धीरे-धीरे एक क्रांति-यात्रा शव-यात्रा में/ बदल रही है/सड़ाँध फैल रही है/नक्शे पर देश के/"[1]
2. 'कंकड़ों में रेंग रहा है साँप/लाठियाँ मारने पर भी/वह सुरक्षित है/ क्या प्रतीक्षा करूँ जब तक वह समतल भूमि पर न आ जाये/ या अपना अस्त्र बदल दूँ/"[2]
3. "इंतजार शत्रु है/उस पर यकीन मत करो/वह जाने किन झाड़ियों/ और पहाड़ियों में/घात लगाये बैठा रहता है/उससे बचो/जो पाना है फौरन पालो/जो करना है फौरन करो"/[3]

धीरे-धीरे का यह दर्शन जिन्दगी को खाली कर देता है और मनुष्य अपनी असली स्थिति की पहचान ही भूल जाता है। अतः कवि इस बात पर जोर देता है कि मनुष्य चाहे तो अपनी स्थिति को बदल सकता है। प्रश्न सिर्फ चाहने का और अपने भीतर की कार्क खोलने का है : "स्थिति आसानी से बदली जा सकती है। केवल थोड़ी सी हरकत जरूरी है/तुम्हें हाथ बढ़ाना होगा/और अपने भीतर कहीं/ बोतल की कार्क खोलनी होगी/.... संकल्प से पहले/समझने की बात है/और जरूरत को साफ-साफ पहचानने की,'/[4] आज जिन्दगी भूखी है और आदमी है कि

1. गर्म हवाएँ पृ० 10–12
2. जंगल का दर्द पृ० 34
3 वही पृ 42
4 वही पृ 51 52

अपनी भूख भी मिटाने में असमर्थ है। सर्वेश्वर इस स्थिति से भी निष्कर्ष निकालते हैं और उनकी विचारणा यह फैसला देती है कि भूख से लड़ने के लिए खड़ा होना ही मानवीय सौन्दर्य है। अपनी भूख मिटाने के लिए बाज आहार पर झपटता है; साँप फन उठा लेता है; बकरी दो पैरों पर खड़ी होकर नन्हीं-नन्हीं पत्तियाँ खाती है, चीता दबे पाँव झाड़ियों में चलता है और तोता डाल पर उल्टा लटककर भी फल खाता हुआ अपनी भूख मिटा लेता है[1] तो फिर ऐसा क्या है कि आदमी अपनी भूख नहीं मिटा पाता है? जाहिर है कि वह आज संघर्ष से बचता है; कष्टों से दामन बचाता है। सर्वेश्वर उसे ही श्रेष्ठ समझते हैं जो संघर्षो के बीच से रास्ता निकालकर अपना जीवन जीता है। कायर होकर जीना कोई जीना नहीं है। सर्वेश्वर ने 'जंगल का दर्द' की 'यह घर' कविता में भी इसी चिन्तन को वाणी दी है।

सर्वेश्वर की उन कविताओं में भी उनकी वैचारिक संवेदना को देखा जा सकता है जो गरीबी, भूख और शोषण से व्यथित और मथित होकर लिखी गई है। परवर्ती सृजन में ऐसी कविताओं की कमी नहीं है जिनमें कहीं तो कवि व्यवस्था-तंत्र से बेचैनी अनुभव करता है; कहीं राष्ट्रीय-अन्तर्राष्ट्रीय स्थितियों से; कहीं विज्ञापन बाज शासकों से और कही निरंतर बढ़ती जाती पाशविकता से। यह व्यथा उसे नया चिन्तन देती है; नयी राहें दिखाती है। उसने यह भली भाँति समझ लिया है कि अब इस तरह काम नहीं चलेगा। हमें अपनी पद्धति बदलनी होगी और फौरन जिंदगी के लिए अपेक्षित और सही चिन्तन का सहारा लेना पड़ेगा। स्पष्ट है कि सर्वेश्वर का चिन्तन जीवन सापेक्ष है। उसमे न तो मात्र आवेग है और न कृत्रिमता। कारण; सर्वेश्वर की निगाह किसी एक व्यक्ति पर; एक समाज पर नहीं है। वह तो सब कुछ को देखती-समझती हुई चिन्तनपरक निष्कर्षों से जुड़ी हुई है। समग्र जीवन-दृष्टि से युक्त सर्वेश्वर की यह वैचारिक संवेदना न केवल व्यावहारिक है, अपितु जीवन सापेक्ष भी है।

समकालीन परिवेश से साक्षात्कार

सर्वेश्वर की काव्य-यात्रा का प्रारम्भ भले ही रोमांटिक हो; किन्तु वे अपने समय, समाज और परिवेश को कभी भी उपेक्षित करके नहीं चले हैं। परिवेश के प्रति सचेतन दृष्टि; बदलते माहौल के प्रति संपृक्ति और समकालीन घटना-प्रसगो व उनसे विकसित-उद्भूत स्थितियों के प्रति साझेदारी सर्वेश्वर की संवेदना का एक वृहत् और और उलेख्य संदर्भ है। समय और परिवेश के प्रति लेखक दो तरह से जुडता है : एक तो उसमें रहते हुए उसके प्रति सतर्क रहकर और कभी-कभार प्रति-

---

1 जंगल का दर्द पृ० 35–36

क्रिया व्यक्त करके और दूसरे उसका हिस्सा बनकर। जब रचनाकार परिवेश की सांस-सांस और धड़कन-धड़कन को अपने भीतर स्पंदित-आन्दोलित महसूस करता है तब उसके अनुभव सटीक और ईमानदार होते हैं। वर्तमान समय में यों तो किसी भी रचनाकार के लिए परिवेश और युग-जीवन से आँखें चुराकर लिखना संभव नहीं है पर सर्वेश्वर एक ऐसे कवि हैं जिन्होंने अपने परिवेश की नाड़ी की हर ध्वनि-प्रतिध्वनि को पकड़ा और समझा है। उन्होंने परिवेश के पल-पल परिवर्तित रूप-स्वरूप और रंग-ढंग को अपने भीतर भोगा है तथा उसकी हर मुद्रा से अपना रिश्ता कायम किया है। यही वजह है कि उनकी कविताओं में समकालीन परिवेश के बिम्ब साफ और सही उतरे हैं। उनकी कविताओं में जीवन के जो साक्षात्कृत संदर्भ हैं, वे न केवल कवि की संसिक्ति के गवाह हैं; वरन् जीवन की गहरी और प्रमुख समस्याओं से भी जुड़े हैं। ऐसा इसलिए कि वे सर्वेश्वर की सच्ची अनुभूतियों के परिणाम हैं। जितनी ईमानदारी सर्वेश्वर की प्रणयमूलक कविताओं में है उतनी ही गहरी वह उन कविताओं में है जो समकालीन परिवेश से प्रेरित-प्रभावित और संपृक्त होकर लिखी गई हैं। परिवेश का यथातथ्यांकन महत्वपूर्ण नहीं होता है। महत्वपूर्ण होता है वह जो परिवेश को जीकर व संवेदना का अंग बनाकर प्रस्तुत किया जाता है। सर्वेश्वर ने यही किया है। यही कारण है कि उनकी कविताएँ मात्र प्रतिक्रियाएँ नहीं है। वे तो कवि के मानस में निरंतर समाती जाती समकालीन दुनिया की 'एक्सरे प्लेट्स' है—भीतरी लिखावट है जो उसकी आंतरिक चेतना का संवेदनात्मक ज्ञान प्रस्तुत करती हैं।

सर्वेश्वर की कविताओं में स्वातंत्र्योत्तर भारत के मानचित्र के रंग हैं, वे चुनौतियाँ हैं जो हमारे सामने रही हैं; वे विचारणायें हैं जो हमने पाई है, वे समस्याएँ हैं जो हमारे लिए प्रश्न रही है और साथ ही वह वैज्ञानिक बोध है जिसने बाहरी सुविधाओं का जाल फैलाकर आदमी को भीतर ही भीतर निकम्मा भी बनाया है और अपने ही हाथों मरने के लिए भी प्रेरित किया है। भूख, बेकारी, निरतर बढ़ती हुई दुनियाँ, आदमी, उसके संकट और आंतरिक बाह्य संघर्ष, उसकी इच्छाएँ, शंकाएँ, पीड़ा और उससे जन्मी अनेक निरीह स्थितियाँ, शासन-तन्त्र, राजनैतिक प्रपंच; सत्ताधीशों की मनमानी; स्वार्थपरता, अवसरवादिता; शोषकीय वृत्ति, अधिनायकवादी आदतें, मिथ्या आश्वासन; उनके फलस्वरूप घटित हत्या-आत्महत्या, लूट-खसोट, आपाधापी, विवशता-परवशता, कृत्रिमता विकृत मनोवृत्तियाँ, सांस्कृतिक मूल्यों का विघटन, झूठा-मान-सम्मान, ईमान बेचकर भी जिन्दा रहने की कोशिश और अनगिनत विसंगतियाँ सर्वेश्वर की संवेदना में आकर सिमट गई हैं और कवि-मानस को बेचैनी से भर गई हैं। परिवेश के प्रति यह दृष्टि और यह जागरूकता यों तो सर्वेश्वर में प्रारम्भ से ही मिलती है, किंतु ९ स्तर पर इनकी अ गम हुवाए

से शुरू होती है—विशेषकर तब जब कवि मूल्यों का विघटन देखकर यह अनुभव करता है : "सड़ाँध फैल रही है—नक्शे पर देश के और आँखों में प्यार के सीमांत धुँधले पड़ते जा रहे हैं/और हम चूहों से देख रहे हैं"/या जब कवि की संवेदना के वृत्त से यह अनुभव प्रकट होता है : "लोकतन्त्र को जूते की तरह लाठी में लटकाये भागे जा रहे हैं सभी/सीना फुलाये"/इन पंक्तियों में परिवेश के जो बिम्ब हैं वे चलते-चलाते दिये गये 'स्टेटमेन्ट' भर नहीं हैं। इनके पीछे कवि का वह अनुभव बोल रहा है जो आजादी के बाद के वर्षों में उसने पाया है। सर्वेश्वर के चेतना कक्ष में जो ग्रहण-यंत्र लगा है, वह सब कुछ पकड़ लेता है और कवि की संवेदना उसे पचाकर जिस रूप में बाहर फेंकती है वही रचना बन जाता है। आजादी के बाद हमने जो पाया है उसमें एक ओर भूख है; खाली पेट बजाते लोग हैं तो दूसरी ओर आकर्षक झाकियाँ है जिनसे ढोंग और विश्वासघात की बदबू आती है क्योंकि जो नहीं है उसे दिखाया जाता रहा है और और जो है उसे छिपाया जाता रहा है; किन्तु कवि से उसे छिपाना मुश्किल है : "यह बंद कमरा सलामी मंच है/जहाँ मैं खडा हूँ—पचास करोड़ आदमी खाली पेट बजाते/ठठरियाँ खड़खड़ाते/हर क्षण मेरे सामने से गुजर जाते हैं/झाँकियाँ निकलती हैं/ढोंग की विश्वासघात की/बदबू आती है हर बार/एक मरी हुई बात की"/[1] परिवेश का यह बिम्ब न केवल प्रामाणिक और यथार्थ है, बल्कि अनुभूत स्थिति का रचनात्मक अंकन भी है। यह ऐसा बिम्ब नहीं जिसमें मात्र एक स्थिति का आलेख भर हो। यह तो वह सृजन है जो मूल्यों से जुड़ा है तथा जिसमें परिवेश व्यापी विसंगतियाँ रचनात्मक अनुभव बनकर प्रगट हुई हैं।

'स्थिति यही है' कविता में भी सशक्त बिम्बों के सहारे देश की स्थिति; विज्ञापनबाज शासकों के मिथ्यादर्शों; सत्ताधीशों के तथाकथित समाजवाद, पाशविकता और पैंतरा बदलते स्वभाव का दर्शन कराया गया है। साथ ही यह भी संकेतित है कि आज शासन नारे अधिक लगाता है; ढोल अधिक पीटता है, पर काम कुछ नही होता है। 'कुआनो नदी' और 'जंगल का दर्द' की कविताओं में तो समसामयिक परिवेश और उसमें साँस लेते जीवन के अनगिनत साक्षात्कृत अनुभवों को रचनात्मक शिल्प में ढालकर कहा गया है। 'कुआनो नदी' कविता में ही अनेक ऐसे प्रामाणिक सदर्भ हैं जो कवि की सचेतन दृष्टि की गवाही देते हैं : 'धूप में शहर की गंदगी/यहाँ साफ होती है/धोबी कपड़े धोते हैं आवारा औरतें सिगरेट पीती/गुनगुनाती-लिपटती अपने ग्राहकों के साथ घूमती है/रात में अक्सर कत्ल होते हैं/लाशें कई-कई दिनों की पाई जाती हैं।"[1]...... उसने सोच-समझकर हड़ताल की/अकेला छूट गया/

---

1 बाँस हवाएँ पृ० 15

2 कुआनो नदी पृ० 16

विक्षोभ, अपमान और गरीबी से/असहाय टूट गया, क्या कोई यहाँ जिन्दा है ?........ वर्तमान परिवेश में सर्वत्र भूख, गरीबी और पीड़ा व्याप्त है। सर्वेश्वर इस स्थिति को देखते हैं और शासन-तन्त्र को देखते हैं। इस देखने में ही वे देश की राजनीति और व्यवस्था के आचरण पर टिप्पणी करते हैं। इस दृष्टि से 'गरीबी हटाओ' 'गौबरैले', 'एक बस्ती जल रही है' और शरणार्थी जैसी कविताओं को पढ़ा जा सकता है। गरीबी हटाओ के स्थान पर गरीब हटाये जाते रहे हैं और नेता लोग व उनके प्रशासक पंचवर्षीय योजनाओं के आँकड़ों को लिए बैठे रहे। योजनाएँ बनती रहीं; फाइलें बढ़ती गईं और जिन्दगी विषम से विषमतर होती गई; किन्तु राज नेताओं ने कुछ भी करके नहीं दिया।

वर्तमान परिवेश में दुनियाँ की शक्ल ही बदल गई है। वह दुनियाँ न होकर बजर और ऊबड़/खाबड़ जमीन होकर रह गई है। कैसी विडम्बना है कि पेट भरना तक मुश्किल हो गया है। इस स्थिति से सर्वेश्वर का गहरा परिचय है। अतः कभी तो वे यह संकेत देकर काम चला लेते हैं कि यह वह दुनियाँ नहीं है जहाँ मेरे पूर्वज रहते थे और कभी स्थिति का विश्लेषण करते हुए साफ जुबान में कहते हैं :

> "कैसी विचित्र है यह जिन्दगी/जिसे मैं जीता हूँ/
> एक सड़ा कपड़ा जो फटता जाता है/ज्यों-ज्यो सीता हूँ/
> जब भी काढ़ने चलता हूँ/कोई सुन्दर फूल/एक पैबंद लगाता हूँ/
> और इस तरह बनाता जाता हूँ/एक लबादा जिसे हर बार ओढ़ने पर/
> थर्राता हूँ, फिर भी ओढ़ता जाता हूँ/"[1]

इन पंक्तियों में जिन्दगी की अव्यवस्था भी है; आत्मीयता भी है और त्रास (थर्राहट) भी है। यह जिन्दगी आज के हरेक आदमी की है। डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी ने ठीक ही लिखा है कि "प्रतीक जहाँ किसी भाव को जाग्रत करता है वहाँ बिम्ब अनेक भावों के संश्लेष और उनके विविध स्तरों को अनुभव में एक बारगी सक्रमित कर देता है। ...... जिन्दगी की विचित्रता के अंकन में कवि ने अपने बिम्बो को कुशल ढंग से विकसित किया है"।[2] आधुनिक व्यक्ति के जीवन में जितनी उसे आत्मीयता मिलती है उतना ही वह भयभीत हो जाता है : "जब मैं किसी को आवाज देता हूँ/वह चीखकर भाग जाता है/और जब स्वयं कोई मेरी ओर बढ़ता है मैं आँखें बंद कर लेता हूँ"[3] सचमुच पिछले वर्षों में जो बदलाव आया है; वह सारी

1. बाँस का पुल, पृ० 72
2. नयी कविताएँ : एक साक्ष्य पृ० 24
3 एक सूनी नाव पृ० 29

दुनियाँ को ही अपरिचित नगर बना गया है। मानवीय सम्बन्धों में दरार आ गई है और मनुष्य को हर जगह विनाश और विकृतियाँ ही नजर आती है : 'इस अपरिचित नगर में 'जहाँ भी मैं खड़ा होता हूँ/चारों ओर रास्ते/डाइनामाइट से उड़ते दिखाई देते है/जली हुई बारूद की एक तीखी गंध, हर ओर से मेरा पीछा करती है"/[1] इसी स्थिति का सशक्त अंकन 'इस मृत नगर में' कविता में हुआ है। परिवेश की तल्खी इससे ज्यादा और क्या होगी कि आदमी कहीं भी सुरक्षित नहीं है। उसे हर पल मृत्यु का भय सालता रहता है और मानवीय रिश्ते तो जैसे स्मृति मात्र रह गये है 'दृष्टियाँ असख्य मिलती हैं/लेकिन किसी भी पुतली में/मुझे अपना अक्स नही दीखता है/हर सम्बन्ध की सीढ़ी से उतरने के बाद/मैं और अकेला छूट जाता हूँ'/[2]

' हर कमीने चेहरे पर मुखौटा है/आस्था के नाम पर मूर्खता/विवेक के नाम पर कायरता/सफलता के नाम पर नीचता/मुहर की तरह हर व्यक्ति पर लगी हुई है/ हर कुएँ का पानी यहाँ सड़ा हुआ है/हर ताल मरी मछलियों से भरा है"[3] असल मे सर्वेश्वर जिन्दगी के बहुत भीतर तक प्रवेश करने वाले कवि है। उनका कवि मानवात्मा और जीवन-सागर के किनारे-किनारे ही टहलकर नहीं लौट आया है। वह तो काफी भीतर से सच्चाइयों के ये मोती ढूँढ कर लाया है। इसी से समकालीन परिवेश के इन बिम्बों में सच्चाई है---गहराई है।

यदि सर्वेश्वर परिवेश और जीवन से इतनी गहराई से न जुड़े होते तो उसे भोगकर बेचैनी अनुभव करते हुए यह कैसे लिख पाते कि "शब्द जिन्हें मैं बुनता हूँ/ मर चुके हैं/सम्बन्ध जिन्हें मैं जीता हूँ/मर चुके हैं/" 'जंगल का दर्द' मे तो परिवेश का यह साक्षात्कार और भी गहरा है : इस संग्रह की ज्यादातर कविताएँ हमारे समय की राजनैतिक, आर्थिक और सामाजिक स्थितियों की यथार्थ और प्रामाणिक अभिव्यक्ति बनकर आई हैं। यहाँ तक आते-आते तो परिवेश इतना भयावह हो गया है कि शब्द ही नहीं फूटते हैं; वेदना के तीव्रतम क्षणों में आँसू भी नहीं निकलते हैं; एक आक्रोश सामने आता है। कहीं सत्ता पर; कहीं सत्ताधीशों पर; कहीं जीवन के दबावों-तनावों पर और कहीं,जीवन, समाज और शासन की रीति-नीतियों पर सर्वेश्वर ने अपने अनुभवों से रोशनी डाली है। भेड़िया, साँप, तेन्दुआ जैसे प्रतीकों से कवि ने व्यवस्था के कर्णधारों की नीयत और भ्रष्टाचारी वृत्तियों को शब्दबद्ध किया है। भेड़िये को मारकर ही मुक्ति सभव है; वह तानाशाह है। अतः बड़ी योजना के साथ चल रहा है : "कंकड़ो मे रेंग रहा है साँप/लाठियाँ मारने पर भी सुरक्षित है।" आपात् स्थिति के दौर की

---

1 एक सूनी नाव पृ० 29
2. वही पृ० 36
3 वही पृ० 38

इन कविताओं में कवि ने संकेत दिया है कि एक काला तेंदुआ (सत्ता) सारे माहौल को ही अपने रंग में ढाल रहा है : "एक तेंदुआ सारे जंगल को/काले तेंदुए में बदल रहा है"/[1]

सर्वेश्वर ने जिस परिवेश के बिम्ब लिये हैं, उसमें गरीबी और भूख भी सर्वत्र व्याप्त है। यही वजह है कि अनेक कविताओं में उसे यथार्थवादी, किन्तु रचनात्मक शैली में व्यक्त किया गया है। 'कुआनो नदी' के अनेक चित्रों में तो यह है ही, 'भुजैनिया का पोखरा' और 'बाँस गाँव' जैसी कविताओं में भी यह व्याप्त है। 'भुजैनिया के पोखरा' में आई नारी के निर्धन, कारुणिक और बेबस जिन्दगी के वर्णन; 'चुपाई मारौ दुलिहन' की औरत जो इज्जत के मूल्य पर भी रोटी प्राप्त नहीं कर पाती और 'कुआनो नदी' के मल्लाह की निर्धनता और भूख के ईमानदार और प्रामाणिक चित्र पाठकीय संवेदना को हिला देते हैं। कवि ने लिखा है :

> "एक सूखे चीमड़ कंकाल का/रूखा झुर्रियों वाला हाथ/मेरे गालों से छू जाता है/
> लग्गी पर जोर लगा जब वह उथले पानी में/नाव ठेलता है तब उसकी
> एक-एक नस फूल उठती है/तट के कीचड़ में नाव/धीरे-धीरे जाकर
> फँस जाती है फिर एक बदबू-सी उठती है/और वह नमक और तेल
> लगी अपनी रोटी चुपचाप खाने लगता है"/[2]

कहने का तात्पर्य यही है कि सर्वेश्वर के काव्य में समसामयिक परिवेश का गहरा साक्षात्कार मिलता है। इस परिवेश का शायद ही कोई ऐसा संदर्भ हो जो उनकी कविताओं में न आया हो। कवि की परिवेश प्रतिबद्धता इतनी गहरी है कि वह छोटी से छोटी और बड़ी से बड़ी स्थिति को रचना-क्षण तक ले आया है। इतना ही क्यों अपने समय का सार्थवाह होने के कारण वह अन्तर्राष्ट्रीय स्थितियों तक से जुड़ा है। बांगला देश से आये शरणार्थियों; कम्बोडिया की घटनाओं और वियतनाम की समस्या को भी उसकी संवेदना के वृत्त में जगह मिली है। कम्बोडिया पर हो रहे अत्याचार भी उसे विचलित करते हैं और वह कह देता है : "जब जंगल जगल जल रहे हों आदमियों के/और बस्तियाँ औरतों बच्चों समेत/खाक में मिल रही हों/तब जानलो अब कुछ भी समझने को नहीं रहा"/[3]

व्यंग्य बोध

वर्तमान परिवेश अपेक्षाकृत अधिक जटिल है, किन्तु आदमी इस स्थिति में भी दो तरह के देखे जाते हैं : एक वे जो सोचते हैं कि जो भी हो रहा है ठीक है।

---

1. जंगल का दर्द पृ० 64
2. कुआनो नदी पृ० 23
3. वही पृ० 77

दूसरे वे जो सोचते हैं कि जो हो रहा है वह नहीं होना था। होना वही चाहिये जो नहीं हो रहा है। जो दूसरे प्रकार के लोग हैं, वे यदि अधिक संवेदनशील हुए तो जो नहीं हो रहा है; उसे होने देने के लिए उस स्थिति के प्रति विद्रोही हो उठते हैं जो सामने है। ऐसे ही व्यक्ति व्यंग्यकार कहलाते हैं। ये वे लोग होते हैं जिनकी सचेतन दृष्टि सूक्ष्म से सूक्ष्म स्थितियों को पकड़ लेती है। एक वाक्य में कहें ये लोग परिवेश, समाज और अपने समय के साथ पूरी तरह जुड़े रहते हैं। सर्वेश्वर एक ऐसे ही कवि है। वे जब देखते हैं कि मनुष्य का जीवन विकृतियों से भर गया है; शासन-तन्त्र भ्रष्टता की ओर बढ़ रहा है; स्वार्थी और अवसरवादी अपना उल्लू सीधा कर रहे है और आदमी आदमी नहीं रहा है; कृत्रिमता, मिथ्या दंभ; छलना और ढोंग का प्रतीक बन गया है तो व्यंग्य करने लगते हैं। नये कवियों मे सर्वेश्वर का व्यंग्य स्पष्ट, तीखा और बेधक होते हुए भी मात्र क्रोध नहीं है। उसमें कलात्मकता है। वह एक साथ ही तीखा; चमड़ी उधेड़ने वाला और आकर्षक है। उसके इस रूप के मूल में सर्वेश्वर की परिवेशबद्धता है। सर्वेश्वर का व्यंग्य एक साथ कई काम करता है। कहीं तो वह इन्सान की मूर्खताओं का पर्दाफाश करता है; कही वह सामाजिक कलुष की सफाई करता है; कही वह परिवेशव्यापी अनैतिकता और मिथ्याचारी प्रवृत्तियों का घिनौना रूप सामने रखकर सही मूल्यों की तलाश के लिए प्रेरित करता है और कहीं पर पतित-गलित; स्वार्थी और अनैतिक व्यक्तियों को उनकी शक्ल अपने शीशे मे दिखा देता है। वस्तुतः यह व्यंग्य एक 'सुगरकोटेड पिल' है जो जुबान पर रखते ही तो मीठी लगती है; पर थोड़ी घुलते ही अपनी कड़ुवाहट दिखाने लगती है। सर्वेश्वर के व्यंग्य की विशेषता ही यह है कि वह मात्र गुस्सा न होकर 'शिष्ट, शालीन और रचनात्मक है। वह आक्रमक तो है; पर उसकी आक्रमण शैली महीन है। जहाँ कहीं वह क्रोधमिश्रित है वहा परिस्थिति की जटिलता और क्रूरता ने ही उसे ऐसा बनाया है या कहें कि तब जब कवि व्यवस्था की अव्यवस्था या व्यक्ति की भ्रष्टता के कारण इन्सानियत को मरते देखता है। सर्वेश्वर ने प्रायः व्यंग्य के सपाट रूप को कम ही इस्तेमाल किया है। उनकी वाणी का कौशल उनको ऐसा करने से रोकता रहा है। प्रभावी व्यंग्य वह होता है जो आलंबन को खबरदार करते हुए सही स्थिति का अहसास करा सके। 'ड्राइडन' ने कहीं लिखा है कि "किसी व्यक्ति के निर्ममता से टुकड़े-टुकड़े कर देने में तथा एक व्यक्ति के सर को सफाई से धड़ से अलग करके लटका देने में बहुत अन्तर है। एक सफल व्यंग्यकार अप्रस्तुत एवं प्रच्छन्न विधान की शैली में अपने भावों को व्यक्त कर देता है। वह अपने क्रोध की अभिव्यक्ति आलंकारिक एवं सांकेतिक भाषा मे करता है ताकि पाठक अपना स्वतंत्र निष्कर्ष निकाल सके। व्यंग्यकार अपने व्यक्तित्व को व्यंग्य से अलग कर लेता है ताकि व्यंग्य कल्पना के सहारे अपने स्वतंत्र रूप में कला और साहित्य के क्षेत्र में प्रवेश कर सके।"[1]

---

1 डा० बरसाने लाल चतुर्वेदी आधुनिक हिन्दी कविता में व्यंग्य पृ० 21

सर्वेश्वर का व्यंग्य कलात्मक है। व्यंग्यपरक कविताओं में उनकी भाषा संतुलित व व्यंजक और शैली संक्षिप्तता और वक्रता लिये हुये है। कम से कम शब्दों में महीन व्यंग्य करने के कारण सर्वेश्वर की कविताओं में बावजूद दीर्घता के प्रभाव बना रहा है। ऐसा नहीं है कि-सर्वेश्वर हर स्थिति को व्यंग्य से कहते है। केवल वे स्थितियाँ; वे संदर्भ और वे व्यक्ति ही उनके व्यंग्य का आलंबन बने है जो अपनी अमानवीयता और विकृतियों के कारण या कृत्रिम व्यवहार के कारण असह्य हो गये हैं। सर्वेश्वर के व्यंग्य या तो मानवमूल्यों के विध्वंसकों पर हैं या राजनीति; राजनैतिक नेताओं की धनलिप्सा; उनकी कथनी और करनी में अन्तर पर है या धार्मिक आडम्बर पर हैं या अधिक से अधिक मनुष्य के उस स्वभाव पर हैं जिसे अपनाकर वह आदमियत को छोड़कर मछलियत की ओर बढ़ा है—बढ़ रहा है। आज मनुष्य सहज नहीं रहा है। वह निश्छलता छोड़कर कृत्रिम हो गया है। परिणामतः ऊपर से चिकनी-चुपड़ी बातें करता है और भीतर ही भीतर आपको काटने की योजनाएँ बनाता रहता है। मनुष्य की इस स्थिति पर व्यंग्य क ते हुए कवि ने लिखा है; "भीतर कौन देखता है/बाहर रहो चिकने/यह मत भूलो यह बाजार है सभी आये हैं बिकने/"[1] मनुष्य के जीवन में विकृतियाँ घर करती जा रही हैं। इन्सान इसान नहीं रह गया है। उसके पास न तो आस्था है और न उसकी वाणी और क्रिया मे कोई साम्य ही रह गया है। अतः संवेदनशील कवि व्यंग्य का सहारा लेता है; "बडी से बड़ी बात/हवामें धूल की तरह उड़ जाती है/प्रार्थना घरों के घंटे तक जगली जानवरों की तरह दुर्गन्ध सूँघते मिलते हैं/सफलता के नाम पर नीचता/मुहर की तरह हर एक व्यक्ति पर लगी हुई है/"[2] 'गरीबी हटाओ' कविता में प्रशासन की पद्धति पर; उसकी योजनाओं पर; नेताओं की मौकापरस्ती पर; धीरे-धीरे की नीति पर; लक्ष्यहीनता; व्यक्ति की व्यक्तित्वहीनता और विज्ञापन अधिक, काम कम की स्थितियों पर तीखे व्यंग्य किये हैं। कविता बड़ी जरूर है; पर उसमें जो परिवेश है वह भी तो विस्तृत और विविध है। अतः व्यंग्य भी विविधात्मक हो गया है। इतने पर भी वह अप्रभावी नहीं है। उसकी हर पंक्ति में भीतर तक हिला देने की क्षमता है। यही स्थिति 'एक बस्ती जल रही है' कविता की है। उसमें भी व्यंग्य की धार पैनी है और उसका आलंबन है हमारी कार्य-पद्धति या कहें कि नौकरशाही। जब कवि कहता है कि "ऐसा क्यों होता है/कि हम मृतकों की सख्या/अगूर के गुच्छों की तरह गिनते रह जाते हैं/और लाशें सड़ती रहती हैं/" या "एक बस्ती जल रही है/.........दूर बिना पहियों के दमकल खड़े हैं/और आग बुझाने वाले/बार-

---

1. एक सूनी नाव पृ० 57

2. एक सूनी नाव, पृ० 37

बार अपनी पोशाक/उतारते हैं और पहनते/" तो व्यंग्य कहीं बहुत गहरे तक बेध जाता है। 'कुग्रानो नदी' में अनेक कविताएँ ऐसी हैं जो प्रशासन के कोरे और सफेद झूँठ पर व्यंग्य करती हैं।

कहीं-कहीं तो सर्वेश्वर का व्यंग्य दो तीन वाक्यों में ही मारक बन गया है। 'बाँस का पुल' की 'प्रगति का गीत' कविता के हर बंद में देश की किसी न किसी स्थिति पर व्यंग्य किया गया है। सरकार सिर्फ योजनाएँ बनाती है और उसके कर्मचारी काम नहीं करते सिर्फ दिखाते हैं कि बहुत काम है. "चलन आराम हराम है/राह कठिन है/और कमाना नाम है/बना योजना/दिखा काम ही काम है"। सर्वेश्वर ने राजनैतिक दबाव और व्यस्था-तंत्र पर जमकर व्यंग्य किये हैं। ऐसा लगता है कि सर्वेश्वर का कवि राजनीति और शासनाध्यक्षों के सम्बन्ध में तो जैसे बिना व्यंग्य के कुछ बोलता ही नहीं है। 'गरीबी हटाओ' योजना में गरीब हटाये गये है,/कवि ने महसूस किया कि नेता लोग पंचवर्षीय योजनाओं के सहारे बड़ी–बड़ी बातें करते रहे हैं और देश की हालत बदतर होती चली गई है। अतः सर्वेश्वर समूची व्यवस्था पर व्यंग्य करते हुए कहते हैं : 'गौबरैले –काली चमकदार पीठ लिए/गन्दगी से अपनी-अपनी दुनियाँ रचते/ढकेलते आगे बढ़ रहे हैं/कितने आत्मविश्वास के साथ/ ....अच्छे से अच्छा शब्द फूलकर/गौबरैले में बदल जाता है,/और बड़े से बड़े विचार को/गन्दी गोली की तरह ठेलने लगता है—चाहे वह ईश्वर हो या लोकतंत्र"[1]/

अपने परिवेश के प्रति पूरी तरह ईमानदार सर्वेश्वर शासकों की उस प्रवृत्ति को भी बखूबी पहचानते हैं जिसके सहारे जनता का ध्यान कम रखा जाता है और ध्यान देने का विज्ञापन अधिक किया जाता है। स्थिति की यह विषमता तब और बढ़ जाती है जब देखने में आता है कि नीर क्षीर विवेकी अखबार भी वही लिखते हैं जो शासन चाहता है। इससे कवि को पीड़ा होती है और उसकी यह पीड़ा व्यंग्य बनकर प्रकट होती है : "मुकुट धारण किये/घूम रहा है/विज्ञापन बाज शासक/और योद्धाओं की पोशाक/बाजे वालों ने पहन रखी है/ " मैं जानता हूँ मेरे दोस्त/यह स्थिति हमको तुमको/किसी को भी नहीं है स्वीकार/पर अखबारों में इसके अतिरिक्त नहीं हैं कोई समाचार "[2] अखबारों और शासकों पर एक साथ किया गया यह व्यंग्य कवि की युग-संपृक्ति की सनद है। 'गर्म हवाएँ' सग्रह की 'पंचधातु' और 'बुद्धिजीवी' जैसी कविताओं में भी क्रमशः गांधीवादी सिद्धांतों की प्रासंगिता और बुद्धिजीवियों की स्थिति पर व्यंग्य किया गया है। 'पंचधातु' का व्यंग्य प्रभावित करता है। 'एक सूनी नाव' की 'व्यंग्य मत बोलो; किड़ किड़ कियाँ कियाँ, 'धन्त मन्त' और 'तर्क

---

1. कुआनो नदी पृ० 49–51
2 गर्म हवाएं पृ० 19

योग' जैसी कविताओं का व्यंग्य भी तीखा है। कहने का तात्पर्य यह है कि सर्वेश्वर का व्यंग्य तीखा, मारक और प्रभावी है। हाँ कुछ कविताओं में (जिनकी चर्चा पिछले अध्याय में की गई है) व्यंग्य हल्का है और उसे हल्का बनाने वाले कारक भी उन्ही कविताओं में मौजूद हैं। व्यंग्य करके उसकी व्याख्या करना न केवल व्यंग्य को हल्का बना देती है; अपितु कहीं-कहीं उसे समाप्त भी कर देता है। इतने पर भी यह माने बिना नहीं चल सकता कि अपने समकालीनो में सर्वेश्वर का व्यंग्य अपेक्षाकृत सर्वाधिक प्रभावी है। व्यग्य को प्रभावी बनाने के लिए जहाँ प्रतीकों से काम लिया है वहाँ वह अपना सानी नहीं रखता है। ऐसे स्थलों पर वह कमान से छूटे उस तीर की तरह हो गया है जो सीधे लक्ष्य पर चोट करता है। आज की राजनीति, राष्ट्रनीति, युद्धनीति और गुटबन्दियों में कैद होकर जन–मानस अनगिनत कुंठाओं का शिकार होगया है। इनसे मुक्ति पाना और स्वतंत्र होकर जीना आवश्यक है। सर्वेश्वर ने इस स्थिति का विरोध व्यंग्य-शैली में किया है। यही कारण है कि कवि द्वारा मानव-व्यक्तित्व की स्वतंन्त्रता के लिए किये गये व्यंग्य काफी तीखे हैं। 'सरकण्डे की गाडी' 'पीस पेगोड़ा,' 'कलाकार और सिपाही' तथा 'पोस्टर और आदमी' जैसी कविताओ मे व्यग्य न केवल गहरा है; अपितु मानवीय सवेदना का रचनात्मक संप्रेषण भी है। आज मूल्यों का विघटन हो रहा है। मानव-जाति विकृतियों की ओर जा रही है और भ्रामक आस्थाओं का विकास हो रहा है। इस सबके लिए वे शक्तियाँ जिम्मेदार है जो विभिन्न राजनैतिक दलों के रूप में उभरकर अपने निजी स्वार्थो की पूर्ति मे लगी हुई हैं। सर्वेश्वर इन सब स्थितियों से अवगत हैं। वे बड़ी मुस्तैदी से मानव-भविष्य को गुमराह करने वाले राजनीतिक दलों को अपने व्यंग्य का निशाना बनाते हैं :

"एक लाश खडी करके
दूसरी लाश उसके सर पर लिटा दी गयी है,
ताकि उसकी छाँह तले
ठण्डक से ऐंठे हुए
दो बेहोश जहरीले साँपों के फन
एक ही कमल की पंखुरी पर
सुलाये जा सकें"।[1]

सर्वेश्वर आज के युग में निरन्तर विघटित होते जाते मूल्यों को न केवल पहचानते हैं; अपितु उससे दुखी भी है। इस विज्ञापनी दुनियाँ में मनुष्य व्यर्थ प्रमाणित हो गया है और थोथे मूल्यों के प्रतीक पोस्टरों ने चारों ओर फैलकर तो

---

1 काठ की घंटियाँ पीस पगोडा पृ० 367

उसे और भी व्यर्थ और अस्तित्वहीन बनाकर छोड़ दिया है। मूल्यों का यह विघटन सर्वेश्वर की कविताओं को खासी व्यंग्यबहुल बना गया है। जहाँ-जहाँ ऐसे व्यंग्य है, वहाँ-वहाँ वे पाठक के हृदय को गहरे तक छील देते हैं : "लेकिन मैं देखता हूँ/कि आज के जमाने मे/आदमी से ज्यादा लोग/पोस्टरों को पहचानते हैं/वे आदमी से बड़े सत्य हैं"/[1] मूल्य-विपर्यय की इस दुनियाँ में सभी कुछ गलत हो गया है। करुणा, सहानुभूति और मानवीयता जैसे भाव जैसे कहीं बिला गये है। यही वजह है कि किसी एक की विवशता दूसरे के लिए कौतूहल हो गई है और लोग करुणा भी 'शोख चेहरों पर' ही दिखाना चाहते है। इस स्थिति को सर्वेश्वर ने व्यंग्य-शैली के द्वारा ही सवेद्य बनाया है :

"ओछी नहीं है दुनियाँ
मैं फिर कहता हूँ
महज़ उसका
सौन्दर्य–बोध बढ़ गय है"[2]

मानवीय करुणा

सर्वेश्वर मानवीय मूल्यों और मानवीय संवेदना के कवि के रूप में न केवल विख्यात हैं, अपितु यह उनके काव्य का एक सशक्त पक्ष भी है। नये कवियो मे सर्वेश्वर उस कवि शृंखला की एक मजबूत कड़ी के रूप में है जिन्होंने मनुष्य के दुख-दर्द उसकी दीन-हीन परिस्थिति और व्यथा के प्रति अपनी साझेदारी व्यक्त की है। ऐसा इसलिए है कि उन्होंने मानव में मानवता देखी है और उसका ह्रास भी अनुभव किया है, मूल्यों के विघटन और विपर्यय के माहौल में तो उनकी मानवीय करुणा-सवेदना और अधिक प्रभावी और मार्मिक रूप में उभर रही है। असल में सर्वेश्वर को मनुष्य मात्र से प्यार है, इसी से वे मनुष्य के साथ अथ से इति तक जुड़े हुए है। इस अपरिचित दुनियाँ में; जो किसी मृत नगर से कम नहीं है; सर्वेश्वर का कवि उन तमाम लोगों के साथ है जो भूखे है; व्याकुल हैं; पीड़ित हैं और मानवीय करुणा और संवेदना पाने के लिए अपने चारों ओर देख रहे हैं/कैसी विचित्र है यह ज़िन्दगी' में जहाँ जिन्दगी की अव्यवस्था और खण्डित स्थितियों को उजागर किया गया है, वहीं भय और आत्मीयता को भी। कविता के अन्तर्गत खण्डित मूर्तियों की जो माला प्रस्तुत की गई है; उसमें कवि की करुणा व्याप्त है। ये खण्डित मूर्तियाँ मूलत: मानवीय शक्ति और आस्था भावना से ही सम्बन्धित हैं। कवि का

1 काठ की घंटियाँ पृ० 382
2 वही प० 410

अभिप्रेत यह बतलाना रहा है कि आज जीवन में न तो कहीं करुणा है, न प्रेम है और न कोई मानवीय सम्बन्ध ही शेष रह गया है। पूरी कारुणिकता का अनुभव करते हुए कवि कहता है : "यह करुणा की मूर्ति है - जिसकी आँखें स्वार्थ की भट्टी के सामने/खड़ी रहने से जाती रही हैं/ ...... अक्सर घबराकर/आदमियों की बस्ती से दूर चला जाता हूँ किन्तु शाम होने पर उस बस्ती की टिमटिमाती अधी रोशनियाँ अपनी टूटी बाँहें फैला मुझे बुलाती हैं"[1] यह मानवीय करुणा-संवेदना सर्वेश्वर के काव्य में इतने गहरे तक व्याप्त है कि वे हर स्थिति में मानवता को जिलाये रखना चाहते हैं। उनकी जिजीविषा का मूल वृत्त मानवीय करुणा से ही जुड़ा हुआ है तभी तो कवि यहाँ तक कह देता है : "मैं जिन्दा रहना चाहता हूँ/ इसलिए काँटों में नंगे पैर घूमते/एक बच्चे के जूते के लिए पूजागृहों को छोड़ सकता हूँ/मैं जिन्दा रहना चाहता हूँ इसीलिए धूल और भूसे से अन्न का एक-एक दाना चुनती हुई/नववधू के लिए ईश्वर की कलाई मोड़ सकता हूँ"/[2]

वर्तमान परिवेश में एक ओर तो वे लोग हैं जिनकी इमारतें आलीशान है किन्तु दिलों का आकार छोटा है और दूसरी ओर वे मेहनतकश नर-नारी है जिनका घर भले ही छोटा हो पर दिल बहुत बड़ा है। मानवीय करुणा के पक्षधर सर्वेश्वर को उन मेहनतकश लोगों से न केवल सहानुभूति है; बल्कि गहरा प्यार भी है। वे उन हाथों को चूम लेना चाहते हैं जो सुबह से शाम तक आँधी से भरे घर की धूल को साफ करते रहते हैं और जिन दुबले हाथों की हड्डियों और उभरी नीली नसों पर फिर भी हीरे की अँगूठी की तरह एक चमक झिलमिलाती रहती है। आज जिन्दगी कुछ ऐसी हो गई है कि आदमी जिनके पीछे तबाह हो जाता है, वे ही उसकी असफलता को नगाड़े की तरह बजाते हैं। फलत: अर्थ देने के प्रयत्नों में जो जिन्दगियाँ व्यर्थ हो गई है; उन सभी से कवि पूरी तरह जुड़ा हुआ है। वह बराबर उस बिन्दु पर अपनी हाजिरी बतलाता है जहाँ इन्सान व्यर्थ हो गया है; भूख का पर्याय बन गया है। एक सचेतन सर्जक की तरह सर्वेश्वर अपने कमरे के मंच से ही उस सबको देख लेते है जो व्यथा का प्रतीक है और मानवीय करुणा की दो बूँदे पाने के लिए निहार रहा है : पचास करोड़ आदमी खाली पेट बजाते/ठठरियाँ खड़खड़ाते 'हर क्षण मेरे सामने से गुजर जाते है/"[3] 'कुआनो नदी' में तो कवि की मानवीय करुणा-संवेदना अनेक रूपों में अभिव्यक्त हुई है। इसमें कोई शक नही कि कवि उन सबके साथ है जो गाँवों में जैसे-तैसे अपनी जिन्दगी काट रहें है; किन्तु उसकी अधिक सहानुभूति उन सबके साथ है जो कुछ इच्छाएँ लेकर; कतिपय सपने

1. बाँस का पुल पृ० 74-75
2 एक सूनी नाव- पृ० 54
3 गर्म हवाएँ पृ० 15

सँजोकर जीवन-यात्रा तय करना चाहते हैं पर इसी प्रयत्न में कभी छत की कड़ी से भूल जाते है; कभी रेल की पटरी पर सो जाते हैं; कभी गरीबी का बोझ ढोते हुये कपड़ों के अभाव में ठण्ड में अकड़ जाते हैं; कभी लू के थपेड़े बरदाश्त न करने के कारण जिन्दगी से हाथ धो बैठते हैं या जो जिन्दा जला दिये जाते है। जिन्दगी के इस अमानवीय पक्ष को देखते-समझते हुए कवि की यह चिन्ता और इससे निकला यह प्रश्न "क्यों हम आदमी को/आदमी की तरह नहीं देख पाते हैं/" मानवीय करुणा को ही व्यक्त करता है। उसकी यही करुणा-संवेदना सूखे चीमड़ कंकाल के सदर्भ से भी व्यक्त हुई है : "अभी भी उस लग्गी की चुभन/मैं अपनी पसलियों पर महसूस करता हूँ/और एक सूखे चीमड़ ककाल का/रूखा झुरियों वाला हाथ मेरे गालों से छू जाता है/······ उस सूखे चीमड़ कंकाल का/रूखा झुरियों वाला हाथ भी नहीं रहा/रोटी का टुकड़ा लिए बेजान पड़ा है"/[1] 'भुजैनियाँ का पोखरा' कविता मे जिस गरीबी और उसमें जीती नारी का चित्र है; वह भी पाठकीय संवेदना को झकझोरता हुआ कवि की करुणा से सिक्त होकर सामने आया है। कवि कहीं भीतर यह अनुभव करता है कि वह नारी "हर गाँव में आज भी है/भाड़ के सामने काली भुतनी-सी/आज भी वह बैठी है/पसीने चिपचिपाती देह लिए/चुप खामोश/एक-एक चने से अपना भाग्य जोडती दुखती रगें तोड़ती/उसके अधनंगे बच्चे/भाड झोंकने के लिए/दिन भर सूखी पत्तियाँ बटोरते हैं/और शाम को मक्के की रोटी/और नरई का साग अगोरते है/"[2] 'बाँस गाँव' कविता में भी गरीबी और भूख से पीड़ित मानवीय समाज का संवेदना-प्रवण चित्र है। "बाँसगाँव एक पत्थर है/दानवीर सेठ लोकतंत्र का[2]/जिससे पीठ टिकाये/इस जलती धूप में/आज भी खड़ी है मेरे साथ हाँफती गरीबी"/कहकर सर्वेश्वर ने मानवीय करुणा और उससे जुड़े गहन सवेदन को शब्दों में बाँधने का प्रयास किया है। आज स्थिति यह हो गई है कि आदमियों की बस्तियाँ वीरान होती जा रही है और सब कुछ खाक में मिल रहा है। कवि इससे दुखी ही नहीं; कहीं भीतरी बहुत गहरी चोट महसूस करता है। उसके इस महसूसने में मानवीय करुणा का एक नक्शा उभरता है और उसमे से उभरती है गरीब धरती और उसका निहत्था आदमी :

"इस गरीब धरती के
निहत्थे आदमियों की ओर से कह दो;
जब सारे अस्त्र जवाब दे जायें
तब उस पत्थर से/वे इन्सानियत का सिर फोड़ें/
जिसे वे चाँद से लाये हैं"/[3]

---

1 कुआनो नदी पृ० 22-29
2 वही पृ० 46-47
3 वही पृ० 78

इन पंक्तियों में आज की अमानवीयता पर तीखा व्यंग्य भी है और उसी अमानवीयता के साथ-साथ पनपने वाली वह करुणाहीनता भी चित्रित है जो चाँद तक पहुँचने की प्रेरणा तो देती है; पर उस इंसानियत की ओर देखने का अवकाश नहीं देती जो मानवीयता के अभाव में मरी पड़ी है। कवि की करुणाशीलता और सहानुभूति उन सबके साथ है जो अमानवता की चक्की में पिस रहे हैं—चाहे वे अपने देश में हों या देश के बाहर।

लोक संपृक्ति

लोक-संपृक्ति से तात्पर्य लोक चेतना से है। नयी कविता में लोक-जीवन की विविध छवियाँ अंकित हुई हैं। नये कवियों ने बावजूद नगर-बोध के उस जीवन को भी सूक्ष्मता से देखा है जो हमारे गाँवों में बिखरा पड़ा है। ग्राम्य-संवेदना को वाणी देने वाली अनेकानेक अनुभूतियाँ सर्वेश्वर के काव्य में भी उपलब्ध हैं। जब मैं सर्वेश्वर की कविताओं को पढ़ता हूँ तो बराबर एक बात मन में आती है कि सर्वेश्वर की मूल चेतना का एक बड़ा हिस्सा लोक-जीवन से जुड़ा हुआ है। किसी भी संग्रह को उठाकर देख लीजिए; उसमें कुछ कविताएँ ऐसी अवश्य मिल जायेंगी जो कवि की ग्राम्य-संवेदना को पूरी सूक्ष्मता और आत्मीयता से व्यक्त करती होंगी। 'काठ की घंटियाँ' से लेकर 'जंगल का दर्द' तक की काव्य-यात्रा इसका प्रमाण है। उल्लेख्य तथ्य यह है कि इस तरह की कविताओं में जहाँ एक ओर हमारी ग्राम्य-संस्कृति हमारा सांस्कृतिक परिप्रेक्ष्य अभिव्यक्त हुआ है वहाँ दूसरी ओर अभिव्यक्ति को सहज और विश्वसनीय बनाये रखने के लिए लोकधुनों और लोकभाषा को ही अपनाया गया है। जो लोग लोक-संस्कृति से परिचित हैं और जो उससे (सांस्कृतिक धरोहर से) परिचित होना चाहते हैं, उनके लिए सर्वेश्वर-काव्य में बिखरी हुई ये कविताएँ एक अनिवार्य सांस्कृतिक कोश का काम कर सकती हैं। 'काठ की घंटियाँ' में 'बनजारे का गीत', 'चरवाहे का युगल गीत', 'झूले का गीत', 'सुहागिन का गीत', 'युग जागरण का गीत', सिपाहियों का गीत', 'चुपाई मारौ दुलहिन' और 'आँधी पानी आया' ऐसी ही कविताएँ हैं जिनमें कवि की लोक-संपृक्ति को देखा जा सकता है। ये वे कविताएँ हैं जिनमें सर सर सर बहती बयार है; उड़ती हुई चुनरी है: घिर घिर आती बदलियाँ हैं; जमीन को चूमकर बहती हुई पुरवाई हवा है; दादुर, मोर और पपीहों के स्वर हैं; धानी आँचल है; चूड़ियों की खनक है; रिम झिम फुहारें हैं, नीम की पकी हुई निबोलियाँ हैं; हरी चूड़ियाँ, हरी चुनरिया और नीम की हरी डाल है, झूला झूलती नारी की यह ललक है: "मोर पिया बदरा बन हेरे/झाँकू फिर छिप जाऊँ रे/धरती डोलूँ अम्बर डालूँ हाथ न उनके आऊँ रे" और यह कसक है "बेदरदी परदेस बसे हैं/हूक करेजवा छाई रे"। यह परिवेश; यह ललक और यह कसक हमारे सांस्कृतिक परिप्रेक्ष्य का जीवंत पक्ष है। इसमें न तो कोई बनावट है और न कोई

आरोपण ही है। सावन के महीने का परिवेश और तत्प्रेरित संवेदना इन कविताओं की आत्मा है।

'आँधी पानी आया' कविता में भी कवि की लोक संपृक्ति इतनी गहरी है कि पाठक (जो ऐसी संवेदना को समझता है) उसमें खो जाता है : "आँधी पानी आया/चिड़ियों ने ढोल बजाया/काली टोपी लगा टिड्डियाँ/बजा रही शहनाई/अमराई की पहन घँघरिया/नाच रही पुरवाई/तरु-तरु ने शंख बजाया/धरती ने मंगल गाया/" 'चरवाहों का युगल गान' में पुरुष और नारी स्वरों के संवाद के माध्यम से ग्राम्य-परिवेश की रोमानी जिन्दगी का मिठास भरा चित्र है। शब्द–शब्द में पुरुष का आग्रह और नारी का प्रेममिश्रित निषेध भरा पड़ा है। इस आग्रह और निषेध में जिन्दगी का रस है; नारी आकांक्षाओं को प्रेमपूरित स्वर है और पुरुष का सामीप्य लाभ पाने के लिए किया गया मनुहार है :

पुरुष स्वर—"नदिया किनारे, हरी हरी घास, जाओ मत, जाओ मत,
यहाँ आओ पास बया घोंसला, मोर घरौंदा, बैठो चित्र उरेहो/"
नारी स्वर—"नदियाँ किनारे, सोने की खान, छुओ मत, छुओ मत, बड़ी बुरी बान
बिछिया झूमर, मुँदरी तरकी/लाओ कहाँ धरे हो/"

इसी प्रकार 'बाँस का पुल' की 'आये महन्त बसन्त' और 'मेघ आये' कविताओं मे प्रकृति-संवेदना के सहारे लोक जीवन मे रची-बसी संस्कृति को उभारा गया है। मुझे लगता है कि सर्वेश्वर का सांस्कृतिक बोध काफी गहरा है। वे संस्कृति बोध के कवि हैं। 'मेघ आये' कविता को ही लीजिए। इसमे हमारी संस्कृति का एक जीवन्त और यथार्थ चित्र है। प्रायः देखने में आता है कि जब शहर से कोई मेहमान बनकर गाँव मे जाता है तो उसका स्वागत-सत्कार तो होता ही है; सभी लोग उसे उचक-उचक कर देखते हैं। दुलहिनें किवाड़ों की ओट से घूँघट मारे झाँकती हैं। यह कवि की सचेतन लोक-दृष्टि या कहें कि सांस्कृतिक संवेदना का परिणाम है कि वह इतनी मार्मिक शब्दावली में यह दृश्य प्रस्तुत करता है :

"मेघ आये बड़े बन-ठन के/पाहुन ज्यों आये हों गाँव में शहर के/
पेड़ झुक झाँकने लगे गरदन उचकाये/आँधी चली, धूल भागी घाघरा उठाये
बाँकी चितवन उठा नदी ठिठकी/घूँघट सरके/
बूढ़े पीपल ने आगे बढ़ जुहार की/"बरस बाद सुधि लीन्हीं"—
बोली अकुलायी लता/ओट हो किवार की/हरषाया ताल लाया/
पानी परात भरके/मेघ आये बड़े बन–ठन के सँवर के/"

इन पंक्तियों में मेघ-पाहुन के बहाने सर्वेश्वर ने सांस्कृतिक-संवेदना को जिस बारीकी से उजागर किया है वह नयी कविता की महत्तम उपलब्धि है ग्राम्य

संस्कृति का इतना सूक्ष्म, सहज और विश्वसनीय संदर्भ और कहाँ मिलेगा जिसमे मेहमान के गाँव में आने पर ग्रामवासियों द्वारा प्रदर्शित आत्मीय प्रेम हो। आज भी गाँवों में इस स्थिति को देखा जा सकता है 'घूँघट सरके', 'आगे बढ़ जुहार की', 'बरस बाद सुधि लीन्हीं', 'पानी परात भरके' जैसे प्रयोग हमारी संस्कृति के मुँह बोलते चित्र हैं। यही स्थिति 'आये महन्त- बसन्त' की है। उसमें भी पीला पाग, 'चँवर', श्रद्धानत तरुओं को अंजलि से झरते पात, अगरु धूम से गंधित हो झूमते दिग-दिगन्त और विमुग्ध हवा की करताल जैसे प्रत्यय सर्वेश्वर के संस्कृति-बोध के ही प्रमाण हैं। गर्म हवाएँ की 'राग डींग कल्याण' कविता में भी लोक-संपृक्ति भी है और उसकी अभिव्यंजना के लिए प्रयुक्त लोक लय और लोक जीवन के शब्द भी काम में लिये गये हैं। कुछ कविताएँ ऐसी भी हैं जो कवि की इसी चेतना को वैचारिक धरातल पर प्रस्तुत करती हैं। ऐसी कविताओं को भी एक सांस्कृतिक पक्ष है; एक ग्रामीण-संवेदना है और वह भावना जो कवि की आत्मा के आयतन मे काफी जगह घेरे हुए है। इस दृष्टि से 'कुआनो नदी' और उसकी अनेक कविताओं को लिया जा सकता है।

'कुआनो नदी' कविता में ग्राम्य परिवेश का अंकन नगर बोध की तुलना मे काफी अधिक है। कविता में नदी की बाढ़ के कारण प्राण रक्षा के लिए पेड़ों की शाखों पर बँधे खटोले; उन पर बैठे बच्चे और नीचे कीचड़ मे खड़े चौपायों का बिम्ब; बस्ती जिले की गरीबी का दृश्य; कच्ची सड़क पर चलती बैलगाड़ियाँ; उनमें जुते नये खरीदे व रंगे सींगों वाले घंटियाँ बजाते बैल; गाँव के पोखर; पोखरो मे सिंघाड़े तोड़ते खटीक और खटीकिनें, लोहार, बढ़ई, फेरीवाले बिसाती; पानी मे बैठकर खाना पकाती औरतें, उनके बच्चे, काँसे की चूड़ियाँ खनकाती निराई-बुवाई के गीत गाती औरतें और सूरज डूबने पर 'लाली हो लाली' की आवाज आदि के कितने ही बिम्ब इस कविता में हैं। असल में सर्वेश्वर का मन गाँव में बसता है और तन शहर में। यही वजह है कि दिल्ली की सड़कों पर भी उन्हें नरसल से काटकर बनाई गई पिपहरियों की आवाज सुनाई देती है और उन्हें अच्छा लगता है यह सब "पुल पर दही के मटके लिए एक--एक कर अहीरों को/जाते देखता हूँ/वे सब शहर मे दही बेचकर गाँव को लौटते हैं/कभी-कभी किसी के सिर पर लकड़ियों के बोझ भी होते हैं/या गठरियाँ, खरीदे सौदे-सुलफ की/उनकी परछाइयाँ शांत हरे जल पर अच्छी लगती हैं"/'भुजैनियाँ का पोखरा' 'बाँसगाँव', 'झाड़ै रौ मँहगुआ' और 'गरीबा का गीत' जैसी कविताएँ भी ऐसी ही हैं जो ग्राम्य--संवेदना और संस्कृति में लिपटे परिवेश को उजागर करती हैं। इन कविताओं की भाषा का रंग भी वर्ण्य-विषय के अनुकूल है। उसमें लोक जीवन का रंग काफी गहरा और चमकदार है। कुल मिला कर यही कह सकते है कि सर्वेश्वर की संवेदना का

यह पक्ष भी बड़ा प्रबल है। इसमें लोक–संस्कृति के बिम्ब हैं; वह परिवेश है जो हमें हमारी संस्कृति से जोड़ता है और वे शब्द हैं जिनका प्रयोग कहीं प्रतीकवत् तो कहीं अभिधात्मक शैली में हुआ है। वस्तुतः सर्वेश्वर के काव्य मे संस्कृति बोध को प्रकट करने वाले इतने तत्व हैं कि उन पर स्वतन्त्र विचार किया जाना चाहिये।

मूल्य बोध

सांस्कृतिक चेतना के कवि सर्वेश्वर के काव्य का एक पक्ष तो यह है जिसमे वे परम्परा बोध का परिचय देते हुए अपनी सांस्कृतिक विरासत का इस्तेमाल करते है और दूसरा पक्ष वह है जो स्वतंत्र्योत्तर भारत में विकसित मूल्यों से जुड़ा हुआ है। ये मानव-मूल्य नये हैं। यहाँ यह भ्रम नहीं होना चाहिये कि सर्वेश्वर परम्परावादी है। यह तो वह बोध है जो किसी भी श्रेष्ठ कवि की कविता का अनिवार्य सदर्भ होना है—होना चाहिये। इसका तात्पर्य यह भी नहीं है कि कवि के संस्कृति बोध से उसे बोध का कोई विरोध है जो युग की कोख से जन्म लेता है। सफल कवि वे होते हैं जो अपनी संस्कृति के जीवित पक्ष को स्वीकारते हुए भी युगबोध और परिवेश मे विकसित मूल्यों को स्वीकार करके चलते हैं। डॉ॰ देवराज का यह मत बड़ा बजन रखता है जिसमें कहा गया है: "प्राचीन सांस्कृतिक प्रत्यय जहाँ तक अनुभूत यथार्थ के प्रत्यक्षीकरण में सहायक होते हैं; वहाँ तक वे आज भी रोचक और व्यंजक जान पड़ते हैं; वहाँ तक आज का साहित्यकार उन प्रत्ययों का सटीक प्रयोग करके अपनी रचना को अतिरिक्त अर्थवत्ता से मंडित कर सकता है। जहाँ प्राचीन प्रत्यय काम नही देते; वहाँ यह अनिवार्य है कि आज का स्तरीय लेखक वर्तमान युग के नये सास्कृतिक प्रत्ययों व प्रतीकों का सहारा ले।"[1]

कहना गैर जरूरी है कि सर्वेश्वर के काव्य में एक तो वे सांस्कृतिक मूल्य अनुस्यूत हैं जो हमें विरासत में मिले हैं और दूसरे वे जो स्वतंत्र भारत में 1950 के बाद से विकसित हुए हैं। सर्वेश्वर ऐसा इसलिए कर सके हैं कि उनका व्यक्तित्व सास्कृतिक दृष्टि से सम्पन्न है। उन्होंने जीवन से सम्बन्धित गहरे और बड़े प्रश्नों–मूल्यों में गहरी रुचि ली है। उनके काव्य में मूल्यान्वेषण एक अनिवार्य संदर्भ लिए हुए है। प्रश्न यह है कि मूल्य क्या है ? और उसका सम्बन्ध किससे है ? मैं समझता हूँ मूल्य वस्तु नहीं; धारणा है, एक अनुभव है। यों कोई भी वस्तु मूल्यवान हो सकती है, किन्तु मूल्य नहीं हो सकती है। मूल्य तो भोगे जाने के कारण अमूर्त होते है। वे एक तरह से जीवन-दृष्टि हैं और किसी भी जीवन–दृष्टि की कल्पना बिना

---

1 डॉ॰ देवराज प्रतिक्रियाएँ पृ॰ 206

मानव और मानवीय संवेदना के असंभव है। अतः यह कहना ठीक लगता है कि वैयक्तिक प्रतीतियों के बिना मूल्यों का बोध संभव नहीं है। जिस धारणा या जीवन दृष्टि को अपनाने से हमे संतोष, आनंद, परितृप्ति या पूर्णत्व बोध, प्रेरणा या शक्ति और सार्थकता का अनुभव हो सके वही मूल्य है। आज के परिवेश में साँस लेते हुए तो मूल्यबोध और भी आवश्यक है क्योंकि बदलते परिप्रेक्ष्य के अनुकूल हमें कुछ नया चाहिये। विज्ञान के तर्कसिद्ध प्रयोगो; औद्योगिक प्रसार और बाहरी सभ्यता से सम्पर्कित होने के कारण हमारी धारणाएँ बदली हैं और हमने तदनुसार नये मूल्यो का अर्जन किया है। नये विकसित और अर्जित मूल्य ये हैं : मानव-स्वातन्त्र्य, आत्माभिमान या स्वाभिमान, मानव वैशिष्ट्य, विवेकशीलता, आस्था और जिजीविषा, आत्माविश्वास, चैतन्य और संघर्ष-शक्ति।

सर्वेश्वर मूल्यान्वेषण में रत कवि हैं। उनका काव्य मूल्य-बोध का काव्य है। अतः ये सभी मूल्य उनकी कविताओं मे जगह-जगह अभिव्यक्त हुए हैं। वे मानव स्वातन्त्र्य के पक्षपाती; स्वाभिमान से जीने वाले मानव के सहयोगी; मानव-वैशिष्ट्य का मन्त्र फूँकने वाले, विवेकी; आस्थावान; जिजीविषा युक्त आत्मविश्वास से पुष्ट चैतन्य और शक्तिमान व्यक्तित्व के धनी मनुष्य के प्रशंसक कवि हैं। मानव-स्वातन्त्र्य का भाव नयी कविता के सभी कवियों में पाया जाता है। सर्वेश्वर ने भी पीस पेगोडा, कलाकार और सिपाही तथा सिपाहियो का गीत जैसी कविताओं में व्यक्ति-स्वातन्त्र्य का पक्ष लिया है। वे पराश्रित मनोवृत्ति को, कायर संस्कृति मानते है। अतः परवशता को समूल उखाड़ फैंकने के लिए उत्सुक हैं। उनके परवर्ती सृजन में इसी मानव-बोध की अनुगूँज है। वे अपने रोम-रोम की खिड़कियाँ खोल चुके हैं। अतः न कोई दीवार है; न कोई बाधा है। 'यह खिड़की' कविता में व्यक्ति स्वातंत्र्य का स्वर साफ है क्योंकि कवि आश्रित स्थितियों को समाप्त करके पूरे स्वाभिमान के साथ जीने को ही सही जीना समझता है। मानव-स्वातंत्र्य का यह बोध ही सर्वेश्वर को युद्ध भूमि मे लड़ने वाले सैनिकों के लिए भी कुछ समर्पित करने की प्रेरणा देता है क्योंकि उन्होंने बर्बरता को समाप्त कर मनुष्य के स्वतन्त्र अस्तित्व की रक्षा की है। सर्वेश्वर की कविताओं में स्वाधीन मनुष्य के निर्माण और उसके रक्षण की गहरी ललक विद्यमान है। ध्यान रहे यह वह स्वातंत्र्य बोध नहीं है जो मनुष्य को पाशविक, उच्छृंखल, दायित्वहीन और अराजक बनाता है। यह तो दायित्व बोध के साथ हासिल किया गया मूल्य है। इसी से कवि ने युद्धों के बजाय शांति का पक्ष लिया है। सर्वेश्वर ने मानव-स्वातंत्र्य की भावना से भरकर ही युद्धों और शीत युद्धों से विकसित होने वाली अशांति के प्रति चिन्ता व्यक्त की है। यह चिन्ता शुद्ध मानवीय है। कलाकार और सिपाही तथा पीस पेगोड़ा कविताएँ इसी भूमिका पर लिखी गई हैं 'युद्धस्थिति' कविता मे जब करते हैं कि 'मैं जिन्दा रहना चाहता

हूँ/.... " धरती को बड़ा करने के लिए/और दृश्यों को सुन्दर/सौन्दर्य को उदार करने के लिए/और आस्थाओं को समुंदर/.... किसी न किसी लड़ाई में शरीक हूँ/लेकिन अपने हर मोर्चे पर अकेला/दूसरों के लिए अधिक समर्थ और अपने लिए अधिक सार्थक बनता हुआ"/[1] जो मानव-स्वातंत्र्य की ही बात करते है। उनकी जिजीविषा इसीलिए है और उनकी लड़ाई इंसानियत की रक्षा और स्वतंत्र जीने के लिए की गई लड़ाई है। व्यक्ति की यह चेतना सर्वेश्वर की अन्य कविताओं में भी प्रतिध्वनित है। 'लीक पर वे चलें' कविता तो मानव-स्वातन्त्र्य की सशक्त स्वरों में की गई उद्घोषणा है : "हमें तो जो हमारी यात्रा से बनें/ऐसे अनिर्मित पथ प्यारे हैं"/का गायक जब बाँस के झुरमुटों में आजादी का मुक्त गीत गाने वाली हवा से अपने सपनों को जोड़कर देखता है तो स्थिति स्पष्ट हो जाती है। कवि का यह स्वातन्त्र्य बोध व्यक्ति से समाज की ओर भी यात्रित है। "नदी बनने की प्रतीक्षा में/कहीं नीचे शुष्क नाले में नाचता/एक अंजुरी जल"/[2] का संदर्भ यही है।

मानव-स्वातन्त्र्य के साथ ही मानव-स्वाभिमान (आत्माभिमान) का विकास भी मानव-मूल्य के रूप में हुआ है। यह मानव-स्वाभिमान अहंकार का पर्याय नहीं है। इसका अर्थ है व्यक्ति के स्वाभिमान की रक्षा और उसकी सामाजिक स्वीकृति। कारण यह है कि मनुष्य का स्वाभिमान तभी सार्थक है जब अन्य सामाजिक भी उसे अहमियत दें। मनुष्य आज एक सजग और विवेकी व्यक्तित्व के साथ जीने का आकांक्षी है। सर्वेश्वर की कविताएँ गवाह हैं कि वे इस स्वाभिमान को हर कदम पर बनाये रखना चाहते हैं : "चरणों पर गिरने से मिलता है/जो सुख वह नहीं चाहिए"/ सर्वेश्वर की कविताओं में जो मनुष्य चित्रित है, वह अपने व्यक्तित्व और स्वाभिमान के प्रति जागरूक भी है और हर स्थिति में जीवन से जुड़ा रहना भी चाहता है। उसका एक स्पष्ट और सामाजिक परिवेश है। 'जब पसलियाँ ही किला हों' कविता में मानव-स्वाभिमान को न केवल अनिवार्य मूल्य के रूप में प्रस्तुत किया गया है; अपितु यह भी संकेतित है कि स्वातंत्र्य और स्वाभिमान की मूल्यवत्ता के सामने तोपों के गोले तो नाकाम हो ही जाते हैं; उसकी रोशनी में धर्मग्रन्थों पर बैठे निरीह ईश्वर का मुँह भी देखा जा सकता है : "स्वाभिमान से मरते हुए आदमी की/एक उपेक्षा भरी हँसी/बुलेट से ज्यादा गहरा घाव करती है/एक लाश की छाती/विजेता की छाती से ज्यादा चौड़ी होती है/"[3] 'एक बस्ती जल रही है' कविता में भी मानव-स्वातंत्र्य और स्वाभिमान को सर्वोपरि मूल्यों के रूप में प्रतिष्ठित किया

---

1. एक सूनी नाव, पृ० 55
2. वही पृ. 31
3. कुआनो नदी पृ० 60

गया है। स्वातंत्र्य से युक्त मानव ही दुनियाँ का निर्माण करता है; एक नयी संस्कृति को मानवता की वेदी पर प्रतिष्ठित करता है। स्वातन्त्र्य-कामना एक ऐसा मूल्य है जो कुचला नहीं जा सकता है : "सारी दुनियाँ आजाद आदमी से डरती है/......सॉप का फन नहीं है आजादी की भावना, जिसे तुम कुचल दोगे वह एक सुगंध है/जो एक सड़ते नाबदान में, सारी दुनियाँ के सूअरों के घुँघुआते बैठ जाने पर भी, नष्ट नहीं होगी/"[1]

मानवीय स्वाभिमान की तरह की मानव-विशिष्टता भी एक विशेप मूल्य है। आज हरेक आदमी विशिष्ट है। वह भीड़ मात्र नहीं है, उसकी अपनी विशिष्टताएँ हैं। वैशिष्ट्य का अर्थ मात्र असाधारण अच्छाइयों से नहीं है। आज का मनुष्य तो अपनी अच्छाइयों और बुराइयों के साथ ही अपनी विशिष्टता रखना चाहता है। जगदीश गुप्त का यह कथन सही है कि मनुष्य ईश्वर और धर्म के रूढ़िबद्ध रूप से किनारा करके भी अपनी सार्थकता, मानव-मूल्यों पर दृढ़ आस्था रखकर प्रकृति से अपने आदिम संपर्क-सूत्रों को सजीव बनाकर ही विशेषता प्राप्त कर सकता है।"[2] सर्वेश्वर की कविताओं में भी मानव-वैशिष्ट्य की प्रतिष्ठा देखने को मिलती है। लगभग हर संग्रह में ऐसी कविताएँ हैं जो मानव-विशिष्टता को मूल्य रूप में महत्वपूर्ण बतलाती हैं। युद्ध को नकारकर सर्वेश्वर ने मानव के इसी वैशिष्ट्य को प्रस्तुत करते हुए लिखा है कि "बंदूक में गोली भरते ही, हम वहाँ खाली हो जाते हैं/जहाँ कलम में स्याही भरते ही/हम भरने लग गये थे/दुश्मन के इलाके के पेड, जागती नदियाँ/इठलाते खेत/सोते गाँव/सब हमारी संवेदना में/इस तरह बहते चले आते हैं, जैसे डाँठ से छिपे बरहों में पानी/सर्वेश्वर बदूक का निषेध करके उस भीतरी वैशिष्ट्य को महत्व देते हैं जिसके बल पर "हम बड़ी आसानी से नफरत का मतलब समझते हैं/क्योंकि हम प्यार को पहचानते हैं/हम कुछ भी इसलिए मारते हैं/क्योकि हम बहुत कुछ जिलाये रखना चाहते हैं/"[3] मानव-विशिष्टता का आकांक्षी कवि बाहर की तमाम लड़ाइयों को नकार कर अपने भीतर एक लड़ाई लड़ता रहता है; इसलिए नहीं कि वह पराजित हो गया है; जीवन से टूट गया है; वरन् इसलिए कि वह मानव के भीतरी वैशिष्ट्य को उजागर करना चाहता है और चाहता है : कामनाओं को फूलों से भरने के लिए/और फूलों को सुगंधि से/और सुगंध को/निष्पाप कर्मों के तन पर लपेटकर/हर प्यासी आत्मा को जीवन के छन्द से"[4]

1, कुआनो नदी पृ० 66

2 हिमबिद्ध का पूर्व कथन पृ० 6

3 कुआनो नदी पृ० 83

4 एक सूनी नाव पृ० 51

यही मानव-विशिष्टता हमें वहाँ दिखलाई देती है जब कवि भौतिक सुखों से ऊबकर आतरिक सुख की कामना करता हुआ अन्तर्बाह्य के मूल्यों को एकीकृत करता हुआ वृहत्तर सामाजिक मूल्यों के रूप में मानव-वैशिष्ट्य को प्रस्तुत करता है। 'काठ की घटियाँ' की 'एक प्यासी आत्मा का गीत' इसी भूमिका पर लिखा गया है। मानव-व्यक्तित्व की यह विशिष्टता ही तब उजागर होती है जब कवि कहता है : "सबके साथ रहकर भी/जो सबसे अलग दिख सके/वही इस समस्त दृश्य-जगत का पिता है"/

मानव-विशिष्टता के साथ ही मानव-विवेक भी एक ऐसा मूल्य है जो आतरिक वैशिष्ट्य को पाने के लिए अनिवार्य है। मानव-विवेक मात्र बुद्धिवादिता नहीं है। यह तो वह मूल्य है जिसे पाकर मनुष्य सही मानियों में दायित्वशील बनता है और अपने विवेक से—उस विवेक से जो मानव को मानवीयता से जोड़े रखता है जीना चाहता है ऐसा मूल्य अपराजेय हो सकता है; अनिवार्यता हो सकता है। क्या अच्छा है ? क्या बुरा यह निर्णय मानव-विवेक से ही संभव है क्योंकि यही वह मूल्य है जो नीर-क्षीर निर्णय की शक्ति प्रदान करता है। सर्वेश्वर की कविताओं में मानवीय-विवेक मूल्य बनकर उभरा है और इसी कारण कवि ने अनेक स्थलों पर स्थिति की वास्त-विकता का फैसला इसी मूल्य के आधार पर करने की बात कही है : "शत्रु किसी भौगोलिक सीमा का/पर्याय नहीं होता/वह उतना ही बाहर होता है/जितना अपने भीतर/उसे हम विवेक की रोशनी में पहचानते हैं/और विचारों की ऊँचाई से उसका कद मापते हैं/उसकी बर्बरता हम इन्सानियत के संदर्भ में तौलते हैं चद कीड़ों को मारने के लिए/हम पूरे वन में आग नहीं लगा देते हैं"/[1] इसी संदर्भ मे 'धीरे-धीरे' कविता को भी पढ़ा जा सकता है। यह मानव-विवेक ही है जो कवि को इस निष्कर्ष तक ले गया है कि धीरे-धीरे कुछ नहीं होता/सिर्फ मौत होती है/ मानव-विवेक के सहारे ही मानवीय मनोभाव परिष्कृत होते हैं। सर्वेश्वर ने 'यातना' को सहनशीलता के रूप मे देखा है और इन्तजार को शत्रु के रूप में। 'देह का धर्म है सहना' और 'सहनशक्ति ही जीवन है' जैसी पंक्तियाँ इसी मानव-विवेक का परिणाम हैं।

मानव-विशिष्टता का सहचर मानव-विवेक ही अधिक विकसित होकर मानवीय आस्था और जिजीविषा मे बदल जाता है। मानव में विश्वास; उसकी छिपी शक्तियों के प्रतिनिष्ठा और उसी से विकसित जिजीविषा जैसे मानव-मूल्य भी सर्वेश्वर के काव्य के वृहत्तर संदर्भ प्रस्तुत करते हैं। मानव-निष्ठा का यह मूल्य सर्वेश्वर के प्रारम्भिक सृजन से लेकर आज तक के सृजन में बखूबी देखा जा

1 कुआनो नदी पृ० 84

सकता है। सर्वेश्वर का आस्थावाद आरोपित नहीं है। उसमें यह मानव-निष्ठा संघर्षों के बाद विकसित हुई है। इसी निष्ठा के कारण वे जिजीविषा से भी युक्त है। ठीक है निष्ठा के अभाव में जिजीविषा और जीवनेच्छा के बिना निष्ठा (आस्था) जैसे मूल्यों का विकास भी कहाँ संभव है ? सर्वेश्वर को अपने पर– व्यक्ति पर गहरी आस्था रही है : "अपने पर मेरी आस्था/इतनी छोटी नहीं कि वह ईश्वर के कंधों पर बैठकर ही/इन पहाड़ियों के पार देख सके"/[1] नयी कविता में सर्वेश्वर की आस्था जीवन के बीच से फूटी और जीने के लिए विकसित आस्था है। निराशा, अवसाद, विवशता और संघर्षों की जटिल कंदराओं मे घिरकर भी सर्वेश्वर मानवीय शक्ति; उसकी जिजीविषा और उद्दाम जीवनी शक्ति के प्रति दृढ़ रहे हैं। इसी कारण उनकी कविताओं में आया मानव आंतरिक ऊर्जा और ऊष्मा से भरकर यह कहता दिखाई देता है :

1 "यद्यपि मैं/अपने ही सितार के टूटे-बिखरे तारों में/उलझ कर गिर पड़ा हूँ/
हर क्षण/मरी हुई मछली के मुख-सा खुला हुआ है/हर स्थिति/
टूटी हुई सीढ़ियों-सी जल में डूबी हुई है/फिर भी मैं
आगे बढ़ने का/एक गीत गाना चाहता हूँ"/[2]

2 "आओ हम, अपनी राह बनायें/अपनी गढ़ी प्रतिमाएँ/नावों में भरकर/
सुदूर द्वीपों में ले जायें शुरू करें नयी यात्राएँ/क्योंकि मैने सुना है/
अब नदियाँ नहीं सूखेंगी"/[3]

3 "मैं स्वयं एक युद्ध हूँ/मेरा किसी और युद्ध के लिए निर्माण मत करो/
मैं जिन्दा रहना चाहता हूँ/इसीलिए हर समय/किसी न किसी युद्ध मे
शरीक हूँ"/[4]

4. "क्या तुम्हें यकीन है/इस बार बाँध टूट जायेगा ? "चंद कोयले ही अगर
जल उठें/तो बाकी गीले कोयले भी आग पकड़ लेते हैं/"
उसकी आँखों से निकलता धुँआ/मेरे चारों ओर फैलता जाता है/
मुझे लगता है अभी एक लपट कौंधेगी/और इस हरहराते पानी में आग
लग जायेगी"/[5]

---

1. एक सूनी नाव पृ० 30
2. बाँस का पुल पृ० 78
3. एक सूनी नाव पृ० 12
4. वही पृ० 55
5. कुआनो नदी पृ० 35

5. "उस आँख में देखो/अपनी आँख/लौ तेज होगी/बनेगी एक दृष्टि-लय/
उस हाथ में रख दो/अपना हाथ/सेतु निर्मित होगा/मिटेगी प्रलय/
विपत्ति में तुम/अकेले नहीं हो/असंख्य स्रोते कुलबुलाते हैं/
चट्टानों में/मिलकर एक धारा बनने को/
इसे पहचानो/राह निकलेगी निश्चय/"[1]

6 "निराशा की ऊंची काली दीवार में भी/बहुत छोटे रोशनदान-सी/
जड़ी रहती है कोई न कोई आकांक्षा/जिसमें उजाला फँसा रहता है/[2]

7 "व्यथा की मार से, शब्दों के छिन जाने पर भी/
ख़ामोशी बोलती है/थर्मामीटर में कैद पारा भी/
दूसरों के लिए चढ़ता-उतरता है/कौन जानता है/
कौन-सा स्पर्श जादू कर जाये/"[3]

8, "मुझे तुम इस विराट जंगल के किनारे/घास के इस टुकड़े पर
ऊँचे पेड़ों के मुकाबले/मिट्टी में धँसा छोड़ जा सकती हो/फिर भी मैं
इतराता रहूँगा/क्योंकि हो सकता है कल तेज हवा चले/और मैं तमाम
तिनकों के साथ किसी बारिश में बहकर/उस निर्झर से जा मिलूँ/
संभावनाएँ निरंतर हैं : जिन्दगी की खोज, जो रचना है,
रचना जो सार्थक करती है/महत्वाकांक्षा नहीं/जो दूसरों को छोटा करने से
ही पनपती है"[4]

9 "थोड़े दिन और··· ····/बादल छंटेंगे/कल के सिरमौर/पैरों पटेंगे/"[5]

उदाहरण और भी हैं और ढेरों हैं; पर इतने काफी हैं। इनसे यह जाहिर हो जाता है कि सर्वेश्वर एक आस्थावादी कवि है। उनमें गहरी निष्ठा और जिजीविषा है। आज स्थिति कितनी ही विषम और त्रासद क्यों न हो गई हो, किन्तु सभावनाओं के द्वार बद नहीं हुए हैं। हर संघर्ष, हर चोट और हरेक बाधा इस बात का संकेत देती है कि स्थिति जो भी है, वह शाश्वत नहीं है। विषाद-अवसाद और विसगतियों के काले धुँए के पीछे उजाला भी तो है। उस उजाले की एक किरण हर संघर्ष में भी आदमी को अपनी कौंध दिखा जाती है। न मालूम कौनसा अँधेरा

---

1. जंगल का दर्द पृ० 32–33
2. वही पृ० 74
3 वही पृ० 75
4 वही पृ० 87
5. वही पृ० 68

किसी सही उजाले की भूमिका हो; समूची घुटन किस हवा के झोंके से मुक्ति का स्पर्श जगा जाये और क्या पता कौनसी चट्टान के नीचे कुलबुलाता कोई सोता फूट पड़े ? मानव-विवेक इसी कारण प्रतीक्षित रहता है और हर प्रतीक्षा संभावना की सहेली बनकर आती है। यही कारण है कि, न तो आस्था मिट पाती है और न जिजीविषा समाप्त हो पाती है। सर्वेश्वर ने जीवन को समग्रता मे देखा है और मनुष्य को उसके पूरे रंग-रोगन के साथ निहारा है। इसी से उनके काव्य में विकसित मूल्य जीवनवादी हैं। जो कवि जीवन को समग्रता में देखता है, वह जिजीविषा विरहित और आस्थाहीन हो ही कैसे सकता है ? यों ऊपर से देखें तो अनेक कविताओं मे निराशा, हताशा, कभी न समाप्त होने वाली पीड़ा और परिवेश व्यापी कटुता से उत्पन्न बेचैनी भी मिल जायेगी; किन्तु उसके आधार पर भी सर्वेश्वर अनास्था के कवि नही हैं। उनमें जीवनेच्छा का सदर्भ स्पष्ट है। जिसमें उदग्र जिजीविषा होगी, वह सघर्ष झेलेगा ही; आकस्मिक रूप से आये सकट-क्षण से विचलित होता हुआ निराश-हताश होगा ही और पारिस्थितिक विषमता से टूटने के बिन्दु तक पहुँच भी जायेगा, किन्तु एक ऐसे मानव के लिए जिसने विवेक विशिष्टता और स्वाभिमान जैसे मूल्यों को हस्तगत कर लिया होगा; वह जिजीविषा को मिटा थोड़े ही देगा ? सर्वेश्वर ने जिस मानव में निष्ठा व्यक्त की है, वह ऐसा ही मानव है। हाँ इसका अर्थ यह नहीं है कि यह कोई विशिष्ट और अद्वितीय मानव है। यदि यह ऐसा होता तो समसामयिक परिवेश से कटा हुआ भी होता और संघर्ष को जीवन मानकर भी न चलता।

मानवास्था और जिजीविषा जैसे मूल्यों ने ही व्यक्ति में आत्मविश्वास भी जगा दिया है। आज का विवेकी मनुष्य भले ही अलग-अलग संदर्भों में अलग अलग तरह का दिखलाई देता हो; किन्तु जाग्रत विवेक के क्षण उसे यह भी समझा जाते है कि आत्मविश्वास के सहारे बड़ी से बड़ी खाइयों को पार किया जा सकता है; बडे से बड़े पर्वतों को भी चूर चूर किया जा सकता है और संकल्पनिष्ठ होकर हर अँधेरे को उजाले में बदला जा सकता है। मैं समझता हूँ कि वैज्ञानिक बोध ने आज मनुष्य के मानस में जमी ईश्वरीय आस्था को निकाल फैंका है : धर्म के दीपक को बुझा दिया है और अंध श्रद्धा को तर्कणा में बदल दिया है। इसी कारण मनुष्य की परोपजीवी वृत्तियाँ-- पराश्रित मनोभूमियाँ अपने ही भीतर छिपे विश्वास को बाहर खींचे लाई हैं। फलतः मनुष्य को आत्मविश्वास और अपनी शक्ति पर विश्वास हो गया है। यही वह स्थिति है जिससे आत्मविश्वास मूल्य बनकर विकसित हुआ है। सर्वेश्वर मे यह आत्मविश्वास है और वह शक्ति भी है जो अपने ऊपर विश्वास दिलाती है। बावजूद अपनी लघुता के--नगण्यता के मनुष्य अपने प्रति आश्वस्त रहे तो ऐसी कोई जगह नहीं जहाँ तक उसके कदम न जा सकें/ 'धूल' के से कवि ने यही

कहा है : तुम धूल हो,/पैरों से रौंदी हुई धूल/बेचैन हवा के साथ उठो ऐसी कोई जगह नहीं/जहाँ तुम पहुँच न सको/ऐसा कोई नहीं/जो तुम्हें रोक ले"/जब सर्वेश्वर कहते हैं कि "सारी जिन्दगी/मैं सिर छिपाने की जगह ढूँढ़ता रहा/और अंत मे/अपनी हथेलियों से/बेहतर जगह दूसरी नहीं मिली"[1] तो आत्मविश्वास की शक्ति की बात समझ में आ सकती है। यह ठीक है कि जीवन में दुर्बल क्षण भी आते हैं; किन्तु कवि आत्मशक्ति के बल पर आत्मजीवी होना जानता है। इसी कारण वह संघर्ष के क्षणों में किसी दूसरे से शक्ति का अर्जन नहीं करना चाहता है। वह तो यही कहता है : "शक्ति नहीं माँगूगा/अर्जित करूँगा/उसे मरकर बिखरकर/आज नही कल सही आऊँगा उबर कर"[2]/यह आत्मविश्वास और यह आत्मशक्ति ही आज के व्यक्ति को व्यक्तित्व और परिवेश के प्रति सजग बनाती है। इसी सचेतन सजगता के कारण वह अपने सुख-दुख की पहचान भी कर लेता है; अपनी कमजोरियों और सीमाओं को भी ठीक प्रकार से समझता है/अतः वह यही कहता है कि "अपनी दुर्बलता का/मुझको अभिमान रहे/अपनी सीमाओं का नित मुझको ध्यान रहे/" इस विवेचन के बाद आसानी से कहा जा सकता है कि सर्वेश्वर का मूल्य बोध काफी गहरा है। वे निरन्तर मूल्यान्वेषण में रत रहे हैं और मूल्य-विपर्यय की स्थिति को समझते हुए भी समग्र जीवन-दृष्टि को अपनाकर काव्य-सृजन करते रहे हैं; कर रहे है। अस्तित्व की सार्थकता, सत्यान्वेषण; पीड़ा से परिशोधित होकर सार्थक की लब्धि और सहना ही जीवन है जैसे आधुनिक मूल्यों को भी सर्वेश्वर ने स्वीकारा है

सौन्दर्य बोध

सर्वेश्वर के काव्य का एक वृहत् पक्ष ऐसा है जो सौन्दर्य बोध से जुड़ा है। राग-संवेदना के कवि सर्वेश्वर का काव्य सौन्दर्य में अकेला है। प्रेम, मस्ती, उपभोग और सौन्दर्य को एक साथ जीने वाला कवि जब प्रकृति की ओर देखता है तो अनगिनत सौन्दर्य-छवियाँ प्रस्तुत करता है। नये कवियों ने सौन्दर्य को अपने चश्मे से देखा है। उनकी दृष्टि समाज सापेक्ष होकर ही सौन्दर्य की ओर गई है। यही कारण है कि उसमें सौन्दर्य का मादक-मदिर रूप भी है और यथार्थ पुष्ट विकृत-बिगलित और श्लथ रूप भी है। सर्वेश्वर का काव्य भी इसका अपवाद नहीं है। उसमें सौन्दर्य बोध के नये आयाम हैं क्योंकि वह समग्र जीवन से प्रेरित होकर सामने आया है। इसके साथ ही यह सौन्दर्य जिन्दगी की कटुता-सरलता; विषमता समता और रूपवान और घिनौने सभी पक्षों को अपने में समेटे हुए है। ऐसा करने के कारण इस सौंदर्य को अन्य नये कवियों की भाँति ही सौन्दर्य शास्त्र के पैमाने से नहीं नापा जा सकता

---

1 बाँस का दर्द पृ० 97

2 गर्म हवाएँ पृ० 52

है। हाँ; उसका अपना सौन्दर्य-शास्त्र जरूर है। सर्वेश्वर के सौन्दर्य बोध में जो नवीनता है; वह कई कारणों से है। इसका एक सशक्त कारण यह है कि चलतूाऊ अर्थात् बाहरी सज्जा वाला सौन्दर्य सर्वेश्वर को पसंद नहीं है। कवि का यह कहना "विवशता, भूख, मृत्यु सब सजाने के बाद ही पहचानी जा सकती है" उसके द्वारा कोरे और कृत्रिम सौन्दर्य के लिए किया गया विरोध ही है। असल में कवि ने सौदर्य को भी सामाजिक यथार्थ के परिप्रेक्ष्य में ही देखा है।

सुविधा के लिए सर्वेश्वर की सौन्दर्य-बोध-वृत्ति को नारी सौन्दर्य व प्रकृति सौन्दर्य के रूप में विभाजित करके समझा जा सकता है। प्रेम के प्रति समर्पित सर्वेश्वर की नारी का सौन्दर्य या तो मांसल है या श्रमशिथिल होने के कारण कर्मक्षेत्र में कार्यरत नारी का सौन्दर्य है। 'काठ की घंटियाँ' की 'तुम कहो' शीर्षक कविता में एक ऐसी नारी के सौन्दर्य का अंकन हुआ है जिसके बालों में बनावटी कर्ल नहीं है। इस नारी की जिन्दगी थकी हुई स्पष्ट धुन-सी है और जो रिकार्ड की तरह घूमती हुई काम करती रहती है। इस श्रमशिथिला की जवानी खुद उसके लिए क्लोरोफाम का मीठा नींद भरा हलका झोंका है। तात्पर्य यह है कि यह सौन्दय बाहरी नहीं है, जिन्दगी की गहराइयों से पाया हुआ सौन्दर्य है। यहाँ कवि मात्र सौन्दर्य को नहीं देख रहा है; उसे कर्म-क्षेत्र से जोड़कर देख रहा है तभी तो यह सौन्दर्य दूर के किसी वातयन की खामोश हरी रोशनी है/आपरेशन थियेटर सी जो हर काम करते हुए भी चुप है/भारी पीले फूल-सी जो डाल पर झुक गयी है/और जिसके वक्ष पर, मस्जिद के गुम्बजों पर सोती हुई शाम के बीच—दूर की टूटती हुई अजाँ-सी-जवानी के थके हुए काफिलों के रुकने का संकेत है"/[1] यह श्रम की प्रतीक बनी नारी का श्रमशिथिल सौन्दर्य है। एक ओर तो यह सौन्दर्य है और दूसरी ओर भोग का पर्याय वाली मांसल और यौवनवती नारी का सौन्दर्य है जिसमें खुली कसी पिंडलियों का गुदगुदा स्पर्श है, कसे हुए स्तन हैं और वे समस्त शरीरांग हैं जो कामोत्तेजन करते हैं। कहीं-कहीं नारी की वह मुस्कान भी अंकित हुई है जो सीधी धूप-सी आकर मन-तन को बाँध लेती है और एक खास किस्म के सौन्दर्य की कल्पना जगाती है। 'तुम्हारी मुस्कान' कविता में यही सौन्दर्य एकाध स्थल पर अलौकिक अनुभूति भी जगा गया है—विशेषकर तब जब नायिका के पतले ओठों के नीचे का तिल ईश्वर की ओर से जड़ी हुई कील जैसा लगता है।[2] वस्तुत; सर्वेश्वर की कविताओं में सौन्दर्य सदैव किसी न किसी स्थिति या मनस्थिति से जुड़कर ही आया है। लगता है जैसे कवि की दृष्टि में सौन्दर्य की वह स्वतन्त्र सत्ता कभी नहीं रही है जो छायावादी कविता में बहुत अधिक

---

1 काठ की घंटियाँ पृ 302

2 गर्म हवाएं पृ० 69

थी। कहीं यह सौन्दर्य भोग को प्रेरित करता है; कहीं सामाजिक स्थिति को; कहीं वासना-पृथुल होकर निरा ऐन्द्रिय आकर्षण है और कहीं-कहीं सौन्दर्य की धूप तन-मन पर आक्रमण करती हुई समूचे जीवन को ही आच्छादित कर लेती है।[1] फिर भी इतना सच है कि सर्वेश्वर के काव्य में नारी-सौन्दर्य की जो छवियाँ हैं उनमें उसी सौन्दर्य के प्रति कवि अधिक झुका है जो बनावटी और बाहरी कम तथा आंतरिक और जीवन सापेक्ष अधिक है। इस तरह के सौन्दर्य-बोध में जीवन हर कहीं है :

> मैं उन हाथों को चूम लेना चाहता हूँ/बडी से बड़ी मुसीबत को/
> सितार की तरह गोद मे रखकर/मैंने उन हाथों की उंगलियों को/
> तेजी से चलते देखा है/और संघर्ष को उस संगीत के नशे में/
> आधा बेहोश बैठे पाया है/ ···उन हाथों ने/काँटों पर अपनी
> आँखों के मोती/और हँसी के रेशमी फन्दे लपेट कर/
> हमेशा एक रचना की है/"[2]

सर्वेश्वर की प्रकृति-संवेदना के सहारे जो सौन्दर्य निरुपित हुआ है; उसके भी कई रंग हैं। कहीं तो वह रोमांटिक भावना से अनुप्राणित है; कहीं प्रकृति सौंदर्य से सिक्त कविताएँ वैचित्र्यप्रधान हो गई हैं। ऐसी कविताओं में परम्परागत नारी रूप का आरोप किया गया है। 'काठ की घंटियाँ' की 'संध्या का श्रम', 'कल रात' और 'भोर' ऐसी ही कविताएँ हैं। 'संध्या का श्रम' और 'भोर' मे आरोपगत वैचित्र्य प्रधान होकर आया है तो 'कल रात' में भावबोध की नवीनता के साथ-साथ प्रतीक योजना भी मौलिक है। दोनों प्रकार का एक-एक उदाहरण देखिए :

> "सलमे-सितारों की काम वाली/नीली मखमल का खोल चढ़ा/
> अम्बर का बड़ा सिंदोरा उलटा धरती पर/नदियों के जल में/
> गिरि तरु के शिखरों से ढ़र-ढ़र कर/सब सेन्दुर फैल गया/
> प्रथम बार—इस गँवार नारि के सिंगार पर/कोटर से छिप झाँकती/
> सखियाँ खिलखिला उठीं/पीछे से आ प्रिय ने/चुपके से हाथ बढ़ा/
> माथे पर चाँदी की बिन्दिया चिपका दी/लज्जा से लाल मुख
> हथेलियों में छिपा/भोर झट भाग/ओट हो गयी/
> माथे से छूट/गिरी बेंदी/बस पड़ी रही/"[3]

इसमें रूपक और मानवीकरण का सहारा लेकर जिस सौन्दर्य को प्रस्तुत किया गया है; वह पारम्परिक है; आरोपगत वैचित्र्य से युक्त होकर आया है। इसके

1. एक सूनी नाव पृ० 26
2. गर्म हवाएँ पृ० 75
3. काठ की घंटियाँ पृ० 311

विपरीत 'कल रात' कविता में वैचित्र्य तो है; पर वह पारम्परिक नहीं है। उसमे रूपक-योजना तो है पर उपमानगत नवीनता के कारण सौन्दर्य अभिनव रूप लेकर आया है। सर्वेश्वर ने पूरे रोमानी मूड में रात और हवा का वर्णन कुछ इस ढंग से किया है कि दर्द की एक एक परत खुलती गई है। रात की श्याम में स्मृतियों का दश कवि-चेतना पर कोहनियाँ गड़ाये बैठा रहता है और कवि अनुभव करता है : "कल रात जाने कैसी हवा चली : विवेक का पीले सांध्य फूलों वाला पेपरवेट/खिसक कर गिर पड़ा/दर्द के दबे हुए पृष्ठ/उड उड़ कर बिखर गये/........बेचैन थकी हुई रात/मेरी पसलियों पर/कोहनियाँ गड़ाये बैठी रही/और मेरे भारी अंतर से/दर्द के बिखरे हल्के पृष्ठों को/धीरे-धीरे नत्थी करती रही/सुबह होते-होते/आकाश की नीली पिनकुशन खाली थी –तारों की एक-एक आलपीन चुक गयी थी"।[1] स्पष्ट ही सर्वेश्वर ने यहाँ 'रात' का सहारा लेकर जो कहा है उसमें नवीनता है। जिस दर्द को कवि ने विवेक के 'पेपरवेट' से दबा रखा था, वह रात में चलने वाली मादक हवा के स्पर्श से खिसक जाता है और दर्द की हरेक परत उड़ने लगती है। दर्द गहरा हो जाता है और उसे अधिक गहरा बनाने में बेचैन रात कुछ अतिरिक्त योग देती रहती है। रात जहाँ एक ओर दर्द को गहरा देती है वहीं आसमान में खिले सितारो की आलपीन से दर्द के बिखरे पृष्ठों को नत्थी भी करती जाती है। दर्द अधिक है और तारों की 'आलपीन' कम हैं। नतीजा यह कि आकाश की नीली पिनकुशन से एक-एक आलपीन चुक जाती है—सवेरा हो जाता है। यह ठीक है कि आरोप यहाँ भी है, किन्तु इसमे कवि की मौलिकता प्रशसनीय है।

'सर्वेश्वर' प्रकृति-सौन्दर्य के जागरूक चित्रकार हैं। उन्होंने रात, भोर, संध्या, बसत, हेमंत, वर्षा, नदी, झरने, फूल, हवा, धूप और रगीन तितलियों में जो सौन्दर्य देखा है, उसी को कविताओं के द्वारा पाठक तक पहुँचाया है। संध्या, 'सूरज', 'हेमत' और बसंत पर सर्वेश्वर ने अधिक लिखा है, किन्तु ये कविताएँ मात्र प्रकृति-कविताएँ नहीं हैं। इनमें अनेक प्रश्निल और त्रासद मनस्थितियों के बिम्ब भी आगये हैं। जहाँ ऐसा नहीं है वहाँ कवि प्रायः रूपक, सागरूपक और मानवीकरण की शैली का प्रयोग बडे स्नेह से करता गया है। इस तरह के सौन्दर्य से सिक्त और गंधित चित्रों में कवि का लोकानुभव भी साफ झलकता है। अतः ये कविताएँ कवि की सौन्दर्य-चेतना को ही प्रकट नहीं करती है; इनमें लोकचित्त की चंचल सवारी पर सवार होकर प्रायः अनेक अनुभव भी हैं जो मात्र इसी गुण से कवि की श्रेष्ठता को रेखांकित करने मे समर्थ हैं। कहीं 'सूरज' नट है जो रात-दिन की बाँस-खपचियों पर झूलता है; कहीं वह शरारती बालक है जो चाँद की दवात को लात मारकर लुढ़काता हुआ रात के

---

1 काठ की घटियाँ पृ० 310

मदरसे से भाग जाता है और कहीं शाम आकाश का साफा बाँधे सूरज की चिलम खींचती किसान की तरह लग रही है। वह (शाम-किसान) जैसे ही चिलम उल्टी करता है, वैसे ही धुआँ उठता है और सूरज डूब जाता है। सर्वेश्वर ने प्रकृति को बहुत करीब से देखा है और इस तरह देखने में ही वे उसका अंकन अनेक लोकानुभवों या कहें कि लोक-जीवन के संदर्भों से जोड़कर प्रस्तुत कर गये हैं। 'वसंत-महंत' और 'मेघ आये बन ठन के सँवर के' जैसी कविताओं में लोक-जीवन पूरे यथार्थ के साथ चित्रित हुआ है। कहना यही है कि सर्वेश्वर की प्रकृति-संवेदना का फलक व्यापक है। उसमें सौन्दर्य का लहरिल सागर तो है ही; जीवन के विविध पक्ष भी हैं जिनसे कवितागत सौन्दर्य जीवन-सापेक्ष रूप लेकर आया है। परिवेश से प्राप्त अनुभव, पारिवारिक अनुभव और बच्चों की दुनियाँ से प्राप्त अनुभव अनेक बिम्बों में बँधकर कवि की संवेदना का हिस्सा बन गये हैं :

> 'पेड़ों के झुनझुने/बजने लगे, लुढ़कती आ रही है/सूरज की लाल गेंद/
> उठ मेरी बिटिया/सुबह हो गई/तूने जो छोड़े थे/गैस के गुब्बारे :
> तारे, अब दिखायी नहीं देते, तूने जो नचायी थी फिरकी/चाँद, देख
> अब गिरा अब गिरा/उठ मेरी बेटी, सुबह होगयी है/.........'
> दूध है दूध यह धूप/जो चारों तरफ फैली है/उठ, भरले अपना कटोरा
> आखिर चंदा मामा भी तो यही दूध पीता है/"[1]

'दस्तकारी की दुकान' कविता मे सुबह, दोपहर, शाम और रात के जो प्रकृति चित्र है वे अपनी मौलिकता में तो अकेले हैं ही; जीवनानुभवों के मार्मिक और यथार्थ रेखाचित्र भी हैं। ये कवि की मनस्थिति के ग्राफ भी हैं और कवि-चेतना के ग्राम्य-संवेदनात्मक पक्ष को भी उजागर करते हैं : "सुबह—दमकते सोने से रंग वाली/एक अल्हड़ किशोरी/तूली रंग की साड़ी पहने/रंग-बिरंगी मूँज की डलिया बुन रही है/दोपहर—गोरे चिट्टे रंग की/सन से सफेद बालों वाली बुढ़िया/चाँदी की ऐनक लगाये/कसीदा काढ़ रही है/शाम—सेन्दुर का बड़ा टीका लगाये/बुनकर की साँवली औरत/सूत की रंग-बिरंगी लच्छियाँ रंगकर आकाश की अरगनी पर टाँग रही है/रात-काली साड़ी पहने/पाण्डुमुखी विधवा/शीश झुकाये/आकाश के विशाल कंथे में/डोरा डाल रही है"/[2] 'कुआनो नदी' की 'बाँस गाँव' कविता मे सन्ध्या के जिस श्लथ-सौन्दर्य का बिम्ब है, वह ग्राम्य-परिवेश और उस परिवेश मे साँस लेते जीवन की यथार्थ स्थिति के साक्षात्कृत अनुभव का परिणाम है : "मच्छरों के साथ भिनभिनाती/बेंग के साथ उछलती/शाम, रोज थके मुसाफिर सी/बस के

---

1 बाँस का पुल पृ० 18–19

2 वही पृ० 35 36

अड्डे पर उतरती है 'कच्ची सडक के हिचकोलों से अपनी कमर पकड़े धूल-धूसरित और हर बार तेल ही मिठाइयों और पकौडियों के बीच/पच्चीस साल से लाठी टेकती ललचाती पागल बुढ़िया में बदल जाती है"/1

'बाँस का पुल' संग्रह में संध्या के चित्रों की बहुतायत है और इसमें कोई शक नही कि ये चित्र मार्मिक हैं और सर्वेश्वर के माध्यम से पूरी नयी कविता के सौन्दर्य बोध को उजागर करते हैं। नयी कविता के सौन्दर्य बोध में जहाँ घिनौना और भद्दा सौन्दर्य भी ग्राह्य हुआ है; वहीं ये चित्र भी हैं। जो प्रमाणित करते है कि नये कवि की सौन्दर्य-दृष्टि मे कितना नयापन है। सर्वेश्वर के संध्या-चित्रों को ही लीजिए; उनमें एक ऐसा सौन्दर्य है जो छायावादियों से अलग है। साँझ होते ही "गहरा नीला धुआँ छोटे से गाँव के सीमांत पर जम गया है/खेतों के बरहो में/चलता हुआ मटियाला पानी/थम गया है"/ हेमंत की संध्या की प्रतीक्षा का यह बिम्ब भी देखिए : "आकाश नीली टोपी लगाये/क्षितिज का टीला चरवाहे सा ढलते सूरज की आग ताप रहा है/वनपथ पर गिर पडी हैं/वृक्षों की छायाएँ शहतीर-सी"/ वास्तविकता यह है कि सर्वेश्वर प्रकाश, सूरज, धूप, शाम, रात, वसंत, हेमंत और विविधवर्णी फूलों के कवि हैं। उनमें जिजीविषा है; मूल्यान्वेषण है और है जीवन को जीवन मानकर जिये जाने का विश्वास। अत उनकी सौन्दर्य-बोध-वृत्ति की परिधि में सुबह से शाम और शाम से सुबह तक की समूची यात्रा-स्थितियों के बिम्ब आ गये हैं। शालीन, सरस, मोहक, यथार्थ और रूप-कुरूप सभी कुछ उनके सौन्दर्य-ससार का अंग है। उनके सौन्दर्य-बोध में मासल गुदगुदापन है और जरूर है, पर उसमें हितैषणा और जिन्दगी के हर रूप को उसके पूरेपन से जीने की आकांक्षा भी भरपूर है। जब वे कहते हैं कि : "मैं तुम्हारे भद्दे होंटों की काली दरारों में जी सकता हूँ/यदि तुम थककर गिरे हुए/किसी चरण के घाव चूम लो " तो उनकी सौन्दर्य-बोध–परिधि का विस्तार स्पष्ट होने लगता है। ग्राम्य-प्रकृति और नगर प्रकृति के चित्र तो सर्वेश्वर में हैं ही; कुछ ऐसे सौन्दर्य-चित्र भी हैं जो सौन्दर्य की विद्युत–तरंग बनकर कविताओं से कौंध जाते हैं। 'जंगल का दर्द' में एक ओर तो बसत नये पत्तों की डायरी पर प्रणय-कथा लिख रहा है जो वर्षान्त में झरते पत्तो के रूप में व्यथा बन जाती है और दूसरी ओर उद्यान में उडती हुई तितलियाँ वसत द्वारा भेजे गये प्रेम पत्रों के रूप में लग रही हैं। वस्तुत: प्रकृति-सौन्दर्य सर्वेश्वर की संवेदना का अपरिहार्य और अनिवार्य संदर्भ है। प्रकृति के प्रति इतनी प्रगाढ़ संसिक्ति सर्वेश्वर के अलावा यदि किसी नये कवि में है तो वे जगदीश गुप्त हैं, किन्तु दोनो के अन्तरनिर्धारक बिन्दु भी स्पष्ट हैं। जगदीश जी मे प्रकृति की शुभ-सरस और शालीन छवियाँ ही अधिक हैं जबकि सर्वेश्वर की प्रकृति-संवेदना मानवीय संवेदना का एक

---

1 कुआनो नदी पृ० 58 59

संदर्भ भी प्रस्तुत करती है। उसमें जीवन का अमृत और विष; राग और विराग, चेतन और श्लथ तथा लोकानुभव जनित यथार्थ भी आ मिला है। यही कारण है कि वह संवेदना का हिस्सा जल्दी बन जाता है। इस दृष्टि से भवानीप्रसाद मिश्र सर्वेश्वर के निकट पड़ते हैं।

'सर्वेश्वर' की संवेदना के वृत्त में जो भी जितना भी समाया हुआ है, वह ऐसा नहीं है जिसे यह कहकर टाला जा सके कि वह परिवेश की विविधता का ग्रहण मात्र है। मैंने पहले कहीं कहा है कि अच्छे और सफल कवि के लिए अनुभूतियों का ग्रहण ही पर्याप्त नहीं होता है; उनका प्रेषण भी उतना ही अनिवार्य और अहम होता है। अनुभव तो सभी को होते हैं; पर उन्हें पाठक तक संप्रेषित करना सबके वश मे नहीं होता है। प्रेषण की भी एक सार्थकता होती है। प्रेषण तभी प्रेषण है जबकि वह पाठकीय संवेदना का हिस्सा बन जाये। नयी कविता में ऐसा बहुत कुछ है जो अभिव्यक्ति की सार्थक और सहज प्रक्रिया से न गुजरने के कारण पाठक के पल्ले ही नहीं पड़ता है। 'अज्ञेय', मुक्तिबोध; लक्ष्मीकांत; विजयदेवनारायण साही, कुँवरनारायण आदि तथा कुछेक साठोत्तर कवियों की स्थिति अधिकांश स्थलों पर ऐसी ही है। इनकी कविताओं में अनेक बार पाठक और आलोचक को अपनी ओर से बहुत कुछ कहना पड़ जाता है और तभी उनका कथ्य स्पष्ट हो पाता है। आज जब सर्वत्र यह मान लिया गया है कि कविता समाज की हर स्थिति उसकी हर धड़कन का अंकन है तो यह और भी जरूरी हो जाता है कि कविता सही और खुली जुबान में बोले—आम आदमी की भाषा में बात करे क्योंकि ऐसा करके ही उसका सही संप्रेषण और ग्रहण हो सकता है। यह होगा तभी पाठक बिना अपनी ओर से कुछ जोड़े कविता को समझ सकेगा और दूसरों को समझा सकेगा। यह सब कहने का प्रयोजन यही है कि सर्वेश्वर ऐसे कवि नहीं है। उनकी हर कविता सहज संप्रेषित होकर पाठक की चेतना से जुड़ जाती है। इसका कारण न केवल भाषा का सहज और जन-भाषा होना है; अपितु यह भी है कि सर्वेश्वर अपनी बात को कहते ही इस आत्मीयता से हैं कि वह पाठको को अपनी ही बात लगती है। वह चकित रह जाता है यह देखकर कि इस कवि के पास न केवल समाज, परिवेश और प्रशासन का कच्चा चिट्ठा है; अपितु हरेक आदमी के अंतस् की गहराइयों में छिपा वह सब है जो खुद आदमी को ही नहा मालूम। यही कारण है कि सर्वेश्वर की संवेदना में सभी कुछ बेखटके, बेरोकटोक आ जाता है और कवि उसे पूरी ईमानदारी से संप्रेषित भी कर देता है। 'सर्वेश्वर' की संवेदना के वृत्त में जो है, उसका संप्रेषण इसीलिए विश्वसनीय शैली में हुआ है कि कवि सबसे जुड़ा है और इसी से उसकी संवेदनाएँ सच्ची और उनका प्रेषण सार्थक है।

अत में यही कि 'सर्वेश्वर' की सवेदना के धरातल उनके काव्य की विविधता के स्तरो को उद्घाटित करते हैं उनकी सवेदना-परिधि मे राम नी ससार के अलावा

जीवन के साक्षात्कृत संदर्भों; सांस्कृतिक मूल्यों, नवीन जीवन बोध; यथार्थ परिदृश्य और जीवन की संगत-विसंगत स्थितियों के रंग भी मिले हुए हैं। जिन्दगी को करीब से देखने-समझने के बाद वे अपनी संवेदना को क्रमश: विस्तरित करते गये है। राजनैतिक स्थिति; व्यवस्था की अव्यवस्था; सत्ताधीशों की मनमानी और उसके कटु-त्रासद परिणामों तक को सर्वेश्वर की संवेदना में जगह मिली है। ध्यान रहे कि सर्वेश्वर के काव्य में रोमानी संदर्भों को जो जगह मिली है; उससे कम जगहसामाजिक-राजनैतिक संदर्भों को भी नहीं मिली है। समग्र जीवन--दृष्टि को पाने के आकांक्षी सर्वेश्वर की कविताएँ जीवन से कट कर लिखी गईं कविताएँ नहीं हैं। वे समय का लेख है और भविष्य में जब भी कभी सांस्कृतिक इतिहास लिखा जायेगा तब वे प्रामाणिक दस्तावेज का काम करेंगी, इसमे कोई संदेह नही है।

चतुर्थ अध्याय

सम्प्रेषण के माध्यम

संप्रेषण का सार्थक सेतु : भाषा
प्रतीक और संप्रेषण
बिम्ब : संवेदना का मूर्त संप्रेषण
अप्रस्तुत और संप्रेषण

कवि की अनुभूति का पाठक के मन में ठीक-ठीक ढंग से—इस ढंग से कि वह पाठकीय संवेदना का हिस्सा बन जाये; पहुँचना ही संप्रेषण है। संप्रेषण वह क्रिया है जिसके सहारे कवि और पाठक के मन में समान मानसिक अवस्था उत्पन्न हो जाती है। संप्रेषण के लिए आवश्यक है कि कवि के पास संप्रेषण के सशक्त, प्रभावी और सार्थक माध्यम हों और पाठक के पास संप्रेषण को ग्रहण करने की क्षमता हो।.... सौन्दर्यानुभूति और जीवनानुभूति का संप्रेषण अनिवार्य है। संप्रेषण का सशक्त और सार्थक माध्यम भाषा है। अनुभूति की सरलता, ऋजुता और जटिलता के आधार पर भाषा स्वयमेव बदलती रहती है। कभी वह बिम्बप्रधान होती है; कभी प्रतीक-पुष्ट और कभी वह व्यंजना और वक्रतापूर्ण भी होती है। रचनाकार सफल संप्रेषण के लिए न केवल भाषा पर ध्यान देता है, अपितु भाषायी क्षमता को विकसित करने और अभिव्यंजना को संवेद्य बनाने के लिए औचित्यपूर्ण अप्रस्तुतों का चयन भी करता है। 'सर्वेश्वर' के काव्य में संप्रेषण शक्ति गज़ब की है। उन्होंने कथ्य और शिल्प के धरातल पर संप्रेषणीयता का बराबर ध्यान रखा है। उनकी भाषा में जीवन और अनुभव का खुलापन तथा मामूली आदमी से सपृक्ति का भाव गहरा है। उनके बिम्ब जीवन से जुड़े हुए तथा प्रतीक और अप्रस्तुत परिवेश से उठाये गये होने के कारण काव्यानुभूतियों को ईमानदारी से संप्रेषित करते गये हैं।

सम्प्रेषण के माध्यम

कविता अनुभूति की आत्मजा है और अनुभूति आस-पास फैले परिवेश और अतीत से प्राप्त अनुभवों से निर्मित और पुष्ट होती है। जीवन तपता है तो आत्मा को भी पसीना आता है। इस तपन और इस पसीने से ही अनुभूतियों के स्फुलिंग चटखकर कविता की शक्ल में ढला करते हैं। कवि-मानस में अनजाने ही अनेक अनुभवों और भावों का संचयन होता रहता है; किन्तु सृजन के क्षणों में कवि को दो धरातलों पर सजग रहना पड़ता है। पहला वह जहाँ कवि की अनुभूतियाँ और उसके विचार उतर कर क्रीड़ा करते हैं और दूसरा वह जहाँ कवि अवतरित विचारो और अनुभूतियों को शब्दों मे बाँधता है। पहली स्थिति की सफलता इस बात पर निर्भर करती है कि कवि को जो अनुभूतियाँ मथ रही हैं, उनके स्वरूप और स्वर को वह ठीक से समझ और सुन पा रहा है या नहीं। दूसरी स्थिति में कवि की चिन्ता इस बात से जुड़ी होती है कि उसने जो अनुभव किया है उसे वह ठीक शब्दों का जामा पहना रहा है या नहीं। स्थितियाँ दोनों ही महत्वपूर्ण हैं क्योंकि एक दूसरी से जुड़ी हुई है। जाहिर है कि पहला धरातल (स्थिति) सवेदना का है और दूसरा सप्रेषण का। संवेदना को संप्रेषण से अलगाना नामुमकिन है और इस कथन की सत्यता तब प्रमाणित होती है जब हम किसी सफल कविता को पढ़ते हैं। यों भी साहित्य की दुनियाँ में विज्ञान ने प्रवेश करके अभी तक कोई ऐसी मशीन ईजाद नहीं की है जो निश्चित करके यह बता सके कि कविता से प्राप्त आनन्द का अमुक प्रतिशत अनुभूति की देन है और अमुक अभिव्यक्ति की। अतः सफल और श्रेष्ठ रचनाओ मे सवेदना और सम्प्रेषण सहचर बनकर आते है। जब हम किसी कवि की संवेदना को समझ लेते हैं तो यह समझना भी अनिवार्य हो जाता है कि कवि ने अपने अनुभूत का संप्रेषण कैसे किया है? कवि की अनुभूति का पाठक के मन में ठीक ठीक ढग से—इस ढग से कि वह पाठकीय संवेदना का हिस्सा बन जाये, पहुँच जाना ही सप्रेषण है। जब कवि द्वारा व्यक्त प्रतिक्रिया पाठक को प्रभावित करती है या उसे भी उससे जोड़ देती है तभी संप्रेषण की सफलता है। अनेक बार कुछ कवि कच्ची अनुभूतियों को ही सम्प्रेषित कर देते हैं। ऐसी स्थिति में अनुभूति का कच्चापन

को भी शिथिल और सदोष बना देता है हाँ कभी-कभी यह भी होता

है कि अनुभूति तो मूल्यवान और परिपक्व होती है, पर उसका संप्रेषण सदोष होता है। ऐसा होने से शैल्पिक दोष का आ जाना स्वाभाविक है।

संप्रेषण वह क्रिया है जिसके सहारे कवि और पाठक के मन में समान मानसिक अवस्था उत्पन्न हो जाती है और-यही कविता का लक्ष्य है। संप्रेषण के लिए आवश्यक है कि कवि (वक्ता) के पास सप्रेषण के सशक्त, प्रभावी और सार्थक माध्यम हों और पाठक के पास (श्रोता) संप्रेष्य को ग्रहण करने की क्षमता हो। सप्रेषण वहाँ असफल और जटिल हो जाता है जहाँ कवि को ठीक माध्यम अपनाने के साथ-साथ पाठक की ग्राहिका शक्ति के लिए भी जमीन तैयार करनी पड़ती है। सौन्दर्यानुभूति और जीवनानुभूति का सप्रेषण अनिवार्य है और इसके लिए कवि को कतिपय माध्यमों को अपनाना पड़ता है। मेरी धारणा है कि संप्रेषण का सशक्त और सार्थक माध्यम भाषा है। अनुभूति की सरलता, ऋजुता और जटिलता के आधार पर भाषा स्वयमेव बदलती रहती है। कभी वह बिम्ब प्रधान होती है; कभी प्रतीकपुष्ट और कभी वह व्यंजना और वक्रतापूर्ण भी होती है। इसके अतिरिक्त वह और भी अनेक रूपों में ढलती—सँवरती है, परन्तु उसके मूल रूप ये ही हैं। रचनाकार सफल संप्रेषण के लिए न केवल भाषा पर ध्यान देता है; अपितु भाषायी क्षमता को विकसित करने और अपनी अभिव्यंजना को संवेद्य बनाने के लिए नये औचित्यपूर्ण अप्रस्तुतों का चयन भी करता है। इस तरह संप्रेषण के अनिवार्य उपादानों में—बल्कि कहूँ कि माध्यमों में भाषा, बिम्ब, प्रतीक और अप्रस्तुतों का योगदान विशिष्ट और अविस्मरणीय रहता है। नयी कविता का कथ्य जिस रूप मे सप्रेषित हुआ है उसमें ये माध्यम नयी शक्ति, नयी रंगत और सद्यता लेकर आये है। 'सर्वेश्वर' के काव्य में संप्रेषण—शक्ति गजब की है। उन्होंने अपने अनुभवों को सप्रेषित करने के लिए सही भाषा का प्रयोग किया है। अनेक नये कवियों की तुलना में 'सर्वेश्वर' का काव्य इसलिए अधिक प्रभावी और संवेद्य बन गया है कि उसमें संप्रेषण का गुण सर्वाधिक। गहन से गहन और सूक्ष्म से सूक्ष्म अनुभूतियों को जिस सहजता और आत्मीयता से 'सर्वेश्वर' ने सम्प्रेषित किया है, वह उनकी कविता की बहुत बड़ी शक्ति है। उन्होंने काव्य और रूप के धरातल पर सप्रेषणीयता का ध्यान बराबर रखा है। उनकी भाषा में जीवन और अनुभव का खुलापन तथा मामूली आदमी से संपृक्ति का भाव गहरा है। उनके बिम्ब जीवन से जुड़े हैं, तथा प्रतीक व उपमान अर्थ की अवगति और सार्थक अभिव्यक्ति में सदैव सहायक होकर आये हैं। यही कारण है कि 'सर्वेश्वर' की काव्यानुभूतियाँ सहज ही संप्रेषित भी हो जाती हैं और पाठक की चेतना से गहरे जुड़ भी जाती हैं।

संप्रेषण का सार्थक सेतु : भाषा

कवि जब अपने अनुभूत को संप्रेषित करना चाहता है तो उसकी पहली ... भाषा होती है ... भाषा ही वह ... है जिसके द्वारा एक व्यक्ति का

अनुभव दूसरे तक पहुँचता है। इसी से यह संप्रेषण का सार्थक सेतु सिद्ध होती है और उसका सेतुत्व तभी सफल होता है जब अनुभूतियों के वजन को वह ठीक-ठीक ढग से सँभाल लेता है। कवि की अनुभूतियाँ जब तक इस सेतु से आसानी से किन्तु प्रभावी ढंग से पाठक तक पहुँचती रहती हैं तभी तक उसकी सार्थकता है। किसी अनुभव को कह देना एक बात है, उसे प्रभावी ढंग से कहना बिल्कुल दूसरी बात है और उसे पाठकीय संवेदना में उतार देना तीसरी और महत्वपूर्ण बात है। कहना तो हर आदमी को आ सकता है; प्रभावी ढंग से कहना वक्ता का कौशल है और ऐसे कौशल से कहना कि वह मन में गहरे उतर कर अर्थ की गाँठों को स्वयमेव खोल दे या वे खुद व खुद खुल जायें कलाकार की सार्थक अभिव्यंजना का प्रमाणीकरण है। इसी बिन्दु पर आकर कविता कविता है; अन्यथा तो वह जमुहाई मात्र है—लापरवाह कथन मात्र है और मात्र कथन कविता नहीं होता। आठवें दशक की अधिकांश कविताएँ ऐसी हैं जिनमें शब्द तो ठीक हैं; पर उनके अन्तस् की गहराइयाँ नदारद हैं। वे दूर की चीजें नहीं दिखाती हैं। 'सर्वेश्वर' ऐसे कवि नहीं है। उनकी भाषा पाठक से आत्मीय रिश्ता कायम करती हुई अनुभूति की हर परत को ऐसे उघाड़ कर रख देती है कि अनेक बार तो पाठक यही अनुभव करता है कि कथ्य ही भाषा बन गया है। इसके लिए कवि को बहुत मेहनत करनी पड़ी है। उसने अपने अनुभव को व्यक्त करते समय शब्द-शब्द को तौला है; उसकी अन्त: छवियों तक को टटोला है और उसके रंगों व ध्वनि-संकेतो तक को पहचाना है। इस प्रक्रिया में कहीं तत्सम और परिष्कृत शब्द उसके सामने आये हैं; कहीं अँग्रेजी, उर्दू और दैनिक जीवन के तो कहीं चिर परिचित शब्द भी नये अर्थ के वाहक बन कर आये हैं। सही और अभिप्रेत शब्दों का सहारा पाकर सर्वेश्वर की सृजन-क्षमता कई गुना बढ गई है। आम तौर पर 'सर्वेश्वर' की भाषा बोलचाल की भाषा है। वह उनके आस-फैले परिवेश की देन है। उसमें ऐसे शब्द अधिक हैं जो जिन्दगी की भाषा का निर्माण करते हैं। 'सर्वेश्वर' बराबर यह महसूस करते रहे है कि परिवेश की सही व्यंजना और उसमें उभरती स्थितियों और उनसे जुड़े मानवीय भावों, मनोभावों, क्रियाओं-प्रतिक्रियाओं के संप्रेषण के लिए भाषा की शक्तियों का सही इस्तेमाल जरूरी है। भाषा ही वह शक्ति है जो जीवन की सच्चाइयों से अवगति करा सकती है। जो भाषा अनुभूतियों को सम्प्रेषित करने में असमर्थ होती है, वह काव्य-भाषा नहीं हो सकती है। प्रत्येक शब्द का एक अथ होता है और हरेक अर्थ के साथ कुछ संकेत भी होते है। कवि की सफलता इस बात में नहीं है कि वह शब्द को पकड़े, वरन् इस बात में है कि उसमें छिपे सकेत को भी उजागर करे। 'सर्वेश्वर' ने यही किया है। यही वजह है कि मामूली सा शब्द भी गहरी अर्थवत्ता लेकर आया है

'सर्वेश्वर' की काव्य-भाषा में न तो आभिजात्य है; न तत्समीकरण और न शब्दों का अपव्यय है। उन्होंने अपनी अनुभूतियों के सम्प्रेषण के लिए बोलचाल की उस शब्दावली को काम में लिया है जो हमारे परिवेश में रिली-मिली है और हमारे रोजमर्रा के काम की है। उन्होंने बोलचाल के शब्दों को भी यों ही नहीं अपना लिया है। कविता में बिठाने से पहले 'सर्वेश्वर' उस शब्द की आत्मा में भी झाँकते रहे हैं। यही वजह है कि उनकी अधिकांश कविताओं में आये शब्द मात्र अर्थ के बोधक नहीं है; अपितु समूची वर्ण्य-स्थिति के व्याख्याता और प्रतिनिधि बनकर भी आये हैं। अज्ञेय और सर्वेश्वर की काव्य भाषा का मूल अंतर ही यह है कि अज्ञेय भाषा में आभिजात्य लाने के प्रयास में जनजीवन से दूर का रिश्ता कायम करते है और सर्वेश्वर जन-जीवन की शब्दावली को अपनाकर उससे करीबी रिश्ता कायम कर लेते हैं। नतीजा यह हुआ है कि अज्ञेय के शब्द पाठक को बाँधते तो हैं, पर उसे आत्मीय नहीं बना पाते हैं जबकि सर्वेश्वर के शब्द पाठक से बतियाते हुए उसी के साथ हो लेते है। उन्हें भाषा के किसी भी उस शब्द से परहेज नहीं रहा है जो संप्रेषण मे सहायक हो सकता है। इसी 'डेमोक्रेटिक व्यू' के कारण सर्वेश्वर की भाषा मे उर्दू, फारसी, अँग्रेजी, ब्रज और लोक जीवन की शब्दावली बेखटके चली आई है। सर्वेश्वर के काव्य में अनुभूति की माँग पर शब्द इस तरह चले आये हैं जैसे कि वे उसके मातहत हों और उनमें कवि-भावना की किसी भी फरमाइश को नकारने की हिम्मत न हो।

जहाँ तक सर्वेश्वर के शब्द विधान का प्रश्न है उसमें तत्सम शब्दों को सबसे कम स्थान मिला है। जहाँ ऐसे शब्द आये हैं, वहाँ वे भाषा-प्रवाह में खप गये हे, पर उनके ग्रहण और प्रयोग के प्रति कवि का न तो कोई आग्रह ही है और न मोह ही है। हाँ; कतिपय बहुप्रचलित और जीवन में अकस्मात् प्रविष्ट हुए तत्सम शब्दो को सर्वेश्वर ने उपेक्षित भी नहीं किया है। यही कारण है कि शव-यात्रा, क्रान्ति-यात्रा, अनवरत, प्रतिबिम्बित, सूत्रधार, आस्थावान, विवशता, उपहास, शख-ध्वनि, वेदी, संहारक अस्त्र, हिमगिरि, निर्वसन, चिबुक, नाभि, विलय, शान्त-निस्पद, अदृश्यमान संगीतकार, समाहित, आत्मनिष्ठ, परिधि-धर्मी, सामयिक, प्यार का उन्मेष, गिरि-तरु, शिखर, मादक आवेग, नैसर्गिक छटा, प्रशस्त, निराश्रित और विपन्न आदि शब्द उनकी बोलचाल की शब्दावली के बीच-बीच में आगये हैं। पहली बात तो यह है कि ये शब्द परिष्कृत हैं, पर अति परिष्कृत नहीं हैं और दूसरी यह कि इन्हें खोजना पड़ा है और इससे यह भी सिद्ध है कि कवि को ऐसी शब्दावली से मोह नहीं है। होता भी कैसे ? जिस कवि ने भाषा का आभिजात्य तोड़ा हो; कविता को आम आदमी के लिए लिखा हो और जो सुबह से शाम तक की छोटी से छोटी अनुभूतियों को कविता मे जगह देता रहा हो उसकी असली भाषा आम

आदमी की भाषा ही हो सकती है। हम जैसा बोलते हैं, वैसा ही यदि लिखें तो निश्चय ही हमारा लिखा पाठकीय संवेदना में अपनी पक्की जगह बना सकता है। सर्वेश्वर का प्रयास यही रहा है कि भाषा में जितनी सरलता और आत्मीयता होगी; वह उतनी ही लोकप्रिय और सहजग्राह्य होगी। सर्वेश्वर की भाषा का असली रूप तो यह है : "तुम वह सत्य हो/जहाँ मैं बार-बार लौटकर आता हूँ/वह शक्ति जिसके बल पर/अपने को ललकारता हूँ, जूझता हूँ/पराजित होता हूँ, फिर जयी बन जाता हूँ "[बाँस का पुल] या" मैं अधजले मकानों के पास रुक जाता हूँ/नारे लगाते जुलूस तेजी से निकल जाते हैं/शब्द दम तोड़ती मछलियों की तरह/उलटकर अर्थहीन हो जाते हैं उनमें और पथराई पुतलियों में/कोई अंतर नहीं दीखता/" [कुआनो नदी] आत्मीय शब्दावली के प्रयोग के कारण सर्वेश्वर की भाषा का शब्द-शब्द हमारा अपना; हमारी अनुभूतियों का वाहक और वर्तमान परिवेश में उभरी स्थितियों का हमसफर लगता है। भाषा का यही वह रूप है जो सार्थक सम्प्रेषणीयता का माध्यम बनकर पाठकीय चेतना में गहरे उतर जाता है। कवि की ये पंक्तियाँ मेरे कथन की गवाही दे सकती है : "कैसी विचित्र है जिन्दगी जिसे मैं जीता हूँ/एक सड़ा कपड़ा जा फटता जाता है/ज्यूँ-ज्यूँ सीता हूँ जब भी काढ़ने चलता हूँ/कोई सुन्दर फूल/एक पैबन्द लगाता हूँ और इस तरह बनाता जाता हूँ/एक लबादा, जिसे हर बार ओढ़ने पर थरता हूँ, फिर भी ओढ़ता जाता हूँ"/ [बाँस का पुल कैसी विचित्र है जिन्दगी]।

सर्वेश्वर की भाषा में जिन शब्दों ने ज्यादा जगह घेर रखी है वे घर-आँगन, गाँव, खेत-खलियान, खेत-मेड़, किसान-मजदूर, निचली बस्तियों और गरीब तबके की जिन्दगी से लिये गये हैं। ऐसा इसलिए हुआ है कि कवि कविता को हिम-शिखरों से उतार कर धरती पर लाने की कोशिश में लगा रहा है। वह अपने पैरों की आवाज से ही कविता का पट बुनता रहा है और विश्वास करता रहा है कि दर्द की हर गाँठ अपने ही छालों पर खोली जा सकती है। असल में सर्वेश्वर की कविता में जो जीवन आकार पाता रहा है, वह अभावों व शापों से निर्मित हुआ है। इसी से अपने कथ्य के संप्रेषण के लिए कवि ने देहाती परिवेश; मजदूरों की दुनियाँ और अपने परिवेश में फैले शब्दों को ही काव्याभिव्यक्ति के लिए चुना है। जहाँ परिष्कृत शब्दावली हमें ढूँढनी पड़ती है, वहीं यह शब्दावली अनायास ही कहीं भी, किसी भी कविता में मिल जाती है। आम के टिकोरे, सरबत की कतारें; नीम की निबौलियाँ, गर्दखोर झुलनी, सुरमई लहँगा, हँसुली, लकुटिया, ड्योढ़ी, सँझौती, उजियारा, महुए, चौपाये, काँसे के कंगन, कौआ, नौआ, बुलौआ, बलदेउआ, कन-कौआ, छागल, ढोल, मादल, बाँसुरी, पिपहरी, औंधाए, नगधडग, गठरियाँ, सौदे-सुलुफ मटोले सखा खुर अदहन तेल की ढिबरियाँ अनवासे मुँहअँधेरे दौरियाँ चलाती हैं नम मुरमुरी मिट्टी खुरपी कूड़ा बत्तीसी नरई का साग

मालमता, झोला, लद्दू, पद्दू, मरी खाल, लँगोटी-लाँग, बॉमन-नौआ, लेग, सुभीता, राम-बुलौआ जैसे सैकड़ों शब्द सर्वेश्वर की कविताओं में जमे बैठे हैं। ग्रामीण परिवेश की अभिव्यंजना के लिए और वहाँ की जिन्दगी के तमाम हालातों को सही रूप में संप्रेषित करने के लिए कवि ने इस शब्दावली का प्रयोग किया है। ध्यान रहे ये प्रयोग आरोपित नहीं हैं; ये तो जिन्दगी के एक हिस्से हैं। सर्वेश्वर की अधिकाश कविताओं का परिवेश ग्राम्य-संवेदना से जुड़ा है। अतः उसके संप्रेषण के लिए वैसी ही शब्दावली का प्रयोग करके कवि ने न केवल उस जिन्दगी को शब्दबद्ध किया है, अपितु उस संस्कृति; उस चेतना और उस हिस्से से भी अपना आत्मीय रिश्ता कायम किया है जो आज उपेक्षित होती जा रही है। 'कुआनो नदी' में तो यह स्पष्ट है ही; गर्म राख, 'बाँस का पुल' और 'एक सूनी नाव' में भी इस तरह की भाषा जगह-जगह देखी जा सकती है। लोक-संपृक्ति और उसके संप्रेषण के लिए तदनुकूल भाषा का प्रयोग सर्वेश्वर को सहज शिल्पी मानने का प्रामाणिक संदर्भ प्रस्तुत करता है। उदाहरणार्थ ये पंक्तियाँ देखिए जिनकी भाषा की सादगी; देहातीपन और विश्वसनीयता पाठक की चेतना में पूरे वर्ण्य-संदर्भ का बिम्ब उजागर कर देती है;

१ "पुल पर—दही के मटके लिए एक-एक कर अहीरों को/जाते देखता हूँ
वे सब शहर में दही बेचकर गाँव लौटते होते हैं/कभी-कभी किसी
के सिर पर लकड़ियों के बोझ भी होते हैं/या गठरियाँ, खरीदे
सौदे-सुलुफ की/··· सिंघाड़ों के तालों में/बड़े-बड़े
मटके औंधाए/मैं खटिकों को नंग-धड़ंग पानी में घुसे/
सिंघाड़े तोड़ते देखता हूँ/और खटकिनों को तार-तार कपड़ों में
लोहारों को धौंकनी के सामने/घोड़े सा मुँह लटकाये/
खुरपी, कुदाल और नाल बनाते हुए/बढ़इयों को ऐनक का
शीशा/सूत से कान में बाँधे/बँसखट के पाये गढ़ते हुए/" [कुआनो नदी]

२ "सुनो ! सुनो ! यहीं कहीं एक कच्ची सड़क थी/जो मेरे गाँव जाती थी/
नीम की निबौलियाँ उछालती/आम के टिकारे झोरती
महुआ, इमली और जामुन बीनती/जो तेरी इस पक्की सड़क पर
घरघराती/मोटरों और ट्रकों को अँगूठा दिखाती थी/उलझे धूल भरे
केश खोले/तेज धार वाली सरपत की कतारों के बीच/घूमती थी,
कतराती थी, खिलखिलाती थी/सुबह का तूली दुपट्टा/दोपहर की
मटमैली, गर्दखोर झुलनी/शाम का सुरमई लहँगा/सितारों की हमेल
चाँद की हँसुली पहने/""सावन के बादलों की बकरियों के पीछे/
बिजली की लकुटिया हिलाती भागती नजर आती थी"/ बाँस का पुल

इन दोनों उदाहरणों की भाषा में न केवल सादगी और विश्वसनीयता है, अपितु शब्द-शब्द मे एक बिम्ब है; एक-एक पक्ति में एक-एक जीवन-संदर्भ है और वह इतनी ईमानदारी से उठाया गया है कि पाठक को लगता ही नहीं कि यहाँ किसी भाषा का सहारा लिया गया है। यहाँ तो कथ्य स्वयं भाषा है और भाषा का हरेक शब्द अपने आप में कथ्य है। सर्वेश्वर ने न केवल लोक जीवन के शब्दों को अपनाया है, अपितु लोक भाषा को लोक-लय भी प्रदान की है। 'काठ की घंटियाँ' मे संकलित 'सुहागिन का गीत', 'बनजारे का गीत', 'सावन का गीत', झूले का गीत, 'चरवाहों का युगल गान' और 'आँधी पानी आया' जैसी कविताओं में लोक भाषा और लोकलय का आकर्षक समन्वय हुआ है। 'कुआनो नदी' में संकलित 'झाड़े रौ मँहगुआ' और 'गरीबा का गीत' रचनाएँ भी इसी प्रकार की हैं जिनमे लोक भाषा पूरी ताकत के साथ: पूरी अर्थवत्ता और प्रभावी, किन्तु सहज शैली के साथ प्रयुक्त हुई है। सर्वेश्वर जब लिखते हैं कि "घर में भूजी भाँग नहीं औ बाहर मियाँ मुजफ्फर/चारों खाने चित्त पड़े हैं/ऐसी खायी टक्कर"/तो यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है कि उनके पास एक ऐसी लोक-भाषा है जो हर कदम पर जिन्दगी को साथ लिए अपनी सहज अदाओं के साथ कविता में आ जमी है। सर्वेश्वर की भाषा का यह रूप इस तथ्य को भी उजागर कर देता है कि लोक-भाषा की शक्ति के सामने साहित्यिक भाषा का आभिजात्य स्वयमेव टूटने लगता है। सर्वेश्वर लोक जीवन से गहरे जुड़े होने के कारण ही सरल, आत्मीय पर प्रभावी भाषा को काव्य-भाषा बनाने में सक्षम हुए हैं। उन्होंने यह प्रमाणित कर दिया है कि लोक-भाषा और काव्य में अब तक प्रयुक्त होती रही भाषा में कोई अन्तर नहीं है। उल्लेखनीय यह है कि सर्वेश्वर ने लोक-भाषा को भी पर्याप्त व्यंजनाप्रधान; बिम्बप्रधान और वक्रतापूर्ण बनाकर प्रस्तुत किया है। उनकी लोक-शब्दावली; अपनी सरलता को अक्षुण्ण रखती हुई भी मार्मिक व्यंजनाएँ देती है। "लाला के बाजार में/मिली दुअन्नी/पर वह भी निकली खोटी/दिन भर सोई/बीच बाजार में बैठ के रोई/साँझ को लौटी/ले खाली झौआ"/में सीधी-सरल शब्दावली के सहारे निर्धनता के पंक मे डूबी पर अपने जीवन को लुटा कर भी खाली हाथ लौटने वाली नारी की करुण-व्यथा का बिम्ब पाठकीय चेतना में संप्रेषित हो जाता है। प्रत्येक पक्ति में एक-एक व्यंजना है और वह भी सशक्त। लाला के बाजार मे दिन भर सोने के बदले मिली खोटी दुअन्नी जहाँ धनिकों की व्यवस्था के चरित्र का बिम्ब देती है, वहीं 'बीच बाजार मे बैठ कर रोना' सामाजिक जीवन की अमानवीयता और अकरुणा को भी सकेतित करता है। जिस लोक-भाषा में इतनी प्रभावी व्यंजनाएँ देने की क्षमता हो; वह अकाव्यात्मक कैसे हो सकती है? इसी तरह 'कुआनो नदी' और 'जंगल का दर्द' मे आये ये भाषायी प्रयोग भी देखिए जो पूरी सरलता में बँधे होकर भी गहरी व्यंजनाएँ देते हैं १ रूप बनाये मरी साल के झाड़े रौ महँगुआ गली-गली चप्पल

चटकाई 'भय मुसंड गिरधारी/सबने ठेंगा ही दिखलाया/काम न आयी यारी"/ २ "मैं नाव से उतरता हूँ/और बिना उसकी ओर देखे/तेजी से इन इमारतों की की बगल से गुजर जाता हूँ/जिन पर 'सत्यमेव जयते' को खरोंच कर/लिखा हुआ हे 'सब चलता है'/दिल्ली की इन सड़कों पर"/ ३. तुम धूल हो/पैरों से रौंदी हुई धूल/बेचैन हवा के साथ उठो/आँधी बन/उनकी आँखों में पड़ो जिनके पैरों के नीचे हो/ऐसी कोई जगह नहीं/जहाँ तुम पहुँच न सको, ऐसा कोई नहीं जो तुम्हे रोक ले/"

'सर्वेश्वर' की भाषा वह सार्थक सेतु है जो लोक जीवन की शब्दावली और बोलचाल के शब्दों के सहारे तो बना ही है; उसमें विदेशी शब्दों का ईंट चूना भी लगा है। इसी कारण उनकी भाषा में अँग्रेजी, उर्दू-फारसी के शब्द भी बड़ी सख्या मे आये हैं। जहाँ जो शब्द सार्थक, प्रभावी और अनुभूत की व्यंजना में सहायक हुआ है; उसे बेखटके अपना लिया गया है। ठीक भी है जन-जीवन के प्रभावी बिम्बो की सृष्टि और उसमें फैली-पसरी स्थितियों के सार्थक संप्रेषण के लिए वही भाषा उपयुक्त हो सकती है जो आम आदमी की जुबान पर चढ़ी हुई हो। सर्वेश्वर ने अँग्रेजी, उर्दू-फारसी के उन्हीं शब्दों को अपनाया है जो हमारी जिन्दगी का अहम हिस्सा बने हुए है। इसीसे ऐसे शब्द उनकी काव्य-भाषा की उल्लेखनीय शक्ति बनकर आये है। इसके जो भी कारण रहे हों, यह निश्चित है कि कवि ने अपनी अभिव्यक्ति को ईमानदार, प्रभावी और पाठकीय संवेदना का हिस्सा बनाये रखा है। उनके यहाँ कोई भी शब्द वर्ज्य नहीं रहा है। वस्तुतः सर्वेश्वर की कविता इस तथ्य को प्रमाणित करती है कि साहित्यिक भाषा का परंपरागत चौखटा लोक भाषा और जन भाषा से ही टूट सकता है। बोलचाल के सार्थक और प्रसंगगर्भी शब्द साहित्यिक भाषा के महल की मजबूत नीव को भी हिलाने की क्षमता रखते हैं। जहाँ लोकभाषा के शब्द अपनी वक्र भंगिमाओं और मुहावरेदानी से मिलकर अभिव्यक्ति को प्रभावी बना देते हैं, वहीं अँग्रेजी के वे शब्द जो आजादी के बाद के वर्षों में जिन्दगी की स्थितियों से जुड़ते चले गये हैं; सर्वेश्वर की अनुभूतियों को संप्रेष्य बनाने में बडे कारगर सिद्ध हुए हैं। अँग्रेजी शब्दों को ही लीजिए वे सर्वेश्वर के यहाँ मेहमान बनकर नहीं आये हैं; वरन् उनकी भाषिक–संरचना के आत्मीय सहचर बनकर आये हैं। उन्होंने आलपीन, पिनकुशन, कर्ल, क्लोरोफार्म, थर्मामीटर, ऑपरेशन–टेबुल, थियेटर, स्टोव, एक्वेरियम, रोलर, डायनामाइट, पैकेट, परेड़, एअर रेड़, केशमीमो, स्कार्फ, रेडक्रास, ब्लैक बोर्ड, जार्जेट, प्लास्टिक, लिपिस्टिक, साइन बोर्ड, क्लब, सिनेमा, फैशन, वेनिटी बॉक्स, ऑफिस, काउण्टर, लाइनमैन, सिगनल, सर्चलाइट, माउथ आरगन, चेस्टर, पिकनिक, पोस्टर, लोअर ईस्ट गाइड़, कैसेट, टेप रिकोर्डर, बालकनी और पेपरवेट आदि अनेक अँग्रेजी शब्दों को अपनी भाषा में जगह दी है। ये शब्द ऐसे नहीं हैं जो जान बूझकर काम में लिये गये हों ये तो अँग्रेजीयत को दफना कर

हमारी बोलचाल की भाषा की पोशाक पहन कर कविता में आये हैं। तभी तो इन्हे पाठक् एक रौ में पढ़ जाता है और पढ़ते समय उसे लगता ही नहीं कि वह किसी विदेशी भाषा के शब्दों की गली से गुजरा है। सर्वेश्वर और कतिपय नये कवियों के अँग्रेजी शब्द–प्रयोग का अन्तर ही यह है कि जहाँ वे केशीय शब्दावली को अपनाकर अपनी अँग्रेजीयत को प्रकट करते हैं, वहाँ सर्वेश्वर उन्हीं शब्दों को अपनाते हैं जो हमारे अपने हो गये हैं। उदाहरण के लिए ये पंक्तियाँ लीजिएँ जिनमें अँग्रेजी, उर्दू के शब्द साथ–साथ देखे जा सकते हैं :

"तुम—जिसके बालों में बनावटी 'कर्ल' नहीं है;
जिसकी आँखों में न गहरी चटख शोखी है;
थर्मामीटर के पारे–सी
चुपचाप जिसमें भावनाएँ चढ़ती–उतरती हैं;
अपने सपनों की सुई तले/किसी रेकार्ड-सी
जो स्वयं घूमती गाती है/जिसकी जवानी
खुद जिसके लिए 'क्लोरोफार्म' का
एक मीठा नींद-भरा हलका झौंका है"[1]

जहाँ तक उर्दू–फारसी के शब्दों का प्रश्न है, वे तो सर्वेश्वर की भाषा की सबसे बड़ी शक्ति हैं। ऐसे शब्दों की सख्या सबसे अधिक है। किसी भी कविता को उठा लीजिए, उसमें उर्दू–फारसी के शब्द मिल जायेंगे। ऐसे शब्दों का अधिक प्रयोग वहाँ अधिक हुआ है जहाँ कवि का भावुक मन प्यार की लहरों पर तैरता कभी उमगित हुआ है तो कभी दर्द के महासागर से घिर गया है। यही वजह है कि ऐसे शब्द 'काठ की घंटियाँ', 'बाँस का पुल', 'एक सूनी नाव' और 'गर्म हवाएँ' की कविताओं में अधिक हैं। 'कुआनो नदी और 'जंगल का दर्द' की भाषा में इन्हे अपेक्षाकृत कम स्थान मिला है। इन दोनों संग्रहों में सर्वेश्वर की भाषा मामूली से मामूली शब्दों की आत्मा के रंगों को लेकर आई है। इनमें रोजमर्रा के शब्द-प्रतीक गहरी अर्थवत्ता लेकर आये है। 'कुआनो नदी' की भाषा में गाँव का रंग है; वहाँ की लोकोक्तियाँ हैं; वहाँ की जिन्दगी को बिम्बों में बाँधने वाले ठेठ शब्द हैं और हैं वे शब्द जो ग्राम्य–सवेदना–संस्कृति और परिवेश की अक्षय निधि हैं। 'जंगल का दर्द' की भाषा तो मामूली शब्दों को भी प्रतीकों की पोशाक पहनाकर सामने लाई है। व्यंजकता, प्रेषणीयता और आत्मीयता 'जंगल का दर्द' की भाषा का उल्लेख्य गुण है। सर्वेश्वर ने भाषा को इतना सरल बनाने की कोशिश की है कि कहीं-कहीं तो लगता ही नहीं कि हम कोई कविता पढ़ रहे हैं। हमें यही लगता है कि हमसे

1 काठ की घंटियाँ पृ 100

कवि नहीं; हमारा ही कोई रूप बात कर रहा है। ऐसा इसलिए कि कवि का प्रयास ही यह रहा है कि वह उस सही शब्द को खोज ले जो जीवन के विविध सम्बन्धो को अपने ढग से पाठक तक संप्रेषित कर सके। असल में शब्द की खोज ही सर्वेश्वर की असली खोज है। महत्व शब्द का है क्योंकि किसी अनुभूति के लिए सही शब्द का मिल जाना बड़ी बात है। आज के युग में जब कविता का पारंपरिक ढाँचा टूट गया हो तो कविता में सम्प्रेषणीयता लाने के लिए शब्द की सही खोज और उसका सही प्रयोग करना ही कवि की बहुत बड़ी सफलता है। अज्ञेय ने तो लिखा है कि "लेखक के नाते और उससे भी अधिक कवि के नाते मैं अनुभव करता हूँ कि यही समस्या की जड़ है। मेरी खोज भाषा की खोज नहीं है, केवल शब्दों की खोज है। भाषा का उपयोग मैं करता हूँ, निस्सन्देह, लेकिन कवि के नाते जो मैं कहता हूँ वह भाषा के द्वारा नहीं, केवल शब्दों के द्वारा। मेरे लिए यह भेद गहरा महत्व रखता है।"[1] अज्ञेय का यह कथन सर्वेश्वर पर भी लागू होता है। उन्होने बराबर यह प्रयास किया है कि उनके अनुभव मामूली से मामूली आदमी तक सही ढंग से सम्प्रेषित हो सक। उनके इस प्रयास को 'काठ की घंटियाँ' से लेकर 'जगल का दर्द' तक की कविताओं में बखूबी देखा जा सकता है। कारण यह है कि सर्वेश्वर ने अपने कृतित्व, व्यक्तित्व और अस्तित्व मे एक गाढ़ी मैत्री स्थापित की है। उनके शब्द उनकी अनुभूतियों के आत्मीय बनकर आये हैं। शब्दों का प्रयोग कुछ इस ढंग से हुआ है कि उनकी अर्थवत्ता कायम रही है। ठीक भी है यह देखना अनिवार्य नहीं कि शब्द का रूप कैसा है ? या वह किस परिवेश से उठाया गया है। महत्व इस बात का है कि जो शब्द आया है उसकी अर्थवत्ता और प्रासंगिकता कितनी है या वह हमे कितनी दूर तक का अर्थ बतलाता है। स्पष्टीकरण के लिए कुछ पंक्तियाँ लीजिए :—

"और आज छीनने आये हैं वे/हमसे हमारी भाषा/
यानी हमसे हमारा रूप/जिसे हमारी भाषा ने गढ़ा है/
और जो इस जंगल में/इतना विकृत हो चुका है/
कि जल्दी पहचान में नहीं आता।"[2]

हमसे हमारी भाषा का छिन जाना हमारे व्यक्तित्व और अस्तित्व का मिट जाना है। चंद मामूली से शब्दो के द्वारा ही (छीनने आये हैं वे, हमसे हमारा रूप) कवि ने यह अर्थ हमें सौंप दिया है कि भाषा का छिन जाना हमारी जातीय परंपरा, सस्कृति, इतिहास और दर्शन का छिन जाना है। हमारी सांस्कृतिक चेतना संकट के कगार पर खड़ी है। सत्ताधीशों का स्वार्थ इतना बढ गया है कि वे अनेक रूपो मे हमारी सांस्कृतिक अस्मिता को नष्ट करने पर तुले हैं। यही अर्थ उपर्युक्त पंक्तियो से जुडा है। इसी प्रकार जब कवि कहता है : "अर्थ, अर्थ—अब कहीं किसी चीज का कोई

---

1 अज्ञेय : आलवाल पृ० 10

2 गम हुआए पृ० 28

अर्थ नहीं न ही किसी को अर्थ की तलाश है/दुनियाँ बदहवास है/जो दुख से नहीं ऊबा/वह सुख से ऊबा हुआ है हर पहाड़ चुल्लू भर पानी में डूबा हुआ/इमारतें जितनी ऊँची होती जा रही हैं/दिलों का आकार उतना ही छोटा/न कुछ खरा है न खोटा ।"[1] तो जाने-पहचाने शब्दों में इतनी अर्थवत्ता भर देता है कि पाठक की चेतना मे अर्थहीन जिन्दगी; दुनियाँ के रंग-ढंग और दिनों-दिन मूल्यहीनता के बढ़ते चरणों से आक्रान्त जिन्दगी का बिम्ब कौंधने लगता है। इमारतों के अनुपात में दिलों की ऊँचाई का न बढ़ना और खरे-खोटे की पहचान का मिट जाना कहकर कवि ने भौतिक दुनियाँ के बढ़ते हुए रूप और सांस्कृतिक चेतना के धीरे-धीरे कम होते जाते स्वरूप को साफ कह दिया है। यहाँ बोलचाल के शब्दों में इतनी अर्थवत्ता और प्रासंगिकता आ गई है कि जैसे ही पाठक इन शब्दों से गुजरता है; सारी स्थिति उसकी चेतना का अंग बन जाती है और उसे यही लगने लगता है कि कोई हमारा ही रूप हमसे अंतरंग वार्ता कर रहा है। कविता में ऐसे शब्दों का आना कि वे मामूली होकर भी गहरा अर्थ दें और उनसे प्राप्त अर्थ प्रासंगिक भी हो; कविता की सफलता की पक्की निशानी है। ऐसे ही स्थलों पर भाषा सेतु बनकर आती है और कवि का अनुभूत (व्यक्ति सत्य) पाठक का भी अनुभूत हो जाता है। सर्वेश्वर की कविताओं में ऐसे सैकड़ों उदाहरण मौजूद हैं : "एक शहर/चिपक रहा है मेरे जूतों में/मैं लौटना चाहता हूँ/हाथों मे बसी, कच्चे मसाले की गंध/मेरे पीछे-पीछे घूम रही है/और रूमाल होटलों मे छूट गये हैं/" [एक सूनी नाव : एक शहर कविता] "तुम्हारे साथ रहकर/अक्सर मुझे ऐसा महसूस हुआ है/कि दिशायें पास आ गयी हैं/हर रास्ता छोटा हो गया है/दुनियाँ सिमटकर, एक आँगन बन गयी है/ ''तुम्हारे साथ रहकर, अक्सर मुझे महसूस हुआ है/कि हर बात का एक मतलब होता है/यहाँ तक कि घास के हिलने का भी, हवा का खिडकी से आने का/और धूप का दीवार पर/चढकर चले जाने का/" [एक सूनी नाव : तुम्हारे साथ रहकर कविता] "देखने-सुनने और समझने के लिए/अब यहाँ कुछ नहीं रहा/सत्ताधारी, बुद्धिजीवी, जननायक, कलाकार सभी की एक जैसी पीठ काली चमकदार/एक जैसी रचना/एक जैसा ससार, पच्चीस वर्षों से लगातार/यही देखते-देखते/लगता है हम सब/गौबरेलों में बदल गये हैं/" [कुआनो नदी] "खेतों के मेड़ों की ओस नमी मिट्टी/जितनी देर मेरे इन पाँवों में लगी रही/उतनी देर जैसे सब मेरे अपने रहे/उतनी ही देर जैसे सारी दुनियाँ सगी रही/किन्तु मैंने जैसे ही जूते मौजे पहन लिए/जेब के पर्स का ख्याल आने लगा/" [बाँस का पुल : 'भरम गये हो तुम' कविता]

ऐसे अनगिनत उदाहरण सर्वेश्वर की कविताओं में मौजूद हैं जो कवि के अनुभूत को पूरी ईमानदारी और सफलता के साथ पाठक की चेतना तक संप्रेषित

---

2 बम बहाए, पृ॰ 86

कर देते हैं। असल में सर्वेश्वर ने एक ऐसी काव्य–भाषा तलाशी है जो वर्तमान परिवेश में साँस लेने वाले हरेक इन्सान की है; हरेक की जानी–पहचानी है और हरेक का उससे गहरा व करीबी रिश्ता है। ऐसी भाषा और कवियों की भी है, परन्तु सर्वेश्वर की विशेषता यह है कि उन्होंने जाने–पहचाने शब्दों में भी गहरा अर्थ भर दिया है। इसका कारण यही है कि सर्वेश्वर यह जानते हैं कि पारंपरिक भाषा कई बार भाव बोध को विकृत कर देती है। ठीक भी है अनुभूति की सूक्ष्मता और परिवेश प्रेरित तीक्ष्णता–जटिलता को उसी भाषा में कहना ज्यादा सगत है जो हमसे–हमारी जिन्दगी से जुड़ी हुई है। सर्वेश्वर ने आम आदमी की एक मुक्त भाषा खुली परन्तु अर्थगर्भी भाषा को अपनाकर अपने अनुभूत को संप्रेषित किया है। उन्होंने अपनी भाषा में एक ओर तो उस रंग और अदा को अपनाया है जिसमें एक तर्ज है; एक बहार है और दूसरी ओर उस भाषा को संप्रेषण के साधन के रूप मे ग्रहण किया है जो कविता को गाने की वस्तु बनाने के बजाय पढ़ने की वस्तु प्रमाणित करती है। जहाँ भाषा गाने की चीज है, वहाँ उसकी तर्ज मोहक है : "चाँद गीले बादलों में मो रहा है/चाँदनी को कुछ नशा सा हो रहा है/नींद में फैंके गये पाँसे झकोरे/होश किसको क्या मिला, क्या खो रहा है/गुदगुदी का दर्द उभरा आ रहा है/खिलखिला बेदम जमाना रो रहा है/"[1] इसके विपरीत एक वह भाषा है जो पढी जाने के लिए है। उसमें जिन्दगी की समस्याएँ; विविध संदर्भ और अनगिनत स्थितियो को शब्दबद्ध किया गया है। ये उदाहरण देखिए और भाषा की इस शक्ति का अदाज लगाइये :

1. "जब भी/भूख से लड़ने/कोई खड़ा हो जाता है/
   सुन्दर दीखने लगता है/झपटता बाज/फन उठाये साँप/
   दो पैरों पर खड़ी/काँटों से नन्हीं पत्तियाँ खाती बकरी/"[2]

2. "गिलास को औंधा रख देने से, गिलास की क्षमता नष्ट नहीं होगी/
   यह एक स्थिति है, नियति नहीं/स्थिति आसानी से बदली जा सकती है/
   केवल थोड़ी सी हरकत जरूरी है/तुम्हें हाथ बढ़ाना होगा/
   और अपने ही भीतर कहीं/बोतल की कार्क खोलनी होगी/[3]

3. "पचास करोड़ आदमी खाली पेट बजाते/ठठरियाँ खड़खड़ाते/
   हर क्षण मेरे सामने से गुजर जाते हैं/झाँकियाँ निकलती हैं/

---

1. काठ की घंटियाँ पृ० 305
2. जंगल का दर्द पृ० 35
3 वही पृ० 51

ढोंग की विश्वासघात की/बदबू आती है हर बार/एक मरी
हुई बात की/लोकतंत्र को जूते की तरह लटकाये/भागे जा रहे हैं
सभी/सीना फुलाये/"[1]

ध्यान देने की बात यह है कि सर्वेश्वर की जनभाषा में वक्रता और व्यंजकता गहरी है। सीधे और मामूली से शब्दों के द्वारा कवि ने गहरी व्यंजनाएँ दी हैं। इसके लिए उनकी भाषा व्यग्य भाषा भी बनी हैं; वक्र भंगिमाओं में भी सजी-सँवरी है और गहरे संकेत भी देती रही है। उदाहरण के लिए ये पंक्तियाँ पढ़िये : "क्यो हर हाथ टूटा है/क्यों हर पैर कटा हुआ है/क्यों हर चेहरा मोम का है/क्यों हर दिमाग कूड़े से पटा हुआ है/क्यों यहाँ कोई जिन्दा नहीं है ?.....मै एक मक्खी की तरह/खुद अपने ऊपर भिनभिनाने लगता हूँ/दिल्ली की इन सड़कों पर/"[2] इसी के साथ ये पंक्तियाँ भी देखिए जिनमें कवि ने मामूली से शब्दों का सहारा लेकर गहरा संकेत दिया है : "गरीबी हटाओ सुनते ही/वे हर घायल कान को अपनी जबान से चाटने लगे/और ठीक उनके नाप के शब्द बोलने लगे/जब कान छोटे होते शब्द छोटे कर देते/जब कान बड़े होते शब्द बड़े कर देते/इस खींचतान मे शब्द टूट गये/और पहचान से परे हो गये/फिर उन्होंने अपनी जबानें सिल लीं/"[3] यहाँ एक भी ऐसा शब्द नहीं है जो अपरिचित हो। हरेक शब्द की अपनी अर्थवत्ता है; गहरा संकेत है। खुशामदीपन या चाटुकारिता के कारण टुकड़खोरी की बढ़ती आदत और कुत्ते की तरह दुम हिलाने की इन्सानी प्रवृत्ति की व्यंजना जिस सरल और सांकेतिक भाषा मे दी गई है वह पाठक को बाँध लेती है : "जब हर चेहरा/हाँफता लार टपकाता/नजर आये/पुचकारते ही/दुम हिलाये/दुलारते ही पेट दिखाये/सारा माहौल कँकुआने से भर जाये/तब समझदार को चाहिये कि वह डर जाये/" इसी प्रकार जब सर्वेश्वर लिखते हैं कि "भेड़िये की आँखें सुर्ख हैं/उसे तब तक घूरो/जब तक तुम्हारी आँखें/सुर्ख न हो जायें/और तुम कर भी क्या सकते हो जब वह तुम्हारे सामने हो/यदि तुम मुँह छिपा भागोगे/तो भी तुम उसे/अपने भीतर इसी तरह खड़ा पाओगे. यदि बच रहे भेड़िये की आँखें सुर्ख हैं/और तुम्हारी आँखें ?" [जगल का दर्द] इन पक्तियों में अर्थ व्यंजित है। मुख्य अर्थ और व्यंजित अर्थ यहाँ अद्वैत की जिस भूमि पर खड़े है; वह शब्द और अर्थ का अद्वैत है। कवि का अनुभव ही यहाँ अभिव्यक्ति बनकर पाठक की संवेदना में प्रविष्ट हो जाता है। अर्थ के ऐसे ही अनेक सूक्ष्म स्तर सर्वेश्वर की कविताओं में मिलते हैं। वस्तुत सर्वेश्वर ने जन-भाषा के तहत भाषा की अनेक छिपी शक्तियों को उजागर किया है। अनेक स्थलों पर तो

---

1. गर्म हवाएँ पृ० 15
2. कुआनो नदी पृ० 29
3. वही पृ० 45

उनकी व्यंग्य-प्रवृत्ति भाषा की आत्मा में प्रविष्ट होकर ऐसी गहरी व्यंजनाएँ देती है कि पाठक उस शब्द-संयोजन पर विस्मित—विमुग्ध हो उठता है। उल्लेख्य बात यह है कि सर्वेश्वर के पास अपनी अनुभूति को सम्प्रेषित करने के अनगिनत ढंग हैं। वे बहुत सी बातें एक साथ कह जाते हैं। पहले चुपके से एक शब्द; एक वाक्य आपके सामने आयेगा; फिर उसी में से वाक्य पर वाक्य निकलते जायेंगे और आपको यही लगता रहेगा कि आप अपने किसी आत्मीय से पास बैठ बातें कर रहे हैं। 'स्थिति यही है' और खिड़की 'नहीं खोलूँगा।' कविताएँ इस कथन का साक्ष्य प्रस्तुत कर सकती हैं।

'सर्वेश्वर' की काव्य—भाषा जिन शब्दों से बनी है वे शब्द पाठक को आम आदमी से लेकर सत्ताधीशों, पूँजीपतियों, चतुर-स्वार्थियों और वर्तमान व्यवस्था मे लुटे—पिटे और विवश इन्सानों की धड़कनें सुनाते हैं। उनमें जिन्दगी और परिवेश के अनगिनत रंग इस तरह आकर घुल गये हैं कि शब्द—शब्द जिन्दगी का पर्याय, स्थितियों का भोक्ता और मनोवृत्तियों का व्याख्याता बनकर आया है। इसीसे उनकी कविताएँ सम्प्रेषण में अधिक सफल हैं। सर्वेश्वर ने अनुभूति और अभिव्यक्ति के स्तर पर बराबर यह ध्यान रखा है कि कविता में सम्प्रेषणीयता कहीं भी बाधित न हो। "एक थे हाँ हाँ/एक थे नहीं—नहीं/जहाँ—जहाँ गया मैं मिले मुझे वहीं—वहीं/" जैसी पंक्तियों में ही नहीं पूरी की पूरी कविता में गिने—चुने शब्दों के सहारे ही व्यक्तियों के स्वभावगत वैशिष्ट्य को बड़ी खूबी के साथ संप्रेषणीय बना दिया गया है। इसी प्रकार 'धीरे-धीरे', 'स्थिति यही है', 'बाँस-गाँव', कुआनो नदी', 'गरीबी हटाओ', 'कुत्ता', 'काला तेंदुआ', 'मुक्ति की आकांक्षा', 'खरौंच'. 'चुपचाप', 'रात', 'दरवाजे बंद हैं' और 'भुजैनियाँ का पोखरा' आदि कितनी ही कविताओं में कवि की भाषा संप्रेषण का सार्थक सेतु बन कर आयी है। इन कविताओं में वर्तमान परिवेश और उसमें साँस लेते, किन्तु कराहते-टूटते जीवन को शब्द-बिम्बों के सहारे संप्रेषणीय बनाया गया है। कवि का हर अनुभव शब्द-शब्द को पकड़ता हुआ सारे परिवेश को उजागर कर देता है। 'कुआनो नदी' की भाषा तो व्यंजकता और प्रतिकान्वेषी वृत्ति के कारण मानवीय सम्बन्धों की व्यथा व संस्कृति बोध को संप्रेषित कर देती है "उधड़ती जा रही है/सींवन हर देह की/टाँके दिन पर दिन कच्चे होते जा रहे है/पर हाथ में मारने वाली छड़ियाँ/और मजबूत और रंगीन होती जा रही हैं/सारा देश एक ठंडे भाड़-सा दीखता है/" [कुआनो नदी] धीरे-धीरे कुछ नहीं होता/सिर्फ मौत होती है/का अनुभव न केवल यथार्थ है, अपितु वास्तविक होने से आसानी से संप्रेषित भी हो गया है। भाषा की यह संप्रेषण शक्ति 'खिड़की नहीं खोलूँगा' या "किसी असमर्थ की प्रतीक्षा से/बन्द कमरे की घुटन बेहतर है/जिसने खुद अपनी जबान काटली हो/उससे नहीं बोलूँगा जैसी पंक्तियों मे तो खासी प्रभावी व व्यंजक हो

गई है। 'कुआनो नदी' और 'जंगल का दर्द' में सर्वेश्वर ने मामूली शब्दों में प्रतीकत्व भरकर इस संप्रेषण–क्षमता को और बढ़ा दिया है। इन्हीं संग्रहों में कतिपय प्रभावी वक्तव्यों से भी भाषिक प्रेषणीयता द्विगुणित हुई है। जनजीवन के शब्दों; जाने-पहचाने मुहावरों और लोक-विश्वासों को अनुभूति में लपेट कर सर्वेश्वर ने इस प्रकार प्रस्तुत किया है कि उनकी भाषा व्यंजक; ध्वनि मूलक; प्रतीकमय और बिम्ब युक्त होकर प्रेषणीयता का एक खुला-संसार रचती दिखाई देती है। भाषा की यह प्रेषणीयता उनकी प्रेमिल अनुभूतियों को भी उसी तरह पाठकीय संवेदना का हिस्सा बना गई है जैसे परिवेश के त्रासद और भयावह रूप को बनाती रही है। 'तुमसे अलग होकर' और 'तुम्हारे साथ रहकर' जैसी कविताएँ इसकी गवाही दे सकती है। अतत: यही कि सर्वेश्वर की भाषा नयी कविता की भाषा है। उसमें न केवल जीवन और अनुभव का खुलापन है; अपितु वह आदमी के दर्द व उसकी मामूलीयत मे छिपी असाधारणता को उजागर करने वाली सही सार्थक भाषा है। वह जैसे अनुभूत को अभिव्यक्ति देने में सक्षम है वैसे ही पाठक के आमने-सामने होकर उससे खुला संवाद करती हुई अनेक भाषिक क्षमताओं को विकसित करने में भी काफी आगे है। सही अर्थों में उनकी भाषा अपनी तमाम सरलता के बावजूद अनुभवों से उपजी भाषा है। उसमें न तो गलतबयानी के लिए कोई गुंजाइश है और न अभिजात्य के प्रति मोह है। कवि की मान्यता भी यह रही है :

"एक गलत भाषा में/गलत बयान देने से/मर जाना बेहतर है
यही हमारी टेक है/"....
"आभिजात्य तोड़ता हूँ/जो भी शब्द आता है जुबान पर/
कहने मे नहीं डरता हूँ/" [गर्म हवाएँ]

अपनी इसी मान्यता के कारण सर्वेश्वर ने राजनैतिक–सामाजिक और सास्कृतिक परिवेश व उससे उत्पन्न संकट तक को भाषा के बोलचाल वाले रूप से व्यक्त किया है। यह माना कि इस भाषा का मिजाज गद्य का सा है; पर कवि मानस की सृजनात्मक क्षमता यहाँ कहीं भी गायब नहीं हुई है। प्रारंभिक काव्य-सग्रहों में भाषा का 'टोन' भावपरक है तो बाद में वह वैचारिक मुद्रा लेकर आया है। वैचारिक भाषा का रूप भी सपाटबयानी से दूर है। उसमें व्यंजनात्मक पंक्तियों की भरमार है। 'कुआनो नदी' और 'जंगल का दर्द' की भाषा मे जो वैचारिक रंगत है उसे कवि की चिन्तना का; उसके अनुभवों का निचोड़ कहा जा सकता है। भावुक मनोवेगों को यदि प्रेमिल–कोमल शब्दों से मूर्तित किया गया है तो अनुभव की खराद पर रखकर जो चिन्तन उभरा है; उसे प्रभावी सूक्तियो से कहा गया है। सूक्तियों से कहा गया है। सूक्तियों में ढलकर; किन्तु वैचारिक आग मे तपकर सर्वेश्वर की भाषा का जो रूप बना हैं; उसकी बानगी यह है :

'रगों में खून खौला है पर हर बार अँगीठियों से चेहरों पर/रोटिय

ही सेंकी गयी है/"......"चंद कोयले ही अगर जल उठें/तो बाकी गीले कोयले भी आग पकड़ लेते हैं/" .. "पर याद रखो/फैसले पर न पहुँचा हुआ आदमी/फैसले पर पहुँचे हुए आदमी से/ज्यादा खतरनाक होता है/"..... 'आदमी गुप्ती है, जो 'एक झटके से तेज धार में बदल जाता है/" ..."स्वाभिमान से मरते हुए आदमी की/एक उपेक्षा भरी हँसी/बुलेट से ज्यादा गहरा घाव करती है/" "एक कटी हुई जबान/करोड़ों सिली हुई जबानों को खोल देती है/" "साँप का फन नहीं है यह आजादी की भावना/जिसे तुम कुचल दोगे, वह एक सुगंधि है, जो एक सड़ते नाबदान मे/सारी दुनियाँ के सूअरों के घुघुआते बैठ जाने पर भी/नष्ट नहीं होगी/" . "शत्रु किसी भौगोलिक सीमा का/पर्याय नहीं होता/वह उतना ही बाहर होता है/जितना अपने भीतर/उसे हम विवेक की रोशनी में पहचानते हैं/और विचारों की ऊँचाई से उसका कद नापते हैं/उसकी बर्बरता हम/इंसानियत के संदर्भ में तौलते हैं/चद कीडों को मारने के लिए/हम पूरे बन में आग नहीं लगा देते हैं " [कुआनो नदी]

ऊपर से देखने पर कविताओं के ये टुकड़े कथन मात्र या वक्तव्य लग सकते है, किन्तु हैं नहीं। जिन कविताओं से ये टुकड़े लिये गये हैं वे पूरी की पूरी कविताएँ वैचारिक तपन के परिणामस्वरूप लिखी गई सशक्त कविताएँ है। इनमें कवि के अनुभव हैं जिन्हें सदर्भ से काटकर देखना आलोचकीय ईमानदारी का प्रमाण नहीं होगा। ध्यान से देखने पर यह भी जाहिर हो जाता है कि इनकी भाषा भी आम आदमी की भाषा है। रोजमर्रा की यह शब्दावली गहरी व्यंजनाएँ लिए हुए है। यदि ये मात्र कथन होते तो ये तत्सम और सामासिक शब्दावली में लिखे गये होते। ऐसा इसलिए कि जब भी कभी कोई कवि सूक्तियों की भाषा बोलता है तो उसकी शब्दावली में एक संक्षिप्ति—एक कसावट स्वयं ही आ जाती है। यहाँ ऐसा कुछ भी नहीं है। यहाँ तो कवि का चिन्तन भी कोरा चिन्तन नहीं है। उसमें कविता का अन्दाज है और इसी से इनकी भाषा भी जिन्दगी की कोख से जन्मी भाषा है। अनुभव की आँच में तपकर भी यह भाषा जिन्दगी से जिन्दगी की भाषा में बतिया रही है। जो शब्द प्रतीक बने हैं वे भी ऐसे नहीं कि उनके अन्तस् में छिपी अर्थ-ध्वनियाँ पकड़ में न आ सकें। कारण यही है कि इतनी प्रतीकात्मक और व्यजनात्मक भाषा तो आम आदमी भी बोलता और समझता है।

कुल मिलाकर यही कह सकते हैं कि सर्वेश्वर ने जिस भाषा को अपनाया है वह जन भाषा है; लोक-भाषा है और है संस्कृति बोध की भाषा। कवि ने उसमे आये शब्दों को उनकी गहरी अर्थ-छबियों के साथ पूरी तरह आत्मसात् किया है, अनुभूत्र किया है तभी तो उनकी कविता सही शब्दों पर खड़ी है। उसके द्वारा प्रयुक्त शब्द 'पैंच वर्क' नहीं लगते हैं; एक सच्ची भाषा का निर्माण करते हैं। जीवन के विविध संदर्भों का साक्षात्कार कराने के लिए सर्वेश्वर ने भाषा को सत्य के रूप मे पाया है एक आस्था के रूप में इस्तेमाल किया है एक अनिवार्य और अनुकूल

स्थिति के रूप में जिया है और साथ ही उसे उस पारंपरिक जंगल से निकालकर एक ऐसी जमीन पर खड़ा किया है जहाँ वह खुद और उसका पाठक खड़ा है। इसी से उसकी भाषा एक खुली भाषा है। उसमें अनुभवों को संप्रेषित करने की अपूर्व क्षमता है। यही कारण है कि यह भाषा प्रेम के अपरिभाषित सदर्भों को व्यक्त कर सकी है; देह की गंध महसूस करा सकी है; राजनैतिक स्थितियों से जुड़ सकी है; सामाजिक विसंगतियों को बिम्बों में बाँध सकी है और गुर्राते भेड़ियों; तेंदुओं और फुफकारते साँपो की नीयत को व्यंजित कर सकी है। सर्वेश्वर ने अनुभूत को सही भाषा में कहा है और पिरोया है उस बोली में जो सीधी-सरल और आसानी से समझ में आने वाली है।

प्रतीक और संप्रेषण

भाषा यदि संप्रेषण का सार्थक सेतु है तो सेतु को मजबूत और अलंकृत बनाये रखने मे प्रतीकों का महत्व किसी भी हालत में कम नहीं है। सृजन और प्रेषण; सर्जक और पाठक के बीच गहरा रिश्ता बनाये रखने के लिए संप्रेषण के सभी माध्यमों का महत्व है न किसी का कम न किसी का ज्यादा। कविता का समग्र कथ्य यदि भाषा पर टिका है तो उसे अधिक प्रभावी और सहज ग्राह्य बनाने के लिए बिम्ब, प्रतीक और उपमान सभी अपने ढंग से एक भूमिका निभाते हैं। प्रतीकों मे न केवल सूक्ष्म निदर्शन की शक्ति होती है, बल्कि उनके माध्यम से विस्तार-वक्तृता भी संक्षेप धारण कर लेती है क्योंकि प्रतीकों का जन्म ही कम से कम शब्दों के माध्यम से अधिक से अधिक अर्थ व्यक्त करने की प्रवृत्ति के परिणाम स्वरूप हुआ है। प्रतीक किसी अदृश्य या अप्रस्तुत के निमित्त प्रस्तुत किये गये प्रत्यक्ष या दृश्य संकेत हैं। स्पष्ट शब्दों में रूप गुण और भाव को अवगत कराने वाली वह कल्पना प्रतीक कहलाती है जिसमें उपमेय का निगरण हो जाता है। स्मरणीय यह है कि प्रतीक शब्द मात्र होते हैं; वाक्य नहीं। अतः "साहित्य में हम जिन प्रतीकों की चर्चा करते हैं वे अनुभव या अनुभूति की अवस्था विशेष के शाब्दिक प्रतिरूप हैं।"[1] यथार्थ जीवन के साहचर्य से ही प्रतीकों में अर्थ भरता और बदलता रहता है। मनुष्य के व्यक्तिगत अनुभव से असंपृक्त रहकर न तो उसमें अर्थ आता है न व्यक्तित्व। काव्यात्मक प्रतीकों में जहाँ भावोद्बोधन की क्षमता विद्यमान रहती है, वहाँ वे अर्थ की विपुलता के निमित्त भी अपना विशेष सहयोग प्रदान करते हैं।

'सर्वेश्वर' के प्रतीक उनके अनुभवों के शाब्दिक प्रतिरूप हैं। उन्हें कवि ने अपने आस-पास फैले परिवेश से उठाया है। नये कवियों ने ऐतिहासिक और पौराणिक प्रतीकों का प्रयोग करके नयी अर्थ-प्रस्तुतियाँ की हैं; किन्तु सर्वेश्वर ऐसे नये कवि हैं जिनका सारा ध्यान अपनी बगल में खड़े राजनैतिक, सामाजिक और प्राकृतिक परिवेश पर रहा है। दैनिक जीवन की घटनाएँ; स्थितियाँ और मानवीय

१ डा० द्विवेदी, साहित्य के रूप पृष्ठ 272

सम्बन्धों को प्रभावित करने वाली स्थितियों की व्यंजना के लिए 'सर्वेश्वर' ने प्रतीकों का प्रयोग किया है। इसलिए उनके प्रतीक या तो प्राकृतिक क्षेत्र से सम्बन्धित है या दैनिक जीवन से या सांस्कृतिक परिवेश से जिसमें विकृतियाँ है; निसंगतियाँ है या अनचाही स्थितियों के कारण त्रासद संदर्भ घर करते जा रहे हैं। ऐसी स्थिति मे सर्वेश्वर के प्रतीकों को समझने के लिए अपने परिवेश की समग्र पहचान जरूरी है, उस जिन्दगी से परिचित होना जरूरी है जिसे हम जीते हैं या जो हमारे द्वारा जी जाती है। सर्वेश्वर ने ज्यादातर उन प्रतीकों को अपनाया है जो या तो भूख, गरीबी, स्वार्थपरता; भ्रष्टता; मूल्यहीनता, कायरता, छद्म व्यवहार, शोषण, व्यभिचार, कृत्रिमता, विद्रोह, आक्रोश, और क्रांति का अर्थ-व्यक्त करते हैं या कवि की भावुकता, प्रेमिल वृत्ति, पीड़ा, अवसाद, ऊब और अकेलेपन को अभिव्यक्त करते हैं। कतिपय प्रतीक ऐसे भी हैं जिनमें सांस्कृतिक विघटन और मूल्यों के विघटन का अर्थ भरा हुआ है। जो भी हो इतना साफ है कि सर्वेश्वर ने अपने प्रतीकों से अर्थ कोई भी व्यक्त किया हो; पर वे प्रायः ,लिये लोक-जीवन और उस परिवेश से ही गये हैं जिसमें हम जीते हैं या जीने के लिए अभिशप्त है। इसीलिए उनके प्रतीकों में बिम्ब सनीयता, आत्मीयता और संप्रेषण का गुण अन्य कवियों की अपेक्षा अधिक है। ये ऐसे प्रतीक हैं जो कविता में जगह पाकर खुद ब खुद अपना अर्थ खोल देते हैं। अर्थ की अवगति के लिए पाठक को कहीं भी कोई दिमागी कसरत नहीं करनी पड़ती है। ये संप्रेषण में बाधक कहीं नहीं है। ये तो कवि के अनुभवों को पाठकीय अनुभव बनाने वाले प्रतीक हैं। स्पष्टीकरण के लिये ये पंक्तियाँ लीजिए और मोटे टाइप मे छपे शब्दो के प्रतीकार्थ पर ध्यान दीजिए :

1 "हर **कुएँ का पानी** यहाँ सड़ा हुआ है/हर **ताल मरी मछलियों** से भरा है/

2. **एक युद्ध** मैं हर क्षण/अपने भीतर लड़ता हूँ/कामनाओं को **फूलों से** भरने के लिए
और **फूलों को सुगंधि से** और सुगंध को निष्पाप कर्मों के तन पर लपेटकर
हर प्यासी आत्मा को जीवन के **छंद से**/यानी मैं **ठंडी हथेलियों को**/
गर्म करने के लिए/**बर्फ के पहाड़** पिघलाता हूँ।

3 एक **बंजर भूमि** में/बढे हुए **नाखून** लिए मैं खड़ा हूँ/
जैसे उनसे ही **नयी फसलें** उगा लूँगा/

4 "उधड़ती जा रही है, **सीवन** हर देह की/**टाँके** दिन पर दिन कच्चे होते जा रहे हैं/

5 **काली है आँधियाँ**, काला है खून, **काले हैं मन**/लेकिन सब हरा हरा **दीखता है**/
इन्हीं गोबरैलों के कारण/

6 कोई रास्ता कहीं नहीं ले जाता/वापस लौट आता है उन्हीं **तहखानों** में/
जहाँ हरेक के अपने अपने **चरखों का अम्बार** है/चारों ओर
लगी हुई दीमकों की कतार है/**सीलन है, चूहे हैं जाल हैं**/

इन प्रतीकों का अर्थ स्पष्ट है। कविताओं के रास्ते से गुजरते हुए इनके अर्थ ग्रहण में पाठक को कोई कठिनाई नहीं होती है। अतः काव्यानुभवों का संप्रेषण आसानी से हो जाता है। ऐसा नहीं है कि केवल ये ही उदाहरण हैं। उदाहरण और भी बहुत हैं, किन्तु ये काफी हैं। अब जरा उन प्रतीकों पर ध्यान दीजिए जिनकी संख्या सर्वेश्वर के काव्य में सर्वाधिक है। ये वे प्रतीक हैं जो भूख, बेबसी, गरीबी, व्यवस्था की अराजकता; सत्ताधीशों की विविध हरकतों और प्रवृत्तियों, शोषण, स्वार्थ और मध्यवर्गीय जिन्दगी की छटपटाहट को व्यक्त करते हैं। ऐसे प्रतीकों में गौबरैले, साँप, साँप का फन कुत्ता; तेंदुआ, पनियल साँप, गिद्ध, चूहे; मक्खी, मच्छर, दीमक, भाड सा ठंडा देश, सूखी पत्तियाँ, सींवन, टाँके, एक सूनी नाव, गर्म हवाएँ, कुआनो नदी, बकरी, चीता, पिंजड़े में कैद शेर, बाज, तोता, कौआ, हंस, जंगली सूअर, हवामुर्ग और झींगुर आदि के अनगिनत प्रतीकों को स्थान प्राप्त है। ये प्रतीक अर्थ-संप्रेषण मे तो समर्थ हैं ही; काव्य-भाषा के उन विकसित स्तरों को भी जाहिर करते हैं जो वैचारिक दुनियाँ की स्थिति को और परिवेश व्यापी स्थितियों की विसंगतियों, विडम्बनाओं और स्वार्थजनित परिणामों को भी उजागर करते हैं। सर्वेश्वर की बड़ी उपलब्धि यह है कि ये प्रतीक भाषा को नया जीवन भी देते हैं और उसमें विकसित एक समृद्ध बिम्ब-प्रक्रिया को भी स्पष्ट करते हैं। कवितागत संदर्भ से जोड़कर देखने से इनमें एक भी प्रतीक ऐसा नहीं है जो संप्रेषण में सहायक न हो। 'भेड़िया' को सत्ता का; साँप को जहर उगलते व्यक्ति का; गोबरैलों को गंदगी और विकृतियों से ग्रस्त मनुष्य का; तेंदुआ को वर्तमान चेतना की पशुता का; चट्टान को मानवीय चेतना का और कंकड़ों में रेंगते साँप को लालफीताशाही का प्रतीकत्व देकर वर्तमान त्रासद परिवेश को बिम्बित किया गया है। 'कुत्ता' का प्रतीक तो काफी जाना-पहचाना और स्पष्ट है। बाज साँप, बकरी, चीता और तोता सबके सब गरीबी और भूख से लड़ने वाले सुन्दर व संघर्षजीवी प्राणियों का प्रतीकत्व लिये हुए हैं क्योंकि ये अपने जीवन को बनाये रखने के लिए भूख से संघर्ष करते है और जीवित रहते हैं।

'कुआनो नदी' मे आया 'कौआ' शोषण के प्रतीक है; किन्तु हंस बनकर शोषण करता है। वह बाहर से हंस और भीतर से कौआ है। इसके इर्द-गिर्द रहने वाले चाटुकार, या दुम हिलाने वाले व्यक्ति कुत्ते हैं जो टुकड़खोरी और पूँछ हिलाने में माहिर है। 'नाखून दिन पर दिन बढ़ रहे हैं' में नाखून पाशविक वृत्तियों के द्योतक बनकर आये है। इसी तरह 'इमारतें बढ़ती जा रही हैं और दिलों का आकार छोटा होता जा रहा है' में इमारतें भौतिक समृद्धि और विलास को व दिलों का छोटा आकार' मानवीय मूल्यों की विघटित स्थितियों को प्रतीकित करते हैं। 'मछलियाँ, जोंक और पनियल साँप- सबके सब मनुष्य के ही विविध रूप हैं। 'सोख्तों के पहाड' का प्रतीक अर्थ भी सहज में ही संप्रेषित हो जाता है तो सत्तालोलुप का अर्थ देने वाला गिद्ध भी

कविता में आकर उस शासक का अर्थ वहन कर सका है जो चीखता और पैंतरा बदलता हुआ इन्सानियत को चबाता रहता है। कहीं-कहीं तो सर्वेश्वर के प्रतीक न केवल सहज ग्राह्य और सार्थक हैं अपितु स्थितियों को संप्रेषित करने वाले अपरिहार्य व सशक्त माध्यम बनकर भी सामने आये हैं। उदाहरणार्थ कलम और बंदूक के ये प्रतीक देखिये जो क्रमशः आदमियत और हैवानियत का अर्थ देते हैं : "जब कलम में स्याही और बंदूक में गोली/ठीक एक ही वक्त भरनी हो/तब अपना चेहरा देखते ही बनता है/कितना नाजुक फ़र्क रह जाता है/आदमी से जानवर/या जानवर से आदमी होने में"/

'सर्वेश्वर' की कविताओं में कुछ प्रतीक ऐसे भी हैं जो क्रांति-भावना का अर्थ देते हैं। ऐसे प्रतीकों का प्रयोग उनकी परवर्ती रचनाओं में अधिक मिलता है। 'बच्चा' और 'जवान' क्रांति का प्रतीकार्थ रखते हैं। 'हवेलियों' का प्रतीक पूँजीवादी व्यवस्था का अर्थ देता है। 'सर्वेश्वर' जब लिखते हैं कि "भेड़िया गुर्राता है तुम मशाल जलाओ/भेड़िया मशाल नहीं जला सकता"/तो 'भेड़िया' पूँजीपति व्यवस्था या शासन का प्रतीक हो जाता है और 'मशाल' क्रांति व विद्रोह का। इन दोनो प्रतीकों को साथ-साथ रखकर कवि ने यह व्यंजित किया है कि पूँजीपतियों और शासकों के गुर्राने पर भयभीत होने की जरूरत नहीं है। यदि वह ऐसा करें तो हमे चाहिए कि उनके खिलाफ विद्रोह करें। अधिकांश लोग गरीब है। अतः उनकी गरीबी, बेबसी, बेचैनी और अपमानित जिन्दगी को प्रतीकित करते हुए ही सर्वेश्वर ने ये पंक्तियाँ लिखी है : "यह हरिजन था इसे जिन्दा जला दिया गया/वह अनपढ़ गरीब था/इसे देवी की बलि चढ़ा दिया गया/यह आस्थावान धर्मगुरुओं की कोठरी मे मरा/यह अनजानी ऊँचाइयाँ छूना चाहता था/छत की कड़ी से झूल गया/" [कुआनो नदी] हरिजन, अनपढ़ गरीब, आस्थावान धर्मगुरु सबके सब विक्षोभ, अपमान निर्धनता और असहायता का प्रतीकार्थ रखते हैं। धर्म गुरुओं की कोठरी' धर्म के मठाधीशों और रूढ़ियों का भाव संकेतित करती है। 'सर्वेश्वर' का कवि जहाँ अधिक प्रश्नाकुल हो उठा है; वहाँ वैचारिक व्यथानुभव की प्रक्रिया में अनेक ऐसे प्रतीक आये हैं जो पराधीनता असहाय स्थिति; विवशता; अवसरवादिता, गंदगी और विकृति का अर्थ देते हैं। यथा—"क्यों हर हाथ टूटा है/क्यों हर पैर कटा हुआ है/क्यों हर चेहरा मोम का है/क्यों हर दिमाग कूड़े से पटा हुआ है"/टूटा हुआ हाथ; कटा हुआ पैर, कूड़े से पटा हुआ दिमाग और 'मोम का चेहरा' के प्रतीक नये है। गिलहरी, तोता और चिड़िया जैसे जीव उस व्यक्ति का प्रतीकार्थ रखते है जो शोषण से मुक्त होकर मुक्त और आजाद व्यक्ति की तरह जीने के आकांक्षी है। 'चिड़िया' चेतना का प्रतीक बनकर भी आई है। 'पालतू कुत्ते' वर्तमान व्यवस्था के कर्णधारों को प्रतिकित करते हैं। 'घोड़ा' भी प्रतीक बनकर आया है। वह जनता का प्रतीकत्व रखता है : 'चल भाई घोड़े टिक टिक टिक'।

कुछेक प्रतीक ऐसे भी हैं जो सर्वेश्वर की सांस्कृतिक चेतना को उजागर करते हैं। ये वे प्रतीक हैं जो विघटित-विकृत मूल्यों के कारण मूल्यान्वेषी वृत्ति के धनी सर्वेश्वर के मानस में जन्मे हैं। ऐसे प्रतीकों से कवि मूल्यान्वेषण और सांस्कृतिक बोध को प्रगट करता है। 'कुआनो नदी' एक ऐसा ही प्रतीक है। 'नदी' संस्कृति का, कीचड़ विकृतियों का; पाट संस्कृति के स्वरूप का और 'कगार' अपरिवर्तित चेतना का प्रतीकार्थ रखते हैं। 'रेत की नदी' शुष्क और मूल्यहीन संस्कृति का प्रतीकार्थ रखती है। 'नदी में बाढ़ का आना' सांस्कृतिक चेतना मे सभ्यता के थोथे, परन्तु चमकदार उपकरणों का आ जाना है जो क्रांति-चेतना को संकेतित करते हैं। 'नौका या नाव' का प्रतीक भी संस्कृति के सुरक्षित अंश का अर्थ देता है। कुआनो नदी का 'संकरी, नीली और शांत होना संस्कृति की संकीर्ण; किन्तु सूक्ष्म-धारा को प्रतीकित करता है। पोखर' भी प्राचीन संस्कृति को प्रतीकित करता है। नरई का साग, पथरचट्टा, मकुनी और 'नरसल' ग्राम्यजीवन के उपकरण हैं जो हमारी सांस्कृतिक विरासत को स्पष्ट करते हैं। आग, लपट, खौलता रक्त, रोशनी और लाल किताब सबके सब क्रांति और विद्रोह के प्रतीक है। ये वे प्रतीक हैं जिनका सहारा लेकर कवि ने अपनी क्रांति चेतना को वाणी है। पहाड़, दीवार, अदेखेद्वीप और चोटी आदि व्यवधान के प्रतीक है/कुछ ऐसे प्रतीक भी सर्वेश्वर की कविताओं में मिलते है जो हैं तो मामूली शब्द, परन्तु कविताओं में आकर गहरा अर्थ दे रहे हैं: "इधर करो साफ उधर मकड़ी का जाला/जिसे देखो वही साला टूटा हुआ ताला/जहाँ जाओ वहीं सब थमाते हैं कद्दू/बाप रहा लद्दू और बेटा है पद्दू/" इन पक्तियों में मकडी का जाला अनवरत व्यवधानों का; टूटा ताला विकृत-कलुषित व्यक्तित्व का; लद्दू पद्दू और कद्दू शोषित व निर्धन व्यक्तियों की स्थितियों को निरूपित करते हैं। इसी क्रम में उन प्रतीकों को भी भुलाया नहीं जा सकता है जो मुक्ति-कामना और निर्बन्ध जीवन की कामना का अर्थ देते हैं। 'तमाम समझदार लोगों के बीच' कविता मे खरगोश, गिलहरी, गौरया, तोता, मेढ़क व हिरन ऐसे ही प्रतीक हैं। इन सभी के माध्यम से 'सर्वेश्वर' ने यह प्रतिपादित किया है कि शोषण से मुक्ति पाने की चाह मे साँस लेते व्यक्तियों को तथाकथित समझदार लोग यह अधिकार भी नहीं देते कि वे अपने मन से; अपनी तरह से जी सकें। मुक्ति-कामना या स्वच्छंद जीवन के हामी सर्वेश्वर के इन प्रतीको की बानगी देखिए: "अभी कल एक खरगोश/झाड़ियो से निकलकर/चलती सड़क पर आया और कुचल गया, एक गिलहरी वृक्षों से उतर कर खाने की मेज पर पहुँची/और पालतू कुत्तों द्वारा चबाली गयी/"... ...एक तोता ऊँचाइयों से उतरा/और पकड़ लिया गया/एक मेढ़क गहराइयों से निकला, और दब गया"/ [बाँस का पुल]

इन प्रतीकों के अलावा सर्वेश्वर की कविताओं में उन प्रतीकों की भी कमी नहीं है जो प्रम और सौन्दर्य को संकेतित करते हैं प्राकृतिक प्रतीकों में

खरगोश, क्यारी, धरती, बसंत, टीला, किंसुक, मेघ, पीली पाग, पूर्णिमा, आकाश, घास, इन्द्रधनुष, घास की पत्ती, चाँदनी, एकांत तट, बादल, नरम घास, क्षितिज, वर्षा, रंग-बिरंगी मछलियाँ; सागर, हृद्रा; झूमते तरुवर निर्झर, हरी-भरी झाड़ी,मेमनां, चाँदी के फूलदान, फूल, फल, बीज, वृक्ष, हिमगिरि, सरोवर, शीतल पवन, दमकता सूर्य, अकेली टहनी और टूटती लहरें आदि कितने ही प्रतीक प्रेम, सौंदर्य, उल्लास; उमंग और आनुभूतिक सरसता को व्यक्त करते हैं। प्रेमजनित पीड़ा, अवसाद और अकेलेपन के बोध को उजागर करने वाले प्रतीकों की भी सर्वेश्वर के काव्य में कमी नहीं है। ये दर्द के द्योतक प्रतीक उनके प्रत्येक संग्रह में देखने को मिलते हैं। टूटे वायलन, एकांत कोना या तट, कंटीले तार और बजता साज ऐसे ही प्रतीक हैं। 'रंगीन चिड़िया' जीवन की चहकती लालसाओं का प्रतीकत्व रखती है। 'नीली चिड़िया' का प्रतीक भी रोमानी है और प्रेमिल संकेतों का अर्थ लिए हुए है। 'सुर्ख हथेलियाँ' कविता में भौंरे का कमल हो जाना; कमल का नीले जल में बदल जाना; नीले जल का श्वेत पक्षियों में; श्वेत पक्षियों का सुर्ख आकाश में और अन्ततः आकाश का हथेलियों में बदल जाना प्रेमिल अनुभूतियों की एकाकारता और प्रिया और प्रेमी के प्रेमिल अद्वैत को प्रतीकित करता है। प्रेमजनित भावों का यह अद्वैत कवि की आंतरिक लालसाओं का बिम्ब भी देता है।

इस तरह सर्वेश्वर के प्रतीक संप्रेषण का सशक्त माध्यम बनकर आये हैं। ये प्रतीक न तो दुरूह हैं न उलझाने वाले हैं और न कथ्य को मारकर या उस पर हावी होकर कविता में आये हैं। ये संदर्भ से जुड़कर गहरी और सार्थक व्यंजना देने वाले; सहज ही समझ में आने वाले; जीवन की विविध स्थितियों और मनोभूमियों के व्यंजक, परिवेश में व्याप्त विसंगतियों के प्रतिरूपक; सत्ता, राजनीति, समाज, धर्म और संस्कृति के विकृत-विगलित रूप के प्रस्तोता और सांस्कृतिक-प्रक्रिया की गत्वरता, वैचारिकता व मानव-सम्बन्धों की स्थिति को सहज ही में संप्रेष्य बनाने वाले हैं। भाषा से संप्रेषण का कार्य तो हो जाता है; पर उसी भाषा को अधिक व्यंजक; अधिक सांकेतिक और अधिक अर्थगर्भी बनाने के लिए प्रतीकों की अनिवार्यता होती है। सर्वेश्वर ने अपने प्रतीकों को इसी अनिवार्यता के रूप में प्रस्तुत किया है। कुछ प्रतीक तो ऐसे होते हैं जो शाश्वत होते हैं; किन्तु अधिकांश समय की माँग से, परिवेश के रूप से और परिवर्तित स्थितियों से स्वतः ही आकार पाते जाते हैं। सर्वेश्वर का काव्य उनके समय का लेख है। अतः उसमें ऐसे प्रतीकों की ही संख्या अधिक है जो वर्तमान समाज और परिवेश से ही जन्मे हैं। कुछ प्रतीक सर्वेश्वर की काव्य-भाषा की अनिवार्यता बनकर आये हैं और उसमें इतने रिले-मिले हैं कि वे भाषा के प्रवाह में यकायक पकड़ में नहीं आते हैं। जो प्रतीक नये हैं वे इतने बोध-गम्य हैं कि सदर्भ उनका अर्थ स्वतः ही खोल देता है इसी से प्रतीकों

की जुबान पाकर भी कविता जटिल होने से बची रही है। कुल मिलाकर यही कि सर्वेश्वर के प्रतीक भाव-प्रेषण का कार्य करते हुए भाषिक शक्तियों का विकास करते रहे हैं। उनमें अनुभूति की गुणात्मकता और उसे सही रूप में पाठक तक प्रेषित करने की योग्यता विद्यमान है।

बिम्ब : संवेदना का मूर्त संप्रेषण

सामान्यतः बिम्ब एक प्रकार से वस्तु या घटना की प्रतिकृति है। साहित्य में अवतरित होने पर उससे कवि-कल्पना को सहयोग मिलता है। यों तो वह एक शब्द-चित्र ही है, किन्तु प्रत्येक चित्र बिम्ब की अभिधा प्राप्त नहीं कर पाता है। अनुभूति संपृक्त गोचरत्व और संवेदना-संवलित चित्र ही वास्तविक बिम्ब की अभिधा ग्रहण करते हैं। इसमें कोई संदेह नहीं कि कवि यदि अपनी अनुभूतियों को पाठक तक सही रूप में संप्रेषित करना चाहता है तो उसकी मूल आवश्यकता बिम्ब पुष्ट भाषा ही होती है। नयी कविता साक्षात्कृत जीवन के ग्रहण और प्रेषण की कविता है। उसमें काव्य-वस्तु का प्रत्यक्ष ग्रहण कराया गया है। अतः वह बिम्ब को अनिवार्य उपादान के रूप में स्वीकार करती है। बिम्ब का भाषा से अलग कोई महत्व संभव नहीं है, किन्तु उसका गहरा सम्बन्ध भाषा के सर्जनात्मक रूप से है। दैनिक प्रयोग की भाषा को अपनाना तो ठीक है; पर उसे काव्यात्मक भाषा बनाते समय बिम्ब की उपेक्षा नहीं की जा सकती है। रोजमर्रा की भाषा नित्यप्रति के प्रयोग से जड़ता युक्त और संवेदनाहीन हो जाती है। बिम्ब ही वह शक्ति है जिससे जड़ भाषा को जीवित रूप दिया जा सकता है। "जीवित भाषा ही रिचर्ड्स के शब्दों में 'भाषा का संवेगात्मक प्रयोग है। इस प्रकार 'काव्यात्मक संरचना के प्रसंग में भाषा का तात्पर्य बिम्ब-प्रक्रिया की उस संश्लिष्टता से है जो सामान्य भाषा को अनुभव की भाषा में रूपांतरित करती है। रचना-प्रक्रिया के दौरान कवि की सर्वाधिक जिम्मेदारी सामान्य भाषा को अनुभव की भाषा बनाने में ही है।'[1] बिम्ब की सच्ची सार्थकता ही यह है कि वह बोलचाल की भाषा को, जो अति प्रयोग के कारण घिस-पिट जाती है; संवेदनात्मकता प्रदान करते हुए कवि के अनुभवों को पाठकीय अनुभवों में रूपांतरित कर दे। कवि जो अनुभव करता है, उसी जमा-पूँजी को जब वह संप्रेषित करना चाहता है तो भाषा को सही सेतुत्व तभी मिलता है जब वह बिम्बों का सहारा लेता है। इस तरह बिम्ब संप्रेषण का सशक्त, मूर्त और संवेगात्मक माध्यम बन जाता है। भाषा की छिपी शक्तियाँ बिम्ब का स्पर्श पाकर न केवल जाग्रत हो उठती हैं; अपितु अभिव्यक्ति के चैतन्य शिखरों से भी जा मिलती हैं। बिम्ब मात्र चित्र नहीं है। वह तो काव्यानुभव का संवेदनात्मक प्रत्यक्षीकरण है। यह तो संभव

---

1 डॉ० गोविन्द द्विवेदी नयी कविता में बिम्ब का वस्तुगत परिप्रेक्ष्य पृ० 57

दीखता है कि बिम्ब में चाक्षुप गुण रहे और रहता भी है; किन्तु मात्र चाक्षुपता बिम्ब का निर्माण नहीं कर सकती है।

बिम्ब का महत्व तभी है जब वह अनुभव को पकड़ता हुआ उसकी समग्रता मे—तमाम जटिलता और अन्तर्विरोधों के साथ, एक खास तरह की संश्लिष्टि से उजागर करे। यह तभी सम्भव है जब कवि के अनुभव और संप्रेषण में एक सम्बध-सूत्र रहे। कवि जिस भाव, वस्तु और परिस्थिति को पकड़ता है उसके सही सप्रेषण के लिए बिम्ब का सहारा लेता है और ऐसा इसलिए करता है ताकि वह एक ऐसी सवेदना का निर्माण कर सके जो मूर्त रूप में संप्रेपित हो सके। ऐसी स्थिति मे सी० डी० लेविस का यह बयान अर्थपूर्ण है जिसमें कहा गया है कि "बिम्ब वस्तु का मात्र चित्रण नहीं होता; वरन् सपूर्ण अनुभूति के विशिष्ट सदर्भ से उसका आकलन होता है।"[1] अधिकांश विचारकों की मान्यता है कि बिम्ब में ऐन्द्रिय संवेदन अनिवार्य है। सी०डी० लीविस, रिचर्ड्स, ब्लिस पैरी, कॉलरिज और लैंगर सभी ने ऐन्द्रिय संवेदन को बिम्ब का अनिवार्य गुण माना है। 'लीविस' ने तो साफ कहा है कि "The poetic image is more or less sensuons picture in words to some degree metaphorical with an undernote of some human emotion in its contexts but also charged with an releasing into the reader a special poetic emotion or passion."[2] अर्थात् बिम्ब एक प्रकार से रागात्मक संवेदन से सयुक्त शब्द चित्र है जो एक सीमा तक रूपकात्मक और मानवीय भावों से संग्रथित होता है, किन्तु वह इसके साथ ही कवि की भावनाओं और इच्छाओं को भी पाठकीय संवेदना में अनुभव कराता है। जाहिर है कि लीविस की दृष्टि में बिम्ब समग्र कविता–व्यापार से जुड़ा हुआ है। ऐसी स्थिति में यह भी स्पष्ट है कि बिम्ब मात्र ऐन्द्रिय संवेदन का सहारा पाकर अपना काम नहीं चला सकता है। कारण अनेक बार पत्र–पत्रिकाओं में छपने वाले विज्ञापन भी ऐन्द्रिय बोध तो जगा देते हैं, किन्तु वे बिम्व कहाँ होते हैं? बिम्बों का निर्माण तो तब होता है जब कोई अनुभव; कोई संघर्ष लम्बे समय तक कवि-मानस में संघर्ष करता रहता है और फिर किसी शक्तिशाली सृजन–क्षण में पूरे आवेग के साथ कविता की शक्ल में ढ़ल जाता है। संभवतः इसी कारण रिचर्ड्स ने यह कहा है: 'बिम्ब एक दृश्य चित्र, संवेदना की एक अनुभूति, एक विचार, एक मानसिक घटना, एक अलंकार अथवा दो अनुभूतियों के तनाव से निर्मित एक भाव–स्थिति कुछ भी हो सकता है।"[3] कहना यही है कि बिम्ब कविता का उपयोगी और अनिवार्य माध्यम है। वह

1. सी० डी० लीविस : द पोइटिक इमेज पृ० 29
2. वही पृ० 22
3 रिचड्स कॉलरिज ऑन पृ० 34

वर्ण्य–वस्तु या अनुभूति को गत्वरता, तीव्रता और गठनात्मकता के साथ पाठक तक सम्प्रेषित कर देता है। ऐन्द्रिय सन्निकर्ष और दृश्यता उसकी अनिवार्यताएँ है। यद्यपि कुछ लोग ऐन्द्रियता को बिम्ब का अनिवार्य धर्म मानते हैं, किन्तु अलकृति भी उसके निर्माण मे पर्याप्त योग देती है। अलंकारों मे रूपक, उपमा और मानवीकरण बिम्ब–निर्माण में सर्वाधिक योग देते हैं। कारण; अन्य अलंकारों की अपेक्षा ये अधिक संश्लिष्ट होते है। रूपक की संश्लिष्टता तो इस कार्य में अन्य अलंकारो से यहाँ तक कि उपमा से भी आगे रहती है। अतः कह सकते हैं। कि कभी–कभी तो बिम्ब अलंकार का साहचर्य पाकर अधिक सवेद्य और अधिक ग्राह्य हो जाते है। यह सश्लेषण बिम्ब में जितना अधिक होगा; वह उतना ही अधिक मानवीय अनुभवो, तनावों, संघर्षो और वर्ण्य–संदर्भो को अधिक संप्रेष्य बना सकेगा।

जहाँ तक बिम्बों का वर्गीकरण का प्रश्न है, उसका अधिक औचित्य समझ मे नही आता आता है क्योंकि वर्गीकरण कोई भी हो; वह एक सुविधा एक काम चलाऊ चीज है। वर्गीकरण में अधिक यांत्रिक होना भी अनुचित है क्योंकि ऐसा करने से वस्तु तो दूर पड़ जाती है और फिर पाठक या सहृदय किसी नतीजे पर नहीं पहुँच पाता है। ऐसी स्थिति में सुविधा के लिए किया गया वर्गीकरण भी कम से कम इतना उपयोगी तो होना ही चाहिए कि वह वस्तु या वर्ण्य-विषय से कट कर खड़ा न हो। इसके साथ ही ऐन्द्रियता या 'ऐन्द्रिय-सवेदन' को वर्गीकरण के दौरान अवश्य ध्यान में रखना चाहिए। मेरी दृष्टि में बिम्बों के वर्ग बनाना अधिक उपयुक्त है और ये वर्ग इस प्रकार बनाये जा सकते है: 1. वस्तुवर्गीय बिम्ब 2. अलंकृतिपरक बिम्ब 3 ऐन्द्रिय बिम्ब। इनमें से किसी भी वर्ग में वस्तु को उपेक्षित नहीं किया जा सकता हे। वस्तु बिम्ब वे होते हैं जो किसी वस्तु का स्थिर या गतिशील बिम्ब प्रस्तुत करते है। विषय कुछ भी हो सकता है, पर नयी कविता में आये ऐसे बिम्ब समाज, सामाजिक जीवन, मानव-जीवन, राजनीति, धर्म, सस्कृति किसी से भी सम्बन्धित होकर ऐन्द्रियानुभवों को मूर्तित करते हैं। अलकृति पर आधारित बिम्बों में वस्तु के सप्रेषण के लिए अलंकारों की सहायता ली जाती है और ऐन्द्रिय बिम्ब दृष्टि, स्पर्श, घ्राण, ध्वनि और वर्ण (रंग) सभी इन्द्रियों को आधार बनकर प्रस्तुत किये जाते है। वैसे चाक्षुप गुण तो सभी बिम्बों में रहता ही है। जिन बिम्बों में ऐन्द्रिय सवेदन, संश्लिष्टि, चाक्षुषता और सघता जितनी अधिक होती है, वे उतने ही सफल होते है और उतने ही वस्तु को अधिक ग्राह्य बनाते हैं।

यह एक तथ्य है कि 'सर्वेश्वर' की कविता अपने समय का साक्ष्य प्रस्तुत करती है। उन्होंने पूरी जागरूकता के साथ संस्कृति, सभ्यता, मानव जीवन की विसंगतियों और सम्बन्धों की त्रासद स्थिति को तो पहचाना ही है। परिवेशव्यापी जड़ता और यांत्रिकता की स्वार्थपरता और मनमानी

के परिणाम से उत्पन्न स्थितियों को बिम्बों के माध्यम से प्रस्तुत किया है। अत. उनके बिम्ब न केवल वैविध्यपरक हैं, अपितु ऐन्द्रिय संवेदनों पर भी आधारित हैं। सर्वेश्वर के बिम्बों में सर्वाधिक संख्या ऐन्द्रिय बिम्बों की है। चाहे उनकी वस्तु रोमानी हो; चाहे समसामयिक यथार्थ से सम्बन्धित हो; बिम्ब सब कही सप्रेषण का सशक्त माध्यम बनकर आये हैं। उल्लेखनीय तथ्य यह भी है कि 'सर्वेश्वर' के बिम्ब वस्तु को खड्ड में धकेलकर कहीं नहीं आये हैं। उसमे संश्लिष्टि, सद्यता; ऐन्द्रियता और अलंकृति का समुचित योग हुआ है। अनुभव की भाषा के प्रयोक्ता और भाषिक शक्तियों के उद्घाटक सर्वेश्वर ने प्रतीकों को भी एक समृद्ध बिम्ब-प्रक्रिया से जोड़ दिया है। इससे उनकी काव्य-भाषा बिम्बों की भाषा हो गई है, पर ध्यान रहे सर्वेश्वर ने बिम्बों का आविष्कार मात्र चमत्कारोत्पादन के लिए नहीं किया है, अपितु किसी भाव, विचार या स्थिति के समग्र सप्रेषण के लिये ही किया है। कहीं-कही तो यह भी हुआ है कि एक ही विषय या एक ही भाव अलग-अलग स्थलों पर अलग-अलग बिम्बों में बँधकर आया है। दुहराहट उनके बिम्बों में नहीं है। यही वजह है कि बसंत, मेघ, प्रेमानुभूति के बिम्बों की भरमार होते हुए भी कोई भी एक बिम्ब दूसरे से नहीं मिलता है। परवर्ती रचनाओं मे भी जो समसामयिक यथार्थ के बिम्ब है, वे भी सर्वत्र अलग-अलग मुद्राएँ लिये हुए हैं। व्यंग्य करना सर्वेश्वर की कविताओं का अनिवार्य संदर्भ है। अत उनके बिम्बों की एक बड़ी सख्या तो व्यंग्यात्मक प्रवृत्ति का साहचर्य पाकर ही खड़ी की गई है। जो भी हो सर्वेश्वर के बिम्बों का अध्ययन एक रोचक और आकर्षक अनुभव को जन्म देता है।

पहले उन बिम्बों को लीजिए जो समसामयिक यथार्थ को प्रस्तुत करने वाले वस्तु बिम्ब है। इनमें ऐसे बिम्बों की संख्या भी कम नहीं है जो समकालीन यथार्थ परिदृश्य को अनलंकृत भाषा में प्रस्तुत करते हैं। हाँ; जहाँ ये स्थिर हैं; गत्वर नही है, वहाँ वे महज 'स्केचेज' लगते हैं और इन्हें काव्यात्मक बिम्ब नहीं कहा जा सकता है। गनीमत है कि ऐसे बिम्ब कम ही हैं :

1. "फिर बाढ़ आ गयी होगी उस नदी में/पास का फुटहिया बाजार
   बह गया होगा/पेड़ों की शाखों में बँधे खटोले पर/बैठे होंगे बच्चे
   किसी काछी के/और नीचे कीचड़ में खड़े होंगे चौपाये/
   पूँछ से मक्खियाँ उड़ाते/" [कुआनो नदी]
2. 'तट से लगा हुआ एक बाँध है/जिस पर ऊँचे-ऊँचे छायेदार
   दरख्त हैं जिनके नीचे से सड़क जाती है/कई तीखे घुमाव लेती/
   सड़क पर अधिकतर बैलगाड़ियाँ चलती हैं, कभी-कभी एक्का भी/
   परदा बाँधे, औरतों-बच्चों को बैठाये डगमगाता/........"
3. "दूर बिना पहियों के दमकल खड़े हैं/और आग बुझाने वाले/
   बार बार अपनी पोशाक/उतारते और पहनते हैं/जरूरी है

यह देखना कि जूते के फीते ठीक बँधे हैं या नहीं/और क्रीज
ताज़ी और सलामत है/चेहरों पर चिकनी हजामत की चुस्ती है/"

4 "गौर से देखा मैंने, चश्मा नाक पर उन्होंने/चिपका रखा था टेप से/
कानों के पीछे छः छः इंच बढ़ी कमानियों पर/टँगा हुआ था चेस्टर/
जिसे दोनों हाथों में फाँस/बाँध रखा था उन्होंने कमर पर/" [गर्म हवाएँ]

5 'मुकुट धारण किये/घूम रहा है विज्ञापन बाज शासक/
और योधाओं की पोशाक/बाजे वालों ने पहन रखी है/"

6 "आज भी इसके किनारों के गाँवों में/सिघाड़ों के तालों में/
बड़े-बड़े मटके औंधाये मैं खटिकों को नंग-धडंग पानी में घुसे/
सिघाड़े तोड़ते देखता हूँ/और खटकिनों को तार-तार कपड़ों में/
अपना पुष्ट युवा शरीर लिये/घर-घर हँसी और सिंघाड़े
बेचते हुए/लोहारों को धौंकनी के सामने/घोड़े सा मुँह
लटकाये/खुरपी, कुदाल और नाल बनाते हुए/बढ़इयों को
ऐनक का शीशा/सूत से कान में बाँधे/बँसखट के पाये
गढ़ते हुए/और किसी बूढ़े फेरी वाले को/बिसात खाने का सामान
गले में लटकाये/हर घर के सामने कमर झुकाये/
झिक-झिक करते हुए," [कुआनो नदी]

उपर्युक्त उदाहरणों मे जो बिम्ब हैं वे समसामयिक यथार्थ को अनुभव की भाषा में ढालकर बिना किसी अलंकृति के प्रस्तुत किये गये हैं। पहले, दूसरे और छठे उदाहरण में ग्राम्य जीवन की बेबसी; निर्धनता, जीवन-पद्धति और असहाय जिन्दगी को मूर्तित किया गया है। इन बिम्बों का यथार्थ ग्राम्य-संस्कृति से जुडा है। सीधे-सरल शब्दों द्वारा खड़े किये गये ये बिम्ब कवि के मानस में चिरकाल से सचित होते रहे अनुभवों का पूरी तीव्रता, सघर्ष और सांवेगिकता के साथ प्रस्तुत किया गया है। तीसरे उदाहरण में व्यवस्था की लापरवाही और अकमर्ण्यता के साथ कृत्रिमता पीछे दीवाने वर्ग का बिम्ब हैं जो व्यंग्य के कारण पर्याप्त व्यंजक और प्रभावी बन गया है। पाँचवे उदाहरण में विज्ञापनबाज शासक का बिम्ब है तो चौथा एक 'स्केच' भर है। अतः उसे काव्यात्मक बिम्ब नहीं कहा जा सकता है। आधुनिक जीवन का यथार्थ प्रतिपल बदलता रहता है। उसमें हर रोज कोई न कोई त्रासदी घटित होती रहती है और विसंगतियाँ जिन्दगी को लीलने को आतुर रहती हैं सर्वेश्वर इस सबको देखते हैं; महसूस करते हैं और इस तरह समसामयिक परिवेश का यथार्थ बिम्बों में बँधकर आता रहा है कहीं आक्रोश में तनी मौरे पत्थर फेंकती है कही की विषमता से व्यथित हुई इन्सानी जिन्दगी लाश

मे बदलती रहती है और कहीं सत्ताधीशों के व्यक्तित्व जन-जीवन को मौत की गोद मे घसीटते दिखाई देते हैं। ऐसे बिम्बों की संख्या 'गर्म हवाएँ' 'कुआनो नदी' और 'जंगल का दर्द' में अधिक है :

1. "यह बच्चा है/इसका कटा हुआ धड़, बस्ता लिए स्कूल के फाटक पर पड़ा है/
 इसके हाथ में पत्थर है/जिसे वह पुलिस पर फेंक रहा था/
 यह जवान जब कुछ नहीं बना/छर्रों की बंदूक लिए
 हवेलियाँ लूटने की सोच रहा था." [कुआनो नदी]
2 "चट्टानों पर झिंझोड़ रहा है अपना शिकार, काला तेंदुआ/"[जंगल का दर्द]
3 अब मैं कवि नहीं रहा/एक काला झंडा हूँ/
 तिरपन करोड़ भौंहों के बीच मातम में/खड़ी है मेरी कविता/"
4 "उस देश का मैं क्या करूँ/धीरे-धीरे लड़खड़ाता हुआ/
 मेरे पास बैठ गया है/" [गर्म हवाएँ]
5 एक थे हाँ-हाँ/एक थे नहीं-नहीं/जहाँ-जहाँ गया मैं
 मिले मुझे वहीं-वहीं/" [गर्म हवाएँ]
6 "हाँ, अब मुझ में कुछ उगेगा नहीं/अब कहीं कोई प्रतीक्षा
 नही होगी/एक खाली पेट की तरह/मेरी आत्मा
 पिचक गयी है/" [गर्म हवाएँ]

इन बिम्बों में समकालीन यथार्थ पूरी ईमानदारी के साथ उठाया गया है। सर्वेश्वर का यह अनुभूत संसार हमारे देश की स्थिति का विश्वसनीय सन्दर्भ प्रस्तुत करता है। पहला बिम्ब एक क्रान्तिधर्मी के आक्रोशी व्यक्तित्व और एक मेहनतकश इन्सान को मूर्तित करता है। दूसरे मे व्यवस्था में लगे लोगों का बिम्ब है तो तीसरे मे राजनैतिक स्थिति और उससे जुड़े व्यक्ति के प्रति विरोध आक्रोश का बिम्ब उभर आया है। चौथे में लड़खड़ाते और गिरते-पड़ते देश की स्थिति का यथार्थ बिम्ब है। पाचवे में वर्तमान परिवेश में पल रहे—बढ़ रहे और अपने निजी स्वार्थों के दायरे मे कैद तथाकथित बुद्धिजीवी का बिम्ब है। ये लोग निरन्तर बढ़ रहे हैं। छठे उदाहरण में आर्थिक दृष्टि से विपन्न, असहाय, भूखे गरीब का प्रभावी बिम्ब है। वस्तुतः इस प्रकार के बिम्ब सर्वेश्वर के कवि-कौशल का ही परिणाम हैं कि वह वर्ण्य-संदर्भ अथवा वस्तु को पूरे संगठन; पूरे संश्लेषण के साथ काव्यात्मक बिम्बों मे बाँध सका है। ये बिम्ब कहीं भी हल्के नहीं है और इन्हें संदर्भ से जोड़कर ही समझा–समझाया जा सकता है। अनुभूत के संप्रेषण के लिए इन बिम्बों की भाषा सही अर्थों में काव्य-भाषा है—एक सच्चे अनुभव की भाषा है। ऐसे समकालीन यथार्थ को मूर्तित करने वाले बिम्ब अनेक स्थलो पर प्रतीकात्मक भाषा के सहारे भी खड़े किये है। 'जंगल का दर्द' और 'कुआनो नदी' में तो ऐसे बिम्बों की माला की माला देखी जा सकती है। केवल एक उदाहरण देखिए "कुत्ते की दुम काट दो, दुम हिलाने का

भाव नहीं जायेगा/"..........."जब हर चेहरा/हाँफता, लार टपकाता/नजर आये/
पुचकारते ही दुम हिलाये/दुलारते ही पेट दिखाये/सारा माहौल कँकुआने से भर जाये/
तब समझदार को चाहिए डर जाये/"

समकालीन यथार्थ को मूर्तित करने वाले बिम्बों के अलावा सर्वेश्वर के यहाँ अलकृत बिम्बों की भी कमी नहीं हैं। ये बिम्ब कवि के भावो और सौन्दर्यानुभवों की देन हैं। इनमें रूपक, मानवीकरण और उपमा अलंकारों का सहारा लिया गया है। वसत, मेघ, पवन, उद्यान, सूरज, शाम, रात व प्रेममयी स्थितियों आदि के बिम्ब तो अलंकृत है ही; कहीं-कही यथार्थ को मूर्तित करने वाले बिम्ब भी अलकृति का सहारा लेकर खड़े किये गये हैं। कतिपय उदाहरणों से यह स्पष्ट हो सकता है कि सर्वेश्वर की कविताओ में प्रकृति, प्रेम और सौन्दर्य ने कितने प्रभावी बिम्ब प्रस्तुत किये हैं। यों राग-सवेदना को उभारने वाले बिम्बों की एक लम्बी शृंखला छायावादी कविता में मौजूद है, किन्तु उनमें और सर्वेश्वर के बिम्बों में एक स्पष्ट अन्तर दिखलाई देता है। छायावादी बिम्ब धुएँ के महल हैं; अमूर्त अधिक है। वे बिम्ब का आभास देकर ही बिला जाते है क्योंकि बिम्ब बने उससे पहले ही कल्पना का वेग एक झटके से उसे धुँधला कर देता है। यद्यपि सर्वत्र ऐसा नहीं है; पर अधिकांश स्थलों पर बिम्बों की यही स्थिति रही है। सर्वेश्वर के सौन्दर्यानुभवों से उकेरे गये बिम्ब स्पष्ट; वास्तविक और अपेक्षाकृत अधिक संश्लिष्ट हैं :

1. "रात भर/हवा चलती रही/मन मेरा स्मृति के कब्जे पर/
   कसे हुए खिड़की के पल्ले-सा/खुलता बंद होता रहा/
   छड़ और दीवार के बीच/सिर पटकता, रोता रहा/
   खूँटी पर लटक एक चित्र हिलता रहा/सेज पर
   कोई/चादर तान सोता रहा/" [काठ की घंटियाँ]

2. कल रात जाने कैसी हवा चली विवेक के पीले फूलों वाला पेपरवेट/
   खिसक कर गिर पड़ा, दर्द के दबे हुए पृष्ठ/उड़-उड़कर
   बिखर गये/स्मृतियों के भारी/काले कोट का कालर उठाये
   शीश थामे, बाल उलझाये/बैचेन थकी हुई रात मेरी पसलियों पर/
   कोहनियाँ गढ़ाये बैठी रही/और -/मेरी भारी अन्तर से
   दर्द के बिखरे हल्के पृष्ठों को/धीरे-धीरे नत्थी करती रही/
   सुबह होते-होते/आकाश की नीली पिनकुशन खाली थी—
   तारों की एक-एक आलपीन चुक गयी थी/" [काठ की घंटियाँ]

3. आकाश की नीली टोपी लगाये/क्षितिज का टीला चरवाहे-सा/
   ढलते सूरज की आंच ताप रहा है/" [बाँस का पुल]

आगे-आगे नाचती-गाती बयार चली/दरवाजे खिड़कियाँ खुलने
गली-गली/पाहुन ज्यों आये हों गाँव में शहर के/मेघ आये बड़े
बन-ठन के सँवर के/पेड़ झुक झाँकने लगे गरदन उचकाये/
आँधी चली, धूल भागी घाघरा उठाये/बाँकी चितवन उठा
नदी ठिठकी, घूँघट सरके/बूढ़े पीपल ने आगे बढ़ जुहार की/
बोली अकुलायी लता ओट हो किवार की/हरषाया ताल लाया
परात भर के/क्षितिज अटारी गहरायी दामिनी/
क्षमा करो गाँठ खुल गयी अब भरम की/" [बाँस का पुल]

घास की एक पत्ती के सम्मुख/मैं झुक गया/
और मैंने पाया कि/मैं आकाश छू रहा हूँ/" [एक सूनी नाव]
रूप की यह धूप/झुक रहा आकाश/खोल कुन्तल घने वृक्षों के/
पार्श्व में चुप पड़ा है ताल/तन्द्रालस सिहरता, करवटें लेता/"[ए

"आकाश की तख्ती पर/सितारों की बारहखड़ी लिखकर/
चाँद की दवात को लातमार लुढ़का/भाग जाता है रात के
मदरसे से शरारती सूरज/और चिड़ियाँ सुबह तक/
हिसाब जोड़ती रहती हैं/बस्ते में भरकर/सीपियाँ और
चमकीले पत्थर/" [गर्म हवाएँ]

"आकाश का साफा बाँधकर/सूरज की चिलम खींचता/
बैठा है पहाड़/घुटनों पर पड़ी है नदी चादर-सी/
पास ही दहक रही है/पलाश के जंगल की अँगीठी/
अंधकार दूर पूर्व में/सिमटा बैठा है भेड़ों के गल्ले-सा/"[गर्म ह

तुम्हारा तन/एक हरी-भरी झाड़ी है/जिससे मैं मेमने-सा/
अपना तन रगड़ता हूँ" [जंगल का दर्द]
"उद्यान में/उड़ रही हैं तितलियाँ/वसंत के प्रेम-पत्र/" [जगल
हर साल वसंत/नये पत्तों की डायरी पर/शुरू करता है लिखना,
एक प्रणय-कथा/" [जंगल का दर्द]
"खुली, कसी पिंडलियाँ/चाँदी के फूलदान/होंगे कहीं
फूल भी/संगीत के अँधेरे में/" [जंगल का दर्द]

इन बिम्बों में रूप, प्रेम, आसक्ति, ललक और आकांक्षा जैसे
त सौन्दर्यानुभवों को कहीं उपमा से, कहीं रूपक से और कहीं मा
मे बाँधा गया है। प्रकृति की लहरिल छटा; आकर्षक सुषमा
ली के ये रागात्मक बिम्ब सर्वेश्वर के काव्य के बहुत बड़े भाग को
कोई भी बिम्ब ऐसा नहीं है जो अस्पष्ट, अधूरा और धुँधला हो .

ही बिम्बों को देखकर कुछ समीक्षकों ने सर्वेश्वर के काव्य को चमत्कार युक्त कहा है। क्या सौन्दर्य के ऐन्द्रिय अनुभवों को संश्लिष्ट बिम्बों में बाँधना कोरा चमत्कार हो सकता है ? यदि ये बिम्ब मात्र चमत्कारिक होते तो क्या ये संप्रेषण में सहायक हो सकते थे। नहीं न ! ये तो आसानी से पाठक तक संवेद्य हो जाते हैं। इनकी भाषा कहीं भी सम्प्रेषण में बाधक नहीं है। संश्लिष्टता, औचित्य और ऐन्द्रियता से रच-बस कर निर्मित हुए ये बिम्ब कवि की नवीन और मौलिक कल्पनाओं को रेखांकित करते प्रतीत होते हैं।

ऐसा नहीं है कि सर्वेश्वर के अलंकृत बिम्ब मात्र प्रकृति और प्रेम की दुनिया को ही उसकी समग्रता में प्रस्तुत करते हों। उन बिम्बों का अभाव भी सर्वेश्वर के खाते में नहीं है जो वर्तमान परिवेश के यथार्थ और मानव–सम्बन्धों की जटिलता; विसगति और त्रासदी को व्यक्त करते है। मूल्यान्वेषी सर्वेश्वर की कविताओं मे से लिये गये कतिपय ये बिम्ब भी देखिए :

1 "नारे लगाते जुलूस तेजी से निकल जाते हैं/शब्द दम तोड़ती मछलियों की तरह/ उलटकर अर्थहीन हो जाते हैं/" [कुआनो नदी]
2 "इस नदी में/न जाने कितनी बार बाढ़ आयी है/रगों मे खून खोला है/पर हर बार अँगीठियों से तमतमाये चेहरों पर/ रोटियाँ ही सेंकी गयी हैं/" [कुआनो नदी]
3 "सारा देश एक ठंडे भाड़-सा दीखता है सूखी पत्तियाँ उड़ती डोलती हैं/बालू सूखे पोखरों में जल रही है/" [कुआनो नदी]
4 "मच्छरों के साथ भनभनाती, बेंग के साथ उछलती/शाम, रोज थके मुसाफिर-सी/बस के अड्डे पर उतरती है/"
5 "मेरे दोस्तो ! मैं उस देश का क्या करूँ/जो धीरे-धीरे/ धीरे-धीरे खाली होता जा रहा है/भरी बोतलों के पास खाली-गिलास-सा पड़ा हुआ है/" [गर्म हवाएँ]
6 "आँसुओं से भीगे बालों पर/चमक मशीनगन की/ दीखती है हेयरपिन-सी/" [कुआनो नदी]
7 "सारी जिन्दगी/मैं सिर छिपाने की जगह/ढूँढता रहा/ और अंत में/अपनी हथेलियों से/बेहतर जगह दूसरी नहीं मिली/" [जंगल का दर्द]

इसमें अलंकृति तो नहीं है, पर मुहावरे युक्त और लाक्षणिक भाषा का प्रयोग है जो जीवन के जटिल अनुभव तथा मनुष्य और परिवेश के सम्बन्ध को बिम्ब में बाँधकर प्रस्तुत कर सकी है। यों इनमें अनुभव विचार और ऐन्द्रिय सन्निकर्ष सभी का सामानुपातिक योग हुआ है एक उदाहरण और देखिये

"पटरियाँ लम्बी शहतीर-सी पसरी हैं
पुल जाने कब से औंधा पड़ा हुआ है,
बोझा लादने की तो पहिये वाली गाड़ी तक
अपनी पीठ खोल कोने में दुबक गयी है
दोनों भुजाएँ फैलाये लकवे के मरीज-सी" [काठ की घंटियाँ]

इन बिम्बों के बाद अब उन बिम्बों की स्थिति देखिये जो ऐन्द्रिय बिम्ब है। यो तो ऊपर समकालीन यथार्थ और रूप-छटा के जिन बिम्बों की विवेचना की गई है; उनमें से अधिकांश ऐसे हैं जो ऐन्द्रिय बोध को जगाते है। इतने पर भी इन्द्रियो-स्पर्श, घ्राण, नाद, दृष्टि, वर्ण (रंग) और आस्वाद के आधार पर निर्मित बिम्ब अपनी महत्ता के कारण स्वतन्त्र विवेचन की फरमाइश करते हैं। ये वे बिम्ब हैं जो सीधे पाठकीय संवेदना का छूते हैं। सीधे-सीधे किसी बात के कहने का उतना प्रभाव नहीं पड़ता है जितना कि तब जब कथ्य को विभिन्न इन्द्रियों से जोड़ दिया जाता है। स्मरणीय यह है कि चाक्षुप गुण इन बिम्बो में भी बराबर रहता है। यह जरूर है कि पहले हम बिम्ब को ऐन्द्रिय-सन्निकर्ष से हृदयंगम करते हैं और बाद में हमारा ध्यान उसके दृश्य गुण की ओर जाता है। ठीक भी है क्योंकि संवेदना रचनात्मकता की पहली और महत्वपूर्ण शर्त है और यही शर्त बिम्ब की भी है। अतः जिस कवि की सवेदन-सामर्थ्य जितनी तीव्र होगी, उतनी ही सफाई से वह जीवनानुभूतियों को पकड सकेगा। कहना गैर जरूरी है कि 'सर्वेश्वर' का ऐन्द्रिय-सवेदन बहुत तीव्र है। यही वजह है कि उनकी कविताओं मे ऐन्द्रिय बिम्बों का सृजन भी बड़ी खूबी और सफलता से किया गया है। चाक्षुष बिम्बों का विवेचन तो पीछे किया ही जा चुका है। अत ध्वनि, स्पर्श, रंग और घ्राण बिम्बों को देखिये। सर्वेश्वर के कतिपय ध्वनि-सवेद्य बिम्ब देखिये :

1. 'अभी भी मैं एक लम्बी शहतीर/अपने घर की दालान से सड़क तक रखकर/वह हरहराता जल पार कर जाता हूँ/जबकि मेरे पिता जाँघ तक धोती उठाये/पानी को हलकोरते आते हैं/कलल-कल, कलल-कल "....."पीले-पीले मेढ़कों की छपाक से ही/मैं बता सकता हूँ/पानी यहाँ कितना गहरा है/"....'बादल झमाझम बरस रहे हैं/....."जब चढ़ जाती है लतर/झाँझर टट्टर पर/गिरगिट खड़खड़ाता रेंगता है/"....'सियार हुँआ हुँआ करते हैं/चमगादड़ों के उड़ने से/शाखें खड़खड़ाती हैं/" [कुआनो नदी]
2. "पचास करोड़ आदमी खाली पेट बजाते/ठठरियाँ खड़खड़ाते/हर क्षण मेरे सामने से निकल जाते हैं/" ..
3. "किड़-किड़-किड़-कियाँ-कियाँ/किड़-किड़-किड़, कियाँ-कियाँ/दरबे से निकली हैं पढी लिखी मुर्गियाँ/ चल गई घोड टिक टिक टिक/ बाँस का पुल

इसी प्रकार स्पर्शेन्द्रिय बिम्ब के उदाहरण स्वरूप ये पंक्तियाँ देखिये—

1. "थकी शीतल हवा ने/शीश मेरा उठाकर/चुपचाप अपनी गोद में रखा/और जलते हुए मस्तक पर काँपता-सा हाथ रखकर कहा/" मुझे बर्फ-सी चाँदनी/और आग-सा सूरज/दोनों प्यारे हैं/" [काठ की घंटियाँ]
2. अभी भी मैं उस लग्गी की चुभन/अपनी पसलियों पर महसूस करता हूँ/ और एक सूखे चीमड़ कंकाल का रूखा झुर्रियों वाला हाथ, मेरे गालों से छू जाता है/" [कुआनो नदी]

रंग बिम्बों में सर्वेश्वर को सर्वाधिक अनुराग हरे सुनहरे और नीले रंग से रहा है। उनके अधिकांश रंग बिम्ब इन्हीं रंगों के मेल से निर्मित हुए हैं :

"शाम/सेंदुर का बड़ा टीका लगाये/बुनकर की साँवली औरत/सूत की रंग-बिरंगी लच्छियाँ रंगकर आकाश की अरगनी पर टाँग रही है/"..."सुबह दमकते सोने से रंगवाली/एक अल्हड़ किशोरी/तूली रंग की साड़ी पहने/रंग-बिरंगी मूँज की डलिया बुन रही है/" ..."इस एकांत ताल के/नीले शांत जल पर/एक अकेली छाया डोलती है/" [बाँस का पुल] "लाल-हरे फूलों वाला मखमली साँप/लिपटा है गुलाब की पीली कली पर/"... अँधियारी मिली हुई सिन्दूरी संध्या की/गहरी लाल सारी है सिर के बाल अभी काफी ढके हैं/एक दो सुरमयी लट जरूर खुल रही है/गोरी किरनों से बने हुये माथे पर/"...."सुबह हुई/धरती के सुनहरे चिकने फर्श पर/हरी मटर का गोल-दाना लुढ़कने लगा"/ [काठ की घटियाँ] "गौर से देखो—पीले फूलों के पास हरी घास पर/मैं एक भाव की हत्या कर आया हूँ/" [गर्म हवाएं]

ये कुछ नमूने हैं जो सर्वेश्वर की रंग-चेतना के बिम्बों को प्रस्तुत करते हैं। नये कवियों में अज्ञेय, सर्वेश्वर और गिरिजाकुमार माथुर तीन ही ऐसे कवि हैं जिनकी कविताएँ रंगों में चमकती हैं; ध्वनियाँ सुनाती हैं और अपनी गंध से पाठक की घ्राण चेतना को भी गहरे छू लेती हैं। सर्वेश्वर का रंग बोध जितना साफ है उतने ही स्पष्ट उनके घ्राण बिम्ब भी हैं। चंद पंक्तियाँ देखिये —

"जली हुई बारूद-सी एक तीखी गंध हर ओर से मेरा पीछा करती है/" ..

"लखनऊ : शृंगारदान में पड़ी/एक पुरानी खाली इत्र की शीशी/जिसमे अब महज उसकी कार्क पड़ी सड़ रही है/" प्रार्थनाघरों के घंटे तक/जंगली जानवरों की तरह/दुर्गन्ध सूँघते मिलते हैं/" [एक सूनी नाव]

"मैं अब भी सौंधी महक-सा/तपी मिट्टी से उठना चाहता हूँ/ [बाँस का पुल] ...."पूजाघरों से आती सुगंधि/जलती लाशों की चिरायंध में बदल जाती है/" "नथुने से दिमाग तक/रेंगती है गंध/कैद हवा की/.... [जंगल का दर्द]

कहने का तात्पर्य यही है कि सर्वेश्वर की कविताओं में ऐन्द्रिय बिम्बों की भी लम्बी शृंखला मिलती है। वस्तुत: सर्वेश्वर के बिम्ब मन पर गहरी छाप इसलिए छोडते हैं कि उन अनुभवों का ससार बड़ा ही समृद्ध है और उसे संप्रेषित करने के लिए उनके पास एक सार्थक समझ की भाषा है। आज हम जिस सांस्कृतिक विघटन को महसूस कर रहे हैं उसमें सहजता और शिशुपरक निश्छलता के लिए अवकाश कम ही है, किन्तु सर्वेश्वर तो आस्था, जिजीविषा और मूल्यों के कवि हैं। अत बावजूद विघटन और भयावह परिवेश के उनकी कविताओं में निश्छलता, पावनता और सहजता को मूर्तित करने वाले बिम्ब भी मिलते है : "पेड़ों के झुनझुने बजने लगे/लुढ़कती आ रही है/सूरज की लाल गेंद/उठ मेरी बेटी सुबह हो गयी/"…… तूने थपकियाँ देकर/जिन गुड्डे गुड़ियों को सुला दिया था/वे टीले मुँह रंगे आँख मलते हुए बैठे हैं/गुड्डे की जरतारी टोपी/उल्टी नीचे पड़ी है : छोटी तलैया/वह देखो उड़ी जा रही है चूनर/तेरी गुड़िया की :झिलमिल नदी/उठ मेरी बेटी, सुवह हो गई"/.[बाँस का पुल] "बहुत सँभल कर मैं अब भी जाता हूँ/नरसल की हरी छड़ियाँ काट कर लाता हूँ/उनसे लिखने की कलमें बनाता हूँ/" [कुआनो नदी] "चीटियाँ अंडे उठाकर जा रही हैं/और चिड़ियाँ नीड़ को चारा दबाये/थान पर बछड़ा रँभाने लग गया है/टकटकी सूने विजन पथ पर लगाये/थाम आँचल, थका बादल रो उठा है है खड़ी माँ शीश का गट्ठर गिराये/" [काठ की घंटियाँ] कतिपय स्थलों पर मानवीय करुणा और सहानुभूति को प्रकृति के साहचर्य से संश्लिष्ट और काव्यात्मक बिम्बों में बाँधा गया है। इस तरह के बिम्बों के उदाहरण तो बहुत है पर स्पष्टीकरण के लिए ये काफी है। पहले बिम्ब में गरीब सुबह है तो दूसरे मे थकी शाम है :

1 "पीठ पर भारी डोकों में मूलियाँ भरे/झुकी हुई गरीब सुबह/
पहाड़ी ढाल पर उतर रही है/छपाक—कुछ गिरा/पता नहीं
पत्थर, आदमी या सूरज/" [एक सूनी नाव]

2 "शाम रोज थके मुसाफिर सी/बस के अड्डे पर उतरती है/
कच्ची सड़क के हिचकोलो से अपनी कमर पकड़े/
धूल–धूसरित/और हर बार तेलही मिठाइयों और पकौड़ियों के
बीच/पच्चीस साल से लाठी टेकती ललचाती
पागल बुढ़िया में बदल जाती है/ [कुआनो नदी]

अप्रस्तुत और संप्रेषण

यह निर्विवाद है कि कवि अपने अनुभूत का प्रेषण चाहता है। प्रेषण को यथा-सभव सुकर, सुबोध और प्रभविष्णु बनाने की कामना कवि की रहती ही है। सामान्य व्यक्ति तो अपनी बात सिर्फ कहता है पर कवि अपने कथन में चारुता लान और

कथ्य के संप्रेषण के लिए अप्रस्तुतों का प्रयोग करता है। प्रस्तुत को प्रकाशित करने के लिए नियोजित शब्द-विधान उपमान या अप्रस्तुत कहलाता है। अप्रस्तुत अर्थ को प्रकाशित करने में वही काम करते हैं जो किसी काई लगे धातुफलक के आलेख को प्रकाशित करने में मार्जनोपकरण करते है। यदि यह समझ लिया जाय कि 'काव्य-भाषा' में मितव्ययिता लेकर आता है तथा मिताक्षरता को महत्व देने वाला काव्य गद्य की शैली में अपना व्याख्यात्मक विन्यास नहीं कर सकता है तो यह भी समझ मे आ सकता है कि उसकी परिमितियों की पूर्ति जिन शब्दों से होती है; वे ही उपमान कहे जाते हैं। ये अप्रस्तुत (उपमान) कविता में रसार्द्रता, प्रभविष्णुता मर्मस्पर्शिता तो लाते ही हैं; कवि के अनुभव-लोक को पाठकीय चेतना तक संप्रेषित करने में भी अपरिहार्य योग देते हैं। नयी कविता अप्रस्तुतो की दृष्टि से पर्याप्त समृद्ध है तो उस समृद्धि का एक बहुत बड़ा अंश 'सर्वेश्वर' के काव्य में सुरक्षित है। प्रकृति सौन्दर्य, प्रेम; मानव-सम्बन्ध और समकालीन परिवेश के यथार्थ को निरूपित करने वाले सर्वेश्वर की कविताओं में आये अप्रस्तुत सभी क्षेत्रों से लिये गये है। दैनिक जीवन और समकालीन परिवेश से उठाये गये ये अप्रस्तुत कवि की मौलिकता; सद्यता और जागरूक चेतना के सबसे समर्थ सार्थवाह हैं। यद्यपि पिछले विवेचन में—भाषा, बिम्ब और प्रतीकों के निरूपण में अनेक उदाहरण ऐसे आ गये है जो कवि की अप्रस्तुत योजना को स्पष्ट कर देते हैं परन्तु उनका वैशिष्ट्य अनुद्घाटित ही रह गया है। अतः यहाँ कुछेक उदाहरणों से यही प्रगट किया गया है और बतलाया गया है कि ये सप्रेषण की बहुत बड़ी शक्ति क्यों हैं ?

1. "हर क्षण गहन होती हुई निराशा/ताल के जल-सी सामने फैल जाती है"/ [बाँस का पुल]
2. "आकाश की डाल से/संध्या के रंगीन साँप झूलते हैं/राह सीढ़ी-सी खड़ी हो जाती है/" [बाँस का पुल]
3. "वनपथ पर गिर पड़ी हैं/वृक्षों की छायाएँ शहतीर-सी/वह देखो एक तारा/झाड़ियों में दुबके खरगोश-सा झाँकता है/ "मखमल के झूल पड़े हाथी-सा टीला/" ......"मैं अब भी सौंधी महक-सा/तपी मिट्टी से उठना चाहता हूँ, आँधी में पके आम-सा गिरना चाहता हूँ/" ....."हर क्षण—मरी हुई मछली के मुख-सा खुला हुआ है/हर स्थिति–टूटी हुई सीढ़ियों-सी जल मे डूबी हुई है." [बाँस का पुल]
4. 'अक्सर रात चींटी-सी रेंगती आती है अक्सर एक हँसी/ठंडी हवा-सी चलती है, अक्सर एक दृष्टि/कनटोप-सा लगाती है/अक्सर एक बात, पर्वत-सी खड़ी हो जाती है/"........'चाँद सा अपना अतीत/बिजलियों-सा भविष्य टपाटप गिरती बूँदों-सा वर्तमान/"......"समय एक विशाल पहिये-

सा/लुढ़कता हुआ आता है/"......रोशनी-राख-सी/जल में घुली, बह गयी/भीगते अवसाद-सी/हवा श्लथ हो गयी/हथेली की रेख काँपी/लहर-सी खो गई/"......"ताश के पत्तों की तरह कब तक फेंटता रहूँ विश्वास/"...
"सारा अस्तित्व रेल की पटरी-सा बिछा है/हर क्षण धड़धड़ाता हुआ निकल जाता है/" [एक सूनी नाव]

"भरी हुई बोतलों के पास/खाली गिलास-सा/"...... लोकतन्त्र को जूते की तरह/लाठी में लटकाये/......"दौड़कर पार भी करना चाहता हूँ/चीथड़ों-सी पड़ी इस धरती को/"......स्तब्ध है आयु—एक फेंका हुआ पत्थर जैसे/आकाश में ही रुक गया हो/"... [गर्म हवाएँ]

"बच्चे जिनकी आँखें अँधेरे में जलती मिट्टी के तेल की ढ़िबरियों-सी दिखाई देती हैं/" ......'शब्द दम तोड़ती मछलियों की तरह/उलट कर अर्थहीन हो जाते है/"......"क्यारियों की नम भुरभुरी मिट्टी में पड़ी/ठंडी खुरपी-सी जिन्दगी/"......"मैं शब्दों को संदूक की तरह/मेज पर कुर्सियाँ और कुर्सियों पर चारपाइयाँ रखकर जमाता हूँ/"...... "भाड़ के सामने काली भूतनी-सी/आज भी वह बैठी है/"......"साँप के बच्चे होने का भय खाने के साथ एक उदास संगीत-सा/"... 'सारा देश एक ठंडे भाड़-सा दीखता है/"......"सूने बरामदे में वर्णमाला की/फटी हुई किताब-सी/एक पिचकी गेंद/हवा में उछलती है/"......"एक गलीज मुख में/ईश्वर का नाम/झिझौंडे ठंडे गोश्त-सा/"......हम मानव-सभ्यता को/क्यारियों की तरह निराते हैं/"...[कुआनो नदी]

"थर्मामीटर के पारे-सी/जिसमें भावनाएँ चढ़ती उतरती हैं/अखण्ड कीर्तन की/थकी हुई स्पष्ट धुन-सी/जिसकी जिन्दगी है/"... "किसी रिकार्ड-सी जो स्वयं घूम जाती है/"......"आपरेशन थियेटर-सी/जो हर काम करते हुए भी चुप है/भारी पीले फूल-सी/जो डाल पर झुक गयी है/"......प्यार का नाम लेते ही/बिजली के स्टोव-सी/जो एकदम सुर्ख हो जाती है/"...
"देखो पसीना/सितारों-सा छलक आया है/"......"मैं किसी पूजा-गीत की पवित्र कड़ी-सा बन जाऊँ/"......"कौन कह रहा, बनजारों-सा यह जीवन बेकार है/"......साँझ हो गई—जहरीले नीले अजगर-सा/धुआँ निकलने लगा/" [काठ की घंटियाँ]

"फिर भी स्मृतियाँ/आग की तरह धधक रही हैं/जैसे वर्फ में मशाल लेकर/कोई जा रहा हो/"......"शब्द जिन्हें मैं वर्फ की सिल्लियों पर/अकेली चींटी-सा चला ले जाता था' 'निराशा की ऊँची काली दीवार में भी/

बहुत छोटे रोशनदान-सी/जड़ी रहती है कोई न कोई आकांक्षा/"........एक रंग भरी कूँची की तरह/मैंने खुद को तुम्हारे हाथों में दे दिया/"........ "तुम्हारी मुस्कान/कोहरे से छनकर नहीं/सीधी धूप-सी आती है/"........"तुम मेरे अनंत नील को इन्द्रधनुष-सा लपेटकर/मुझमें विलय हो जाओ।"........ "इस थके मस्तिष्क में मेरी पराजय/छिपकली-सी पग दबाए चल रही है/" [जंगल का दर्द]

इन अप्रस्तुतो को गहरी नजर से देखें तो दो तीन बातें साफ हैं : पहली बात तो यह है कि सर्वेश्वर का अनुभव विशाल है। उनकी जीवन-संपृक्ति गहरी है। यही वजह है कि उनके अप्रस्तुत सटीक, सार्थक, सादृश्य के सूचक और काव्यानुभवों को संप्रेषित करने की पूरी योग्यता रखते हैं। प्रेम, सौन्दर्य, समकालीन यथार्थ और सामाजिक, राजनैतिक परिवेश कोई भी क्षेत्र ऐसा नहीं जो कवि की दृष्टि के गोलक से न रहा हो। दूसरी बात यह है कि इन अप्रस्तुतों में जिन्दगी की साँस–साँस के हिसाब को सप्रेष्य बनाने की शक्ति निहित है। जीवन की कोख से उत्पन्न ये अप्रस्तुत सहज, विश्वसनीय और साधर्म्य-सादृश्य के गुण से वलयित होकर समूचे वर्ण्य-संदर्भ को बिम्बों में बाँधने की क्षमता रखते हैं। बातचीत की शैली में जैसे कोई गहरी बात कह दे, वैसे ही ये अप्रस्तुत पाठकों के आत्मीय बनकर उनसे बतियाते चलते है। इनमें बिम्बोद्भावन की अद्भुत क्षमता है। इनसे वह रोशनी झाँकती है जो किसी रोशनदान से कमरे में सीधी उतर आती है। इनमे उल्लास, आकांक्षा, सम्मोहन, अवसाद, जीवनव्यापी विसंगतियों–त्रासदियों और परिवेश व्यापी जीवन को मूर्तित करने का गुण इतना स्पष्ट है कि कवि की प्रतिभा का कायल होना पड़ता है। तीसरी महत्वपूर्ण बात यह है कि सर्वेश्वर ने अप्रस्तुतों को हर कहीं से बीना नही है। वे कवि के अनुभव-संसार को संप्रेषित करने के लिए उसी रूप में आये हैं जिस रूप में उनकी आवश्यकता होती है। सद्यता, मौलिकता और औचित्य इनमे भरपूर है। कोई भी अप्रस्तुत बासी और घिसा हुआ नहीं है। ऐसी स्थिति में यह कहना अनुपयुक्त न होगा कि सर्वेश्वर के पास कथ्य-संप्रेषण के जो माध्यम हैं, उनमें अप्रस्तुत अपनी चारुता, ताजगी, यथार्थपरता और बिम्बधर्मिता के कारण नयी कविता के सृजन में पर्याप्त प्रभावी हैं।

और अन्त में

सब कुछ कहने के बाद यही कि नयी कविता की उपलब्धियों के बही खाते मे अब तक जो भी पृष्ठ भरे गये हैं और उन पर जो जो लिखा गया है; उनमे सर्वेश्वर को अज्ञेय से किसी भी हाल में कम पृष्ठ नहीं मिले हैं। नयी कविता की पहचान, परख और उपलब्धियों में सर्वेश्वर की जगह काफी ऊँची है। उनका प्रदेय न केवल के सम्यक और प्रभावी अ मे है अपितु जन भाषा

को अनुभव की भाषा बनाने, पारम्परिक आभिजात्य को तोड़कर नया सीधा सरल और आत्मीय लिखने; जीवन की छोटी से छोटी स्थितियों को करीब से देखने-समझने और कविता में ढालने; व्यर्थ के शब्दाडम्बर व आरोपित शिल्प से कविता को बचाने, दमघोंटू वातावरण मे निरन्तर अर्थहीन होते जाते मानव और जीवन को मूल्योन्मुख करने तथा सांस्कृतिक बोध को उजागर कर नयी कविता को विकास की सही-सशक्त शृंखला के रूप में रखने में भी है। वर्तमान जीवन भले ही खण्डित मूर्तियों और टूटे खिलौनों से भरा हुआ हो; पर सर्वेश्वर उसके इस रूप को अपना कर भी पाठकीय चेतना में एक जीवनास्था; मूल्यास्था; और जिजीविषा का बिम्ब जगाते हैं। माना कि जीवन में सब कहीं नकार ही नकार है; त्रास ही त्रास है; टूटन घुटन ही है; किन्तु क्या ऐसा मानने से जीवन चल सकता है? नहीं न! फिर यदि ऐसा हो भी तो क्या सम्भावनाएँ भी समाप्त हो गई है? नहीं, ऐसा नहीं है। इसी वजह से सर्वेश्वर सब कुछ सहकर, सब तरह खटकर भी यही मानते-मनवाते हैं––

> संभावनाएँ निरन्तर हैं :
> जिन्दगी की खोज, जो रचना है/रचना जो सार्थक करती है/
> महत्वाकांक्षा नहीं/जो दूसरों को छोटा करने से ही पनपती है"/

———